

प्राकृत भारती पुष्प २६

अपभ्रंश और हिन्दी

□

डॉ० देवेन्द्र कुमार शर्मा

□



राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

© प्रकाशकासीन

- अपभ्रंश और हिन्दी
- प्रकाशक : देवेन्द्र राज मेहता
सचिव, राजस्थान-शाकृत भारती संस्थान, जयपुर
- मुद्रक : जयंता प्रकाशन, जयपुर
- प्रकाशन वर्ष १९८३
- मूल्य : तीस रुपये
- प्राति-स्थान : राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान,
३-२६ बति रामलाल जी का उपासना,
भोलीसिंह भीमिया का रास्ता,
जयपुर—३०२००३

APBHRANSH AUR HINDI—Dr. Devendra Kumar Jain
Price—Rs. 30/-

स्वर्गीय आचार्य ईशानप्रसाद सिध
[कृत कार्य अत्यन्त, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय] को
१९५० में मिले अपनी पुस्तक—
‘अपन्न’ का प्रकाश सम्पित की थी,
और,

भाब, ३३ वर्ष बाद भी, यह पुस्तक
उनकी स्मृति की
सम्पित करते हुए मैं
अपने भी कृत कृत्य
अनुभव करता हूँ।

—देवेन्द्रकुमार शंभ

प्रकाशकीय

प्राकृत भारतीय संस्थान के छात्रोंको पुस्तक के रूप में 'अपभ्रंश और हिन्दी' पुस्तक की पाठकों के हाथ में देने हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का अत्यधिक योगदान रहा है। अपभ्रंश का एक युग हो रहा है जिसका प्रतिकलन अविद्यमान प्राचीन भाषाओं के रूप में गानकार हुआ। अपभ्रंश का युग उन्नीसवीं शती के अन्त तक रहा। यों अपभ्रंश पर व्याकरणिक दृष्टि से विचार इसके बहुत पहले बरतचि ने प्राकृत प्रकाश में किया था। द्वैपचन्द्राचार्यो ने सर्वप्रथम प्रामाणिक रूप से संस्कृत और प्राकृत की समकक्षता में अपभ्रंश पर विचार किया। उनकी सिद्धहेम शब्दानुशासन इस दृष्टि से तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का प्रामाणिक ग्रन्थ है।

अपभ्रंश का महत्त्व तो है ही; उन्नीस रचित साहित्य भी कम महत्त्व-युक्त नहीं है। हिन्दी साहित्य का विकास अपभ्रंश से मिली हुई अविद्यमान परम्पराओं का अनुवर्तन करते हुए ही हुआ है। यह ग्रन्थ इस विकास-यात्रा की खोजने का प्रयास है। इस ग्रन्थ की रचना हिन्दी और अपभ्रंश के जड़-भट्ट विद्या जी० देवेन्द्रकुमार जीन ने की है। डॉ० देवेन्द्रकुमार का अपभ्रंश भाषा और साहित्य से सम्बन्ध शोध ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। जिसमें उन्होंने अपभ्रंश विषयक अनेक प्रामाणिक शब्दावली का तद्व्यपेक्षक दृष्टि से स्पष्टीकरण और अर्थगत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी अपभ्रंश और हिन्दी के सम्बन्ध को नई आधार-भूमि देने का प्रयास है।

'अपभ्रंश और हिन्दी' में लेखक नये तथ्यों को प्रस्तुत करते हुए दोनों के सम्बन्ध की नई व्याख्या की है। अपभ्रंश की अनेक कृतियों के कुछ अर्थ भी पुस्तक में सङ्गृहित हैं। जिससे अपभ्रंश में रुचि रखने वाले छात्रोंको को पर्याप्त सोचने-विचारने की प्रेरणा मिलेगी।

सच्चेता प्रकाशन ने पर्याप्त कठिनाई के बावजूद इस पुस्तक का मुद्रण किया है, एतदर्थ डॉ० बद्रीप्रसाद वृचोली की धूमिल-सन्ध्यावाद।

म. विनयनागर
संपुक्त सचिव

देवेन्द्रराज सिंह
सचिव

राजकप टांक
सदस्य

राजस्थान प्राकृत भारतीय संस्थान, जयपुर

लेखकीय निवेदन

निम्नलिखित तीन दशकों में धर्मग्रंथ भाषा और साहित्य पर बहुत कार्य हुआ है; परन्तु उसे पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। उसके दो कारण हैं, एक तो प्रारम्भ से ही धर्मग्रंथ के अध्ययन में पूर्ण आस्थाएँ रही हैं, दूसरे उसे क्षेत्रीयता और सम्प्रदायिकता से सम्बद्ध करके देखा गया। छात्रोन्मत्त साहित्य साम्प्रदायिक धार्मिक है या नहीं वह प्रलय प्रण है; लेकिन धर्मग्रंथ की साम्प्रदायिक भाषा कहना उसके साथ ज्यादती करना है। जोका और साहित्य में अनिच्छित सम्बन्ध इसलिए है क्योंकि दोनों का आधार प्रवृत्ति है और प्रवृत्ति नष्ट भूल भाव है। धर्म का मुख्य काम मानव प्रवृत्तियों को संतुलित कर उन्हें स्वापक स्वरूप प्रदान करना है। इसलिए जो लोग धर्म-विरुद्ध या प्रतिबद्ध साहित्य की नकालात करते हैं वे भूलते हैं कि त्यागक जीवन-दृष्टि के प्रभाव में प्रतिबद्धता धर्म-केन्द्रित या विचार-केन्द्रित होकर कठमुशलापन की बरतवा देती है। चाहे वे विचार पुरानी धर्म्यात्मिकता पर आधारित ही या नई सामाजिकता पर।

धार्मिकता की प्रचुरता का अर्थ यह नहीं है कि साहित्य मानवी प्रवृत्तियों से दूर है, उसके बिना, उसकी रचना हो सम्भव नहीं है। मनुष्य की मूल प्रवृत्ति, जिजीविषा (जीने की इच्छा) है, जो चेतना का लक्षण है। मनुष्य जीना चाहता है, मुख्यपूर्वक जीना चाहता है और अन्ततया तक जीना चाहता है; लेकिन जब अपने दूर बर जिजीविषा को मोत से पराजित होने देखा तो वह उन प्रयत्नों की खोज में लगता कि जिससे मोत को जीता जा सके। मुक्ति, निर्वाण, मोक्ष, बैकुण्ठ इसी जिजीविषा की अन्तिम परिणति है। अतः दूसरे भारतीय साहित्यों की तरह धर्मग्रंथ साहित्य भी इसी अर्थ में धार्मिक साहित्य है कि वह मानवी प्रवृत्तियों के बीच, एक निश्चित प्रतिया के द्वारा जीवन के अन्तिम लक्ष्य की ओर इंगित करता है। अतः यह सोचना सही नहीं है कि छात्रोन्मत्त साहित्य में निवृत्ति और वैराग्य का स्वर प्रबल है। 'धर्मग्रंथ रसात्मक साहित्य' या 'धर्मग्रंथ में रसात्मक साहित्य' जैसे लेख ऐसे ही संशयपूर्ण विद्वानों की प्रतिक्रियाएँ हैं।

यह सोचना भी कम ज्ञानक नहीं कि साहित्य की भाषा और बोलचाल की भाषा अलग होती है। यूरोप के भाषाविदों की कुवा से भारतीय भाषाविदों ने इसे वैज्ञानिक गत्य के रूप में स्वीकार कर लिया है। यूरोपीय भाषाविदों नाकरनामान का कहना है कि वैदिक युग में कई बोलियाँ थीं और आज पिपसन भी कहते हैं कि ये बोलियाँ धर्मग्रंथ थीं। उछर विशेष का कहना है कि सभी प्राकृतों का मूल संस्कृत की नहीं भाषा जा सकता; लेकिन दग्नेने यह नहीं बतौया कि कोन-सी प्राकृत संस्कृतमूलक है और कोन तो संस्कृतमूलक नहीं है। अर्थे बरसे

तक यह विवाद भी चलता कि 'अपभ्रंश' एक कृत्रिम साहित्य भाषा थी जिसका लोक-जीवन में कोई अस्तित्व नहीं था और अब से विप्लवन ने प्रथमक प्राथमिक भारतीय प्रारम्भभाषा और बोली के भूत में किसी व किसी अपभ्रंश को कल्पना की है, जब से अपभ्रंश की दुहाई दी जाने लगी है। विप्लवन के सिद्धांत को धार्मिक भूँदकर मान लेने का परिणाम दुःखतमा पड़ा है 'अड़ी बोली' को, जिसे जयवंतरी कीरवी बोली मिद्ध किया जा रहा है, जिससे उसके उद्भव और विकास का वैज्ञानिक विश्लेषण सम्भव नहीं हो पा रहा है। १९२० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी एम० ए० में 'अपभ्रंश' मेरा एक प्रश्न-पत्र था, तब से मैं किसी त कियो खब में अपभ्रंश स जुडा रहा हूँ। एम० ए० की अध्ययन सामग्री को - पुस्तक का कलेवर देते हुए १९२० में मेरी धारणा थी कि अपभ्रंश का अधिकतर प्राय गुजराती में है; लेकिन खब मेरी स्पष्ट धारणा है कि अपभ्रंश भाषा और साहित्य की मूल और केन्द्रिय प्रवृत्तियाँ जितनी स्पष्टता और समप्रता से हिन्दी साहित्य में सुरक्षित हैं उतनी कितनी दुसरी प्राथमिक भारतीय प्रारम्भभाषा साहित्य में नहीं। हालांकि दोनों की इस पहचान की अभी परिभाषित नहीं किया जा सका है। १९२० में मेरी 'अपभ्रंशप्रकाश' पुस्तक प्रकाशित हुई थी, १९२६ में मैंने 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की, जिसे पुस्तक के रूप में १९६० में भारतीय ज्ञानपीठ ने प्रकाशित किया। इस बीच डॉ० नामवर सिंह की 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान' पुस्तक प्रकाश में आ चुकी थी। स्व० प्रो० लक्ष्मी प्रसाद द्विवेदी अपभ्रंश के बारे में पसंद थे, १९२१ में जब वे उत्तराखण्डविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष बनकर आए, तब मैं एम० ए० कर चुका था। डॉ० नामवर प्रतिम सर्व में थे। आचार्य द्विवेदी अपभ्रंश की प्रालाधारिता की निरन्तरता को हिन्दी साहित्य में देखने-बिखाने की चेष्टा में लगे रहे। उनके जीवनकाल में और बाद में भी डॉ० नामवर ने अपने दूरदिकेयु से उक्त विचार को धारण कराया। इस पुस्तक में कहीं-कहीं उनके मर्गों की ओ समीक्षा है वह वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने के लिए है ताकि किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके। अपनी मूल रूपरेखा से लेकर वर्तमान रूप तक इस पुस्तक में कई आकार ग्रहण किए, कई संशोधन बदलीं, इन्दी और जयपुर की परिक्रमाएँ की हैं। पुस्तक के संशोधित आकार की पाबन्दी ने भी कहीं-कहीं उसे सश्लि होमे के लिए विवश किया है। कुल मिलाकर यह फायदेबंद रहा क्योंकि यह जमाना, मशी-भरकम पुस्तकें, (ये भी भाषा विज्ञान और अपभ्रंश जैसे कुछ विषयों की पुस्तकें) बढ़ने का जमाना नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक, "अपभ्रंश भाषा और साहित्य" पर अकादम्य अग्रिम निष्कर्ष पर पहुँचने का दावा नहीं करती; पर धारण धारण अक्षययन पदि ऐसा दावा करना चाहें, तो वे इसकी अपेक्षा मरके ऐसा नहीं कर सकते। पुस्तक पूर्ण-ग्रहों से मुक्त है चाहे वे पुराने हों या नए। मैं भाषा और विचार को एक गतिचोड़

प्रवाह के रूप में देखता हूँ। यशः इसमें दूर बात को खुलेपन से, वस्तुनिष्ठ होकर परछाये की धोखा की गई है। मैं नहीं जानता कि मैं राजस्थान प्राकृत शोध संस्थान के सचिव माध्व देवेन्द्रराज जी मेहता की किम लावों में क्या हूँ? संस्थान के संयुक्त सचिव श्री प० विनयसागर का मैं प्रत्यक्ष अनुभूति हूँ बिनाहीमे पुस्तक को वर्तमान प्राकार देने में काम आन नहीं किया। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक, शोध संस्थान से मेरे सम्बन्ध की एक कड़ी सिद्ध होगी। स्थित विद्वानों के विचारों का लाभ इस पुस्तक में प्रतिबिम्बित है—उनके प्रति कृतज्ञ हूँ और उनके प्रति भी, जो इस श्रम की साक्ष्यता देंगे।

साहित्य विवास

११४, लुधानगर

इन्दौर—४५२००९

देवेन्द्रकुमार जैन



विषय सूची

अध्याय १—अपभ्रंश क्या है ?	पृ०
१ अपभ्रंश और अपभ्रंश	१
२ आभीरोक्ति और अपभ्रंश	१-२
३ संस्कृत श्रियाकारण और अपभ्रंश	२-३
४ अपभ्रंश और देशी	४
५ उदात्तित लज्जागरण	६
६ अपभ्रंश युग्म	७
७ सिद्धार्थ का विभाजन	८
अध्याय २—ध्वनितंत्र	
१ ध्वनि, धर्ण माला	९
२ वृद्धि स्वर	९
३ अपञ्जन परिवर्तन, धर्मस्वर व्यञ्जन लोप, स्वरौभवन	१०
४ य् और व् श्रुति, वद्वृत्त स्वर, महाप्राणत्व, घुमंन्यभाव, अ ल का विनिमय	११
५ ध्वनि परिवर्तन की दिशाएँ	१२
अध्याय ३—शब्द तन्त्र	
१ पद रचना, विभक्तियाँ और वचना	१४
२ शब्द रूप	१५
३ साधारण द्वैतवन्ध के रूप	१६
४ तादर्थ्य शब्द	१७
५ सम्बन्ध वाचक प्रत्यय	१७
६ विभक्ति विनिमय	१८
७ लिंगविचार	१८
८ भाव वाचक प्रत्यय, स्वाधिक प्रत्यय, सर्वनाम	१९
९ भूत निर्देश	२१
१० संज्ञा वाचक शब्द	२१
११ भिन्नार्थक संज्ञा शब्द	२३
१२ समुद्ध संज्ञा वाचक शब्द	२४

अध्याय ४—शाब्दात्म (क्रिया)

१ शाब्दात्म (क्रिया)	२५
२ संयुक्त क्रिया वा विद्युक्त क्रिया	२६
३ शुद्ध	२६
४ पूर्वकालिक क्रिया	२७
५ देसो धातुएँ	२७

अध्याय ५—युग और साहित्य

१ सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ	३२
२ साहित्य	३२
३ अंम काव्य और प्रोसाइयानक काव्य	३४
४ खण्ड काव्य	३५
५ रासो काव्य	३६

अध्याय ६—कवि परिचय

१ स्वयंभू	३७
२ पृथ्वीदत्त	४०
३ धनवास	४३
४ कमलामर	४४
५ छाहिल	४५
६ हरिभद्रभूरि	४५
७ चन्द्रहमान	४७
८ जोधन्दु	४८
९ मुनि रामसिंह, सखि काव्य	४८
१० तुर्जर काव्य	४९
११ निनचत्तभूरि	५०

अध्याय ७—वस्तु वर्णन

१ मगध बरौन	५२
२ गौपाल बस्ती	५२
३ किरिकछा का बाजार, स्वयंभूर	५३
४ विभिन्न देश की महिलाएँ	५४
५ नव गिथ वर्णन	५४
६ चरित्राँ	५५

अध्याय ४—प्रकृति चित्रण

१ प्रकृति चित्रण की विधाएँ	५८
२ जल-श्रीकृष्ण, वन-श्रीकृष्ण	५९
३ घोष्य और पावस	५९
४ नारी और प्रकृति	६०
५ मन्दन वन, जीवन वन	६१
६ प्रकृति की प्रतिक्रिया	६१
७ पक्षी और प्रकृति	६२
८ प्रभात का सूर्य, सन्ध्या का सूर्य	६२
९ सन्ध्या और रात्रि	६३
१० हेमन्त और वसन्त का हस्त	६३
११ वसन्त राधा का स्वागत	६४
१२ अलंकृत चित्रण	६४
१३ प्रकृति और दार्शनिकता	६४

अध्याय ९—छन्द शैली

१ पद्यविधा/कड़वक/वर्णन	६७
२ पद्य छहृणियाँ	६८
३ रासाङ्ग	६८
४ भक्ति	६९

अध्याय १०—रस और अलङ्कार

१ अलङ्कार कवियों का भाषा विषय पर दृष्टिकोण	७३
२ अलङ्कार	७४
३ ओर	७८
४ रीति, कीर्तन	७९
५ कथन	८०
६ धातुसन्ध	८१
७ अलङ्कार	८२
८ लोकोक्ति, लोक नीतियाँ, मुहावरें	८५

अध्याय ११—

काव्य रुढ़ियाँ, कथानक रुढ़ियाँ	८७
--------------------------------	----

अध्याय १२—

मुक्तक काव्य	११
--------------	----

अध्याय १३—

१ मूल्याङ्कन १ : (भाषा)	१००
हिन्दी, ब्रज, अवधी, संस्कृत; प्राकृत, कौरवी, खड़ी बोली, खड़ी बोली की व्युत्पत्ति, खड़ी बोली के नाम, ब्राह्मण और साहित्यिक सर्वनाम, विद्यसेनः और हिन्दोत्वानो	
२ मूल्याङ्कन २ : साहित्य	११६
३ मुक्तक काव्य	१२०
४ ऐहिक मुक्तक	१२०
५ नामकरण	१२१
६ प्रवृत्ति और प्रारुधारा	१२१
७ एक प्रबन्ध	१२३
८ विभिन्न प्रकृति के भाव	१२५
९ श्रान्ति की लहरें समाज का अग्रदूत	१२४
१० प्रवृत्ति और प्रारुधारा	१२४

परिसिद्ध :

१ कवि उदयचन्द्र और उनकी मुगलसमय की कथा	१२६
२ कवि साधारण एवं उनकी गिलासबर्दी कथा	१२७

काव्य सङ्कलन :

१ सरहदाय	१२९
२ जोहन्नु	१३०
३ भुनि रामसिद्ध	१३२
४ प्रथमूल रत्नमान	१३३
५ सिद्ध हेम जन्मानुशासन	१३६
६ पुष्पदन्त :	
आत्म विनय	१३८
बाहुशक्ति का दूत को उत्तर	१३९
दूत का भरत से प्रतिवेदन	१४०
दन्त युद्ध, जल युद्ध	१४१
७ घनपाल : भविसयल कथा	१४५

(ऐ)

८ लवणचक्र : सुगन्धयुक्ती कथा	१६९
९ कविताम : विलासमई कथा	१७४
१० राजमती प्रसंग	२११
११ स्वयंभू (पञ्चमचरित)	२१५
सीता निर्वासन और प्रतिक्रिया	२१५
निर्वासन और सीता का आत्मसंभोग	२१६
रामसीता संवाद	२१६
१२ स्वयं (पञ्चचरित)	२१८
रामसीता संवाद	२२०
१३ रिट्टुणमिचरित-आरिष्टनेमिचरित	
दीपक चक्र	१२२

परिमिष्ट १ :

परिमिष्ट २ :

अपभ्रंश क्या है ?

१ अपभ्रंश और अपभ्रन्द :

भाष्यकार पतञ्जलि का कहना है कि शब्द धीरे-धीरे, अपभ्रन्द बहुत है। एक शब्द का बहुत अपभ्रंश होते हैं। जैसे गो—इस शब्द के बाघी गोरों कोता और गोपीतजिका। यह यथन जन्म शब्दों के सन्दर्भ में है जो संस्कृत-मूलक हैं। उक्त अपभ्रन्दों में जो शब्द मूल में हैं। पतञ्जलि ने अपभ्रन्द और अपभ्रंश का प्रयोग समान प्रसंग में किया है। इसका अर्थ है कि हर अपभ्रंश हर समय अपभ्रन्द नहीं है, और व अपभ्रंश होने में वह श्रायंभाषितर मन्द है। उक्त अपभ्रंश शब्द संस्कृत के जिह्व अपभ्रन्द है, दूसरी भाषाओं के लिए नहीं। भाष्यकार का उक्त कथन एक वैज्ञानिक अर्थ में है, इसमें अपभ्रंश शब्दों के प्रति अवमानना व्यक्त करने का प्रश्न नहीं उठता। अपभ्रंश या अपभ्रन्द व्यापारिक नहीं है। यह केवल संस्कृत ही नहीं, प्रत्येक भाषा के बारे में सच है। उदाहरण के लिए हिन्दी में 'हीरा' क्रिया के लिए होवेगा, होयगा, होएगा, रूप प्रयुक्त हैं; लेकिन डॉ. तमनधर का कथन है कि पतञ्जलि जैसे शोधवादी मुनि ने भारी भारी शब्दों को अपभ्रन्द जैसे शब्द दिया है इन्हीं प्रकार रथ डॉ. होराभाष्य में का कहना है कि (असह्य परिवर्तन की भूमिका पृ. ३१) वाच्यिक रामायण में जिह्व-अपभ्रंशित कहा गया है, पतञ्जलि ने इसे अपभ्रंश कहा है। आदि रामायण का मूल कथन इस तरह है—

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनन बहुध्रुव श्रुतम् ।

बहुध्रुवहरतानेन न विचिन्वदपभाषितम् ॥

हनुमान ने जिस प्रकार संस्कृत में संभाषण किया उससे प्रभावित होकर राम कहते हैं—'प्रायः इसने संपूर्ण व्याकरण बहुत बार सुना है शर्तों कि बहुत बोलने पर भी इसने अपभाषण नहीं किया।' इससे लगता है कि वाच्यक जाति अपभ्रंश थी, फिर भी सुन-सुनकर उसने कुछ संस्कृत बोलने में यत्नता प्राप्त करली थी। लेकिन अपभाषित और अपभ्रंश में बड़ा फरक है। व्याकरण के नियमों के अनुसार नहीं बोलना अपभाषण है, अपभाषण के कारण जो शब्द अस्तित्व में आ जाते हैं वे अपभ्रंश हैं।

२ आभीरोक्ति और अपभ्रंश :

नादकों में प्रयुक्त होने वाले जाभाषों और बोलियों के सम्बन्ध में आभीरोक्ति का उल्लेख करते हुए भरत मुनि ने उसका उदाहरण दिया है—

मौलिकतः सम्बन्धित—जाचता वृथा मयूर। स्पष्ट है कि यह उकारान्त प्रकृति वाली बोली है। प्रश्न है कि यह एक स्वतन्त्र बोली है, या भारतीय धार्य भाषा की ही एक बोली है। अपभ्रंश के मूल में आभीरोक्त ही है। अपभ्रंश और मैत्री महाराष्ट्री प्राकृत के साथ ही भाषा है, ये बोकारान्त प्रकृतियों को भाषाएँ हैं। उकारान्त प्रकृति के समानान्तर अपभ्रंश में धाकारान्त प्रकृति भी प्रचुरता से मिलती है। इन प्रकृतियों का सम्बन्ध संस्कृत साकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द की प्रथमा विभक्ति से है। रामः सं रामो रामु रामा प्रकृत का विकारात् वृथा। अतः उकारान्तवृथा होने से यह संज्ञा ही नहीं कि यह सार्वभौम भाषा की। अपभ्रंश की वृत्त ही प्रकृतियों में प्राकृत में मिलती है, जैसा कि एच. डी. प्रबोध पण्डित ने लिखा है—'निय प्राकृत में श्रवणियों की श्रुति आकारण तत्त्व अधिक विकसित है, उस पर संस्कृत का प्रभाव नहीं है, संज्ञा के रूप प्रकाशना होने से, अन्तिम व उ श्रु को प्रकाशना कर देते हैं, उमें देखकर अपभ्रंश की भाव आ जाती है। इनमें उकारान्त प्रकृति मिलती है।' छठी सदी के संस्कृत-साहित्य-समीक्षक संस्कृत-प्राकृत के साथ अपभ्रंश साहित्य का भी उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार आभीरों की बोली साहित्य में अपभ्रंश कहलाती है (आभीरविभिः भाष्येणु साभ्रंश इति च्युताः)।

३ संस्कृत वैयाकरण और अपभ्रंश :

अपभ्रंश शब्दों का विचार करते हुए संस्कृत वैयाकरणों का ध्यान संस्कृत शब्दों और बोलियों की ओर गया। आभीरी ऐसी ही एक बोली थी। वैदिक भाषा के समानान्तर पाणिनि ने जब लोकभाषा का व्याकरण लिखा तो वह भाषा संस्कृत नाम से जानी गई। भाषा फिर वृत्तशील होती है और यह प्राकृत तत्त्व से जुड़ती है। साहित्यिक भाषा होने पर उसे प्राकृत कहा गया, प्राकृत की भी वृत्तशील होने पर प्रकृति कहलती है। साहित्यिक के नाम से पहचानी जाने वाली यह बोली अपभ्रंश कहलाती। प्राकृत और अपभ्रंश के सम्बन्ध का विचार करते हुए निय प्राकृत का उल्लेख किया जा चुका है। प्राकृत के भौतिक साधारण पर के कई भेद हैं जैसे—१. उदीच्य (उत्तर पश्चिम की बोली) २. प्रदीच्य (दक्षिण पश्चिमी) मध्य और प्राच्य। सामान्यतः प्राकृत का प्राचीनतम रूप अग्रे के जिलालिखों में उपलब्ध है, निय प्राकृत टीका की प्रकृति वही की प्राकृत है, बौद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' खोनाम की खरोष्ठी लिपि में लिखित है। लिपि विज्ञान का ज्ञान है कि प्राकृत से ही प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति तथा की बोलियों के भीतर जमी

१. धम्मपद योशुद्ध वृथा से एक शब्द भाषा की मिला था। निय प्रदेस की प्राकृत होने पर इस प्राकृत की निय कहते हैं। निय प्रदेश का पुराना नाम चरोत है।

दुर्बल है; परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं है, कि उन बोलियों का आधार क्या है ? क्या ये बोलियाँ स्वतन्त्र थीं या उनका आधार एक समान है ? क्या मूल प्रारंभिक जनबोलियों के कारण प्राकृतों में भवती ? संस्कृत प्रकृति है और उसे विकसित भाषा प्राकृत—क्षेत्रप्रदागत्य के इस कथन का आशय यह है कि प्राकृत, संस्कृत से विकसित भाषा है। नकि साधु का कथन है कि विश्व के सभी प्राणियों का व्याकरणिक संस्कारों से मूल रहन प्रथम व्यापार प्राकृत है। इन परिभाषा के अनुसार लघु-पक्षियों की भाषा को भी प्राकृत मानना होगा। दूसरे, नैयाकरणों द्वारा मिलेवित प्राकृत संस्कृत महत्ताएँ। वस्तुतः संस्कृत, प्राकृत नाम रूढ़ नाम है, उनके आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। डॉ० नामकर का युक्ति है कि प्रारंभिक भाषा के क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए, संस्कृत के पूर्ववर्ती भाषा होने के कारण उसे (संस्कृत को) साहित्यिक प्राकृत की प्रकृति मानने में वैज्ञानिक दृष्टि से कोई बाधा नहीं। प्रश्न है वैज्ञानिक दृष्टि क्या है ? क्या किसी भाषा का पूर्ववर्ती होना ही प्रकृति बनने की एकमात्र शर्त है ? दूसरी बात यह है कि संस्कृत यदि साहित्यिक प्राकृत की प्रकृति है, तो असाहित्यिक प्राकृत की प्रकृति क्या है ? क्या साहित्यिक और असाहित्यिक दो अलग अलग प्राकृतें हैं ? या दोनों एक हैं ? पूर्ववर्ती होने से प्राकृत को अपभ्रंश की प्रकृति मानना होगा ? वैदिक भाषा संस्कृत की प्रकृति होगी ? संस्कृत की प्राकृत की प्रकृति मानने का कारण यह नहीं है कि वह पूर्ववर्ती है, बल्कि यह है कि प्राकृत का नाम संस्कृत के साथ था, रहा है। वह उनके मिलेपन में मान्य भाषा का काम करती है। इसी प्रकार डॉ० नामकर का यह पहना भी टोक नहीं है कि पौरसेनी आदि भेदों से कुछ महाराष्ट्री प्राकृत अपभ्रंश की प्रकृति है। प्रश्न है औरसेनी आदि भेदों से कौन से भेद लिए जाएँ ? दूसरे पौरसेनी आदि भेद, महाराष्ट्री प्राकृत के हैं या प्राकृत के ? भाषा विकास की दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत पौरसेनी प्राकृत का परवर्ती विकास है ? उसका परवर्ती विकास है अपभ्रंश, जो उकारान्त प्रकृति पर अपभ्रंश रूप रचना करती है। जब नमि साधु कहता है कि प्राकृत ही अपभ्रंश है तो उसका अभिप्राय इतना ही है कि मिलेव परिस्थिति में प्राकृत ही अपभ्रंश में बनती है। अपभ्रंश नामकरण शोधन में तो धृष्टा है और न वह अपभ्रंश कवियों द्वारा परिचित नाम है। स्वयंभू और पुण्यधन ने अहह्येचि (अपभ्रंश) का उल्लेख किया है। स्व० गणेश साठुत्यायन ने जो अहह्येचि का अर्थ 'अपभ्रंश' में किया है, वह क्रम के कारण। अहह्येचि अपभ्रंश का पूर्ववर्ती रूप है, जिसका अर्थ है—टूटाकर। इसी प्रकार अहह्येचि अपभ्रंश का अर्थ है, वह नाम उस भाषा के लिए रूढ़ है जिसे उत्तरकालिक

अपभ्रंश कहते हैं और जिसमें १२वीं से १४वीं सदी का साहित्य लिखा गया है। इसी साहित्य, विद्यापति की नीतिलता शीघ्र नीतिपताका भावि रचनाएं इसी के अन्तर्गत आती हैं।

अपभ्रंश के भेद - प्रभेदों के विषय में पण्डितों में मतभेद है। नमि साधु देशविशेष के आधार पर अपभ्रंश के भूरिभेद रबीचार करता है और कहता है कि दूसरों ने इसके उपनागर, आभीर और ग्राम्य - ये तीन भेद माने हैं। मार्कण्डेय ने तीन भेद माने हैं - नागर, आभीर और प्राच्य। अस्तुतः नागर, आभीर और ग्राम्य भेदों की कल्पना के मूल में अपभ्रंश के विकास की तीन भूमिकाएँ हैं। किस प्रकार आभीरोंकि ग्राम्य, उपनागर भूमिकाओं को पारस्पर अपभ्रंश के रूप में स्थापित हुई। नमि साधु अपभ्रंश के भूरिभेद बताकर उस स्थिति का संकेत करना चाहता है जब देश विशेष के आधार पर यह विभक्त हो रही थी। सम्भवतः नमि साधु के अनुसरण पर डा. वाकोबी ने अपभ्रंश के चार भेद स्वीकार किए हैं—पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी। भारतवर्ष में देखा जाए तो अपभ्रंश में इतना लचीलापन और प्रयोग-बाहुल्य है कि योड़ी बहुत स्थानीय विशेषताओं को छोड़कर उनमें विभाजन की स्थापना शक्य नहीं होती जा सकती। बड़े तेजी से विविधात्मक स्थिति भी और बढ़ रही थी। डा. ठगारे ने दक्षिणी अपभ्रंश की जो विशेषताएँ बताई हैं वे उत्तरीय और मध्यदेशीय अपभ्रंशों में भी मिलती हैं।

४ अपभ्रंश और देशी :

प्राणिनि के समय लोक शब्द का जो अर्थ था, हेमचन्द्राचार्य के समय देशी शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त था। ह्रस्व एकार ओकार की चर्चा करते हुए प्राणिनि ने लिखा था कि लोक भाषा ओः वेदभाषा में ह्रस्व ए, ओ का प्रयोग नहीं होता। प्राकृतों के साहित्य भाषा संस्कार में प्रयुक्त होने पर लोक की बगल देशी शब्द चल पड़ा। पारसिक तूरि, उरसिक तूरि और कोञ्जल अपभ्रंश रचनाओं की भाषा भी देशी कहने के पक्ष में है। अस्तुतः भाषा की परीक्षा शब्द को देशी कहने का प्रयत्न शक्य था। हेमचन्द्र ने समय देशी शब्द के वे जो देश विशेष में बोले जाते थे, और जो भाषा विशेष के माध्यम से उन्नादि प्राकृत में प्रवेश पा चुके थे। यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि अन्तर्गत प्राकृत से आचार्य हेमचन्द्र का क्या अभिप्राय है? सम्भवतः यहाँ उनका संकेत उस मूल आर्यभाषा की ओर है, जिसका कोई साहित्य उपलब्ध नहीं। उनके प्रांत ती साल पूर्व अपभ्रंश कृत्रि स्वयंभू ने रामकथा की नयी से तुलना करते हुए कहा था कि इसके संस्कृत और प्राकृत पुलिन हैं और तट देशीभाषा से समुद्रजन्म है। यहाँ देशीभाषा से उनका अभिप्राय अपभ्रंश से है। कुल्लभभावाकार भी कहता

है कि अपभ्रंश संस्कृत व प्राकृत के शुद्ध ऋगुठ धीर्नी वधों से लहराती रहती है। कीलावईकहा की नायिका ऐसी कथा सुनना चाहती है जो अधिकल देसी शब्दों से सुगम और विषय मानुषों है। कीलावईकहा भरहृद्ध भाषा में लिखित माती जाती है। हेमचन्द्र ने देसीमानमाया लिखी। त्रिक्रम ने अपने व्याकरण में देसी शब्दों की सूची दी है। विद्यापति देसीवचन को सवजन मिह्रा मानते हैं। वैदिक भाषा की तुलना में संस्कृत शोकपादा की, प्राकृत की तुलना में अपभ्रंश देसी थी। अपभ्रंश की तुलना में नई बोधियां देसी थीं। देसी के बाद ग्राम्य शब्द आता है। स्वयंपू ने अपनी भाषा को गामिन्य वचनों से हीन बताया है। ग्राम्य का श्रेष्ठ देशी की तुलना में सोमित है। कवि विद्यापति परी की भाषा को देसी कहते हैं, जब कि तुलसी मानस की भाषा को भाषा कहते हैं अर्थात् शैलचाल की भाषा, लेकिन एक जगह उन्होंने ग्राम्य गिरा शब्द का भी प्रयोग किया है। कहुवे का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार लोक, देशी और ग्राम्य शब्दों के शब्दों में एक ऐतिहासिक क्रम है।

अधिकतर परिद्वत शौरसेनी की पश्चिमी-अपभ्रंश वा नागर अपभ्रंश कहुवे के पास में हैं, उसका एक नाम पिंगल भी है। एतद्वत् में शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत के बीच भेद यह है कि प्रथम में कुछ मन्त्रःस्वर्णों को वाद कर देते हैं, जब कि महाराष्ट्री प्राकृत में उनका लोप हो जाता है। अपभ्रंश को शौरसेनी वा नागरी अपभ्रंश कहना ठीक नहीं। इससे संदेह रहता होता है। एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि क्या आभीर ईरात से निवासी थे। महाकवि कुपदन्त के जसहृत्परिद्व की भूमिका में स्व. डा. हीमालाल देव ने जिन राजवंशों का उल्लेख किया है वे वास्तविक हैं। यह भी सच है कि भारत में उस समय पश्चिम की प्रथा थी; परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आभीरों ने ईरात से आकर शकों के बाद वंशाज पर कब्जा कर लिया था और वे अपने साथ तुकात शब्द और काव्य शैली लाये। उनके अनुसार वंशभ हस्त्रियाणा आभीरकाणा का संक्षिप्त रूप है। वस्तुतः हस्त्रियाणा का विकास हस्त्रि-जन्मव से हुआ। आभीर भारत के मूल निवासी थे, पशुपालन उनका मुख्य व्यवसाय था।

अपभ्रंश की कश्-संपदा, शार्थभाषा की ही शब्द-सम्पदा है। उसमें तत्सम, तदुभय और देसी शब्दों का आग्रहण है। यह कहना सही नहीं है कि अपभ्रंश कवि संस्कृत शब्दों को अहसा नहीं करते। अपभ्रंश अपनी प्रकृति में वाद कर संस्कृत शब्दों की ग्रहण करते हैं, कभी अपनी उच्चारण प्रक्रिया में वाद कर और कभी तत्सम शैली में। जैसे—

ओ मधुपसथु ओए पासद, तेण ससाश हीछ की सीखद ।

चित्तु समसमि णेय णियतद, दुत्तु कफत्तु वित्तु संचित्तद ॥

श्री मनुस्मृत्य को भोग में नष्ट करता है, उसके समान हीन बौध कह्य जाता है वह (मनुस्मृ) समस्त में चित्त को विभुक्त नहीं करता, पुत्र, कलत्र और धन की चिन्ता करता है। इसमें मनुस्मृत्य, भोग, नशीब, तेन समान, हीन चित्त, सपथ, पुत्र, कलत्र का वि शब्द ठेठ संस्कृत के ही भे रूप करलकर उपस्थित है। भाष्यकार ने कहा था कि एषः शब्द के कई अपभ्रंश होते हैं, लेकिन इसके ठीक विपरीत यह भी है कि इनके शब्दों का एक अपभ्रंश होता है। जैसे स्वच्छ, श्लक्ष्ण, यज्ञ का अक्षय, युग, मन्, मत्, श्रीर मग का मय; या रमर, सर, छा का सर। अतः डा. वायसवर का यह सोचना ठीक नहीं कि हिन्दी में तत्सम शब्दों के बचने का कारण पुनरुत्थान भावना है, या यह कि अपभ्रंश के बाद हिन्दी का उदय भक्ति आन्दोलन के अभिप्रेक्ष्य में हुआ हुआ है। भाष्य ने 16वीं सदी को कुतर्जापरण प्रथिना को मन्वदुग के भक्ति आन्दोलन में देखा केवल श्यासोत् है।

५. तत्वाकथित नयजागरण :

हिन्दी में भक्ति आन्दोलन का स्वस्वतःसाहित्य धारण नहीं करती कि अपभ्रंश युग की लोकभाषना को प्राचीन शब्दों का सुधारान विना गया था और पुनरुत्थान की इस भावना के अन्तर्गत लोकजीवन और शिक्षित समुदाय में संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन, अन्वय-मनन का काम शुरू हो गया। इसमें भाषा में तत्सम और अर्ध-तत्सम शब्दों के प्रयोग की बहुत हीने लगी। यह पहला भारतीय उदात्त था। इसके बाद डा. वायसवर लिखते हैं कि 19वीं सदी के पुनरुत्थान में रहे-गहे तत्सम शब्दों को निष्काय बाहर किया। यहाँ काय है कि आरंभिक हिन्दी (पहले यह शब्दों ही का मन या लड़ी बोली) अपभ्रंश अक्षरसमूह परःस्मित होकर नई परिस्थितियों का प्रभाव ग्रहण कर रही थी। जिस अर्थ में यह पुनरुत्थान शब्द का प्रयोग किया गया है, उसके लिए प्रतिक्रियावाद शब्द अधिक उपयुक्त है। पूरा प्रश्न है कि क्या अपभ्रंश युग, लोक-भाषना के उदय का युग है? प्राचीन या शब्दों का सहारा मिटाने में भक्ति ने आन्दोलन का स्वरूप बदल कर लिया, या भाषनों के सहारे भक्ति की विशिष्ट धाराओं की सांस्कृतिक व्याख्या की गई? अपभ्रंश युग की यह लोक-भाषना क्या थी? और वह आन्दोलन साहित्य में स्फुरित है या नहीं? यह लोकभाषना, भक्तिपाठना ही हो सकती है; लेकिन अपभ्रंश साहित्य में भक्ति के साथ जीवन के उत्तरे स्वर है, ये स्वर भक्ति के स्वर के साथ तनकालीन संस्कृत और प्राकृत साहित्य में भी सुने जा सकते हैं। उनकी तरह अपभ्रंश की अभिजात्य संस्कृति में अभिव्यक्ति का साधन बन चुकी थी। यदि वह लोकभाषा नहीं थी, तो लोकभाषा में अभिव्यक्ति होने से कारण कोई स्वर लोकभाषा स्वर नहीं हो जाता। अब कोई नई भाषा साहित्यिक स्तर पर अभिव्यक्ति का साधन बनती है तो उसमें परम्परागत भाषा के शब्दों का प्रयोग हीमा ही। संस्कृत शब्दों में ग्रहण का अर्थ यह नहीं है कि हिन्दी में अपभ्रंश शब्दों को निजात बाहर कर दिया। यह सम्भव ही नहीं है। 19 वीं

भारी का पुनरुत्थान रहे-तबे सबसे की चेद निकाल फेंकना तो भाषा बचती हो
पड़ी। वास्तविकता यह है कि हिन्दी और उर्दू की भाषाओं में जो सैकड़ों शब्द और
रूप हैं वे अणुशः प्रक्रिया से विकसित होकर ही प्राप्त हुए हैं। यह सोचना अपने
को धोखा देना है कि संस्कृत आभिजात्य-वेत्ता की भाषा है और अणुशः जोक-
दत्ता की।

६ अणुशः युग :

अणुशः का युग भारतीय सामन्तवाद के विघ्नरथ का युग था। सघट्ट
हर्मनरत्न (१५० ई०) के निघन्त के बाद महोदय श्री (कलीज) की हस्तियाते के लिए,
राज्य के पार्ष्ण, अणुशः के गुणर प्रतिहार्य और दक्षिण के राष्ट्रकुटी में उन गर्द,
जिसमें प्रतिहार्य की जीत होती है। इसी काल में विदेशी हमलों का ताता गुण
होता है। मुहम्मद बिन कासिम (७११ ई०), महमूद गजनवी (१००० ई०),
मुहम्मद गोरी (११७५ ई०), के आक्रमणों के उत्तर पश्चिमी भारत में उज्जैन-गुजरा
की। १०२७ में सोमनाथ का मन्दिर नष्ट किया गया। ११७५ में तुर्कीराज की दार
से महादेश विदेशियों के लक्ष्य में बना गया। इस युग के विदेशी आक्रामकों (गकों
और हूणों) का राजपूतों में विनीतोकरण हो चुका था। नार पाँच सौ वर्षों की
राजनीतिक लयनन के कारण राज्याध्यय में होने वाले महादेश सर्जन में बाधा का
पटना समाप्तिक था। इसके, संस्कृत प्राकृत की तरह अणुशः की भी राज्याध्यय
प्राप्त हो गया। राजेश्वर के अनुसार अणुशः के कवि सर्वथापा कवि थे जबकि
अणुशः में केवल अणुशः तक अणुशः का ही बोलबाला था। छंद और शैली के
विचार के अणुशः तथा अणुशः लेकर आते। यह सब है कि अणुशः न राष्ट्रकुटी
राजा कुटिल दूतीय के संघी भारत की प्रेरणा से अणुशः के अणुशः में उत्कर महा-
गुणर की रचना की। राष्ट्रकुटी राजा अणुशः जैन था और अणुशः जैन साहित्य
के सर्जन की अणुशः प्रोत्साहन दिया; लेकिन इसका अणुशः यह नहीं है कि राष्ट्रकुटी
राजा जैन थे और अणुशः प्रजा में जो अणुशः जैन वैश्व थे उनको भाग्य अणुशः
थी। इसीलिए वही अणुशः-साहित्य की रचना की गई। राष्ट्रकुटी के जैनों
की भाषा अणुशः थी या नहीं इसका कोई प्रमाण प्रमाण नहीं मिलता। उक्त
राज्याध्यय में अणुशः के समान अणुशः और अणुशः में भी साहित्य किया गया ?
तो क्या वे भी जैनों की भाषाएँ थीं। केवल साहित्य सर्जन की अणुशः देते के
कारण अणुशः को अणुशः के जैनों की भाषा माना नहीं किया जा सकता।
अतः यह कहना सही नहीं होगा कि अणुशः जैनों की ही भाषा थी क्योंकि जैन
राष्ट्रकुटी के अणुशः पहले से दक्षिण भारत में थे। दूसरे, उस समय दक्षिण में अणुशः
जैता अणुशः-विचार नहीं था। अणुशः संस्कृत और अणुशः का साहित्य एक ही
भारतीय अणुशः की देशकालगत विशेषता है; अतः अणुशः-साहित्य लोक

कान्ति का साहित्य न होकर भैतिक कान्ति का साहित्य है। लोकमुख भोगने के अभाव यह आर्यमुख में विप्लव करता है।

७ प्रियर्सन का विभाजन :

जार्ज प्रियर्सन के अनुसार आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास इस प्रकार हुआ।

१. पंजाबी अपभ्रंश = लहंडा, गंजाबी, २. बलुच अपभ्रंश = सिन्धी, ३. महाराष्ट्री अपभ्रंश = मराठी, ४. अर्धमगधी अपभ्रंश = पूर्वी हिन्दी, ५. मगधी अपभ्रंश = बिहारी, बंगला, उडिया, ६. नागर अपभ्रंश = राजस्थानी, गुजराती और पहाड़ी बोलियाँ, ७. शौरसेनी अपभ्रंश = पश्चिमी हिन्दी।

अस्तुतः प्रियर्सन साहब ने विद्यमान भाषाओं के आधार पर पूर्व-वर्ती अपभ्रंशों की कल्पना की है। इसमें कई अतंगतियाँ हैं, जैसे, नागर अपभ्रंश का अर्थ से अस्तित्व नहीं है। महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंश में बहुत ही समानताएँ हैं। महाराष्ट्री प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश का विकास है। अर्धमगधी से अर्धमगधी के विकास की बात तो समझ में आती है, अस्तु उसने बघेली और शौरसेनी को किस प्रकार अमानित किया वह विचारणीय है। राजस्थानी की तरह, गुजराती भी यदि नागर अपभ्रंश से निकली तो उसे, उस गुर्जर अपभ्रंश से भिन्न मानना होगा या अभिन्न कि जिसके बिना गुजराती अस्तु नहीं होते? पंजाबी अपभ्रंश में लहंडा और पंजाबी विकसित हुई और शौरसेनी अपभ्रंश से खड़ी बोली, और हरियाणवी भाषाएँ। प्रश्न है कि दोनों की आन्तःप्रति प्रकृति कैसे सम्भन गई? मैं समझता हूँ कि शौरसेनी प्राकृत की विशेषताएँ, हिन्दी की तुलना में, पंजाबी में अधिक सुरक्षित हैं।

ध्वनि—भारतीय भाषाशास्त्र में उच्चरित और लिखित ध्वनि को 'वर्ण' कहते हैं। मया को इकाई (unit) मान्य है। मात्रा को इकाई पद है। 'पद' में दो लक्षण हैं—प्रकृति (अर्थ तत्त्व) और प्रत्यय (सम्प्रदाय तत्त्व)। दोनों के पूरा में वर्ण है। देवनागरी लिपि में 'वर्णों' का लिखित और उच्चरित मूल्य समान है। पश्चिम की देखा देखी कुछ भारतीय भाषावैज्ञानिक वर्णों को उच्चरित रूप को ध्वनिप्रवाह कहने के पक्ष में हैं क्योंकि उसमें कई इकाइयाँ होती हैं जिन्हें वे 'स्वनिम' कहते हैं, इनका लिखित रूप वर्ण है। उदाहरण के लिए हिन्दी में अंग्रेजी में 'हूड' लिखा जाएगा, कर्णाट् उसमें व् + र् + ड् से तीन स्वनिम हैं। अंग्रेजी वर्णमाला की दृष्टि से यह ठीक है; परन्तु देवनागरी में महाप्रणय ध्वनिधर्मों के लिए स्वतंत्र चिह्न है, अतः उसमें उक्त कल्पना सुनिश्चित नहीं। अक्षरों में निम्नलिखित वर्णों (स्वर-अक्षर) प्रयुक्त होते हैं :

स्वर—अ आ इ ई ऋ ए (लृस्व), उ ऊ ओ औ (लृस्व) ।

व्यन्जन - कंठ्य : क ख ग घ, तालव्य : च छ ज झ ।

सूक्ष्म : द ड ढ ण, दन्त्य : त थ द ध ण ।

दीर्घ्य : ए ऋ अ ऋ, अल्पः अ ऋ ऋ ऋ ।

उच्चरित—य महाप्रणय—ह ।

अपञ्चल में वृद्धि स्वर ए औ तथा ऋ लृ और अक्षर क, ग, घ, ङ, ज का अभाव है। इनके विनाश में दूसरी व्यवस्था है।

१) ऐ, औ अग्रह 'ए या अइ' प्रयुक्त हैं, जैसे देव, से देव या वदक। औ की अग्रह ओ औट उउ का प्रयोग है, गौरी से गौरी या गधरी। मयटो गौरी में यही स्थिति है : 'आपनि आपनि भाया सेहि दइअ कर नाछ', 'तन चितउर मव राजा बीन्हा'। (गद्यमी)

क की अग्रह ककयः क (दृग) > तल, कूक > पुट्टा) का, (कृग) > काकपु) द (दृग) > तिनग, उ (पृक) > पुट्टा) ग (दृग) > गेह, रि (कृग) > रिगु), पर (दृग) > पर) का प्रयोग होता है।

२) एक स्वर का स्थान दूसरा स्वर ले लेता है (स्वराणां स्वराः प्रायोज्यभ्रंशो) उदाहरण के लिए : मणुवे > मुणुव, धार > उरल, माय > मैत, रथूल > थोर, लिहा > लिह, पुताक > पोतय। यद्यपि दृढ स्वर-परिवर्तनों के कारणों का

उक्त नियम में उल्लेख नहीं है, फिर भी उनकी परिवर्तन-प्रक्रिया के कारणों की व्याख्या संभव है।

३) पदान्तर स्वरों को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति है (वाक्सर्वदेशःसोरुच्चारणाद्यन्वयम्— वाक्पि वर्यां में स्थित ए ओ स्वरों पर ह्रस्व उच्चारण होता है)। इसी प्रकार पर के अन्त में स्थित उं ङ् हि का ह्रस्व उच्चारण संभव है (पदान्ते उं ङ् हि हुंकाराणात्)। यहाँ यह समझना है कि संस्कृत और हिन्दी (बड़ी बोली) में ह्रस्व 'ए ओ' का प्रयोग नहीं है। (न त लोके न च वेदे ह्रस्व एकारः शोकारः) उनके स्थान पर ह्रस्वादेश (ए= इ, ओ= उ) का नियम है।

४) व्यंजन परिवर्तन की तीन दिशाएँ हैं। एक, ऊप्य व्यञ्जनों का घोर व की जगह 'रा' का प्रयोग। जैसे, कर्मिः > कर्मि, विद्या > विसा, भाषा > भासा इत्यादि। संयुक्त रूप का यह होता है: घोष्य > गिष्; कर्मोर > कर्मूर; (श्म = म्)। अ (क् + ष = अ) के बड़े विकल्प संभव हैं क्षण > क्षण, क्षार > क्षार, कक्ष > कक्ष, अक्षि > अक्षि; छ = श्रित > चित, ज्ञ = अक्षि > अक्षि। अ = अ = शीर्ष > शीर्ष। अ = ह = निक्षि > निक्षि। अ' का 'र' होता है, भन > नेन, पाव = पत, श्रनादि। अ = अ होता है, जान = शान, विना > विसा।

५) अर्धस्वर (अन्तःस्व) स्वनिधियों से युक्त व्यञ्जनों में परिवर्तन होता है। व्याहार > वापार, व्यामोह > वागोह, ईश्वर > ईश्वर, रज्ज्वर > सजन, श्रवणति > अमन्द। प्रेम > प्रेम, कर्म > कर्म, सर्व = सर्व। एक = एक। विद्या > विद्या। विद्यापति > विद्यापति।

६) अपभ्रंश में मध्यम व्यञ्जन के लोप की प्रवृत्ति है। (कमचनउपपत्त्यां प्रायो लुक्) दो स्वरों के बीच रहने वाला स्वर मध्यम स्वर है। जैसे प्राकृत— पादम, गोकुल > गोकुल; धमदूरी > जगदूरी; तुचिर— बुचर।

७) मध्यम 'क' की जगह 'ख' होता है। यह प्रवृत्ति गणों की जगह गण करने की प्रवृत्ति कहलाती है।

क्षयकाल > क्षयकाल, मदकल > मयकल, विभोधानर = विन्धोह्वार।

करोति > करोति, करदि। कश्चित > कश्चिद्, कश्चि > कश्चि।

८) स्वरौभवन— धोनीकरण (ताद्योकारण) की प्रवृत्ति, मध्यम व्यञ्जन के लोप की प्रवृत्ति है। मध्यम व्यञ्जन के लोप का ही दूसरा नाम स्वरौभवन की प्रवृत्ति

1. ए र् ल् धीर व् अन्तःस्व वा semi vowel स्वनिधियों कहलाती है।

2. दधीय (रधमं) व्यञ्जन को घोर (नाच) करना। 'अनादी स्वरान्तसंयुक्तानां' का ल त थ न को— ग न द ड व षाः। क क त म प रीर फ के स्थान पर धि इ अ इ के आदि में नहीं है और संयुक्त नहीं है तों प्रमणः म ष इ थ व क होते हैं।

- है। इसका अर्थ है कि 'शब्द' में व्यञ्जनों के लोप के बाद स्वरों का स्थान रहता।
जैसे—आवर > आघर, आकार > आधारा, आगत > आग्रह या आग्रह।
- १७) य् और व् श्रुति : स्वरीभवन के कारण शब्दों के उच्चारण में कठिनाई होता स्वभाविक है। इसके परिणामस्वरूप स्वर में य् तथा व् अन्तःस्थ ध्वनियों का आगम होने लगा। इ यौर व् लक्ष्य और व् का उच्चारण स्थान सभान है, इसलिए इ का य्, और व का व् के विनिमय होता है। ध्वनियों के उच्चारण में 'जीभ' को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना पड़ता है। उनके उद्गारण या विधाम के लिए जो ध्वनि सुनई देने लगती है, उसे श्रुति (glide) कहते हैं। भारतीय आर्यभाषा में स्वरीभवन की प्रवृत्ति को रोचने के लिए य् घो-व् का प्रायः श्रुति के रूप में आगम होता है। जैसे—पाव > पाय > पाव। गत > गय > गया। लोचन > लोच्छन। गहन > गघन > गवह इत्यादि।
- १८) उद्बुद्ध स्वर : मध्यम व्यञ्जन लोप की प्रवृत्ति के कारण जो स्वर बच रहता है, वह उद्बुद्ध स्वर कहलाता है। सामान्यतः उद्बुद्ध स्वर की सन्धि नहीं होती। जैसे—आगत > आग्रह में रेखांकित 'अ' उद्बुद्ध स्वर है। कुपित > कुग्रह। रचित > रग्रह। विशेष स्थिति में उद्बुद्ध स्वर में सन्धि हो जाती है। जैसे—आगत से आग्रह > आधा > आधा।
- १९) महाप्राणस्वर : 'हं' महाप्राण ध्वनि है। महाप्राण व्यञ्जनों में केवल महाप्राण ध्वनि शेष रहती है। आन्ता > आहा, गुप्त > गृह्य, अघर > अग्र, रथ > रथ, मुक्ताफल > मुत्ताह्वय। मधुमधन > मधुमहन।
- २०) मूर्धन्वभात्र : त र्ग (न य द ह न) : ध्वनियों के स्थान पर मूर्धन्व ध्वनियों का होना मूर्धन्वभाव कहलाता है। 'परोक्ष' के अनुसार य् और व् के अर्थ रहने वाला पदान्ति 'न' का 'य' हो जाता है, यह र् यौर व् का प्रभाव मानता चाहिए। जैसे चक्रर यह प्रवृत्ति प्रभव हो उठी। जैसे—बाल > बोल, पतिव > पतिव, पतिव > पतिव, हुकर > हुकर, विग्रह > विग्रह इत्यादि।
- २१) इ यौर ल का विनिमय : इ यौर ल तथा ल यौर र के अर्थ की प्रवृत्ति प्राचीन आर्यभाषा की पुरानी प्रवृत्ति है। अर्थ का अर्थ है—एक का दूसरे से विनिमय। बीजक > बीजक, सदाय > सदाय, पतिव > पतिव, यौर > यौर, चरण > चरण।
- २२) महाप्राणत्व : विभिन्न स्थानों में अल्पप्राण व्यञ्जन को महाप्राण कर देने है, जैसे—अरत > आरत, परतु > आरत, कर्कर > अकार, कीट > कील। इसी प्रकार 'य' के स्थान पर 'य' आता है। मधुमा > अउसा, यति > यति, अह।
- २३) आदि व्यञ्जन की स्थिति : अल्पत्व में सामान्यतः एक का यदि व्यञ्जन सुरक्षित रहता है; परन्तु अल्पत्व स्वरूप नहीं बड़ी बड़ी लोप भी होता है—पाव > अय, अय, कक्षा > अक्षा > अक्षा, उसा > असा > असा। दुहित (कन्या) के 'दुप'।

की रचना में 'त' का लोप है और 'ः' का वृद्धि, महाप्राण 'हृ' 'व' में मिल कर हुआ बनता है, उससे 'धुधा' धुध में वृ का संप्रसारण होने से 'उ' क्त = वृ = व तथा अ = वध = वध्व = वध्व ।

- १६) ध्वनि परिवर्तन की दिशाएँ : भाषा के विकास का मुख्य कारण ध्वनि परिवर्तन है। ध्वनि परिवर्तन के तीन उत्पत्ती रचना-प्रक्रिया में विहित हैं। ध्वनि परिवर्तन के मुख्य कारण हैं—मुख्य मुख्य और प्रथम प्रापक। ध्वनि परिवर्तन की प्रक्रिया सार्वभौम और सार्वकालिक है। परिवर्तन के जो प्रवृत्तियाँ सब देशों और कालों में सक्रिय रहती हैं उन्हें ध्वनिधर्म (Phonetic Phenomina) कहते हैं और जो ध्वनि परिवर्तन देश और काल के द्वारा नियंत्रित हैं उन्हें ध्वनि नियम (Phonetic Law)। वास्तव में ध्वनि परिवर्तन में नियम जैसी कोई वस्तु नहीं है। फिर भी 'परिवर्तन' की कोई प्रवृत्ति जब किसी भाषा में किसी खास परिस्थिति और समय में देरी जाती है, तो उसे 'नियम' कह दिया जाता है, जैसे 'सिमानियम'। प्राचीन भारतीय-भाषाशास्त्र में होने वाले ध्वनि परिवर्तनों को मुख्य करते हुए निरुक्तकार ने कहा था—

वर्णानामो वर्णविपर्ययस्य इी चापरो वर्णविकारतासो ।

ध्रतोल्लादधर्शाशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ।

वर्णानाम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार और वर्णनाश का सम्बन्ध ध्वनि परिवर्तन के है। हिन्दी अल्पविज्ञान की पुस्तकों में इनके स्थान पर जो पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, वे अर्धजो पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी अनुवाद हैं। वर्णों के लोप, प्रापन या विलयन की ये प्रवृत्तियाँ विषय भर की भाषाओं में पाई जाती हैं। अतः इन्हें ध्वनिधर्म (Phonetic Phenomina) माना जाना चाहिए। उपरोक्त में भी ये प्रवृत्तियाँ हैं।

वर्णलोप के उदाहरण हैं :

- १) आधिरज्वर लोप (Aphaeraxis)—समस्तम् > वलम्, उपरि > वरि; अघस्ताद् इष्टा, अयि > यि ।
- २) मध्यवर्ण लोप (Syncope)—साधर > साधर, वृहति > मरुहः ।
- ३) मध्य अक्षर लोप (Haplology)—परिष्वस्यते अथा > परिष्वसते कहा ।

वर्णानाम : मध्य के मध्य में स्वर या व्यंजन के प्रापन को वर्णानाम कहते हैं। ध्वाम > धाम, रत्री > रथी, ये पारिभाषिक के उदाहरण हैं। मध्यवर्णनाश—श्लाघते > मलाहः, अन्धान > ममत्तान, अमं > करम । धार्य > धरि, दीर्घ > दीहः । मध्यवर्णनाश की स्वरभक्ति भी उल्लेख है।

१. जब वृ और वृ का सम्पर्क हो और उ होता है तो वह संप्रसारण कहलाता है।

अपनिहित—स्वरभोग का एक भेद अपनिहित Epenthesis है। इस प्रकृति के अनुसार इकारांत ययग इकारांत ययत्रि के पूर्व क्रमशः उ अण्डा उ का धाव्य होता है। जैसे -बलि > बलित > बोलिन > बेल। बल्यु > बज्जालु > बौलु > बौब। यह प्रकृति प्रवेस्ता की भाषा में सबसे अधिक मिलती है।

वर्णविकार—स्वर या व्यञ्जन में लो विकार आता है उसे वर्णविकार कहे हैं। यह विकार या परिवर्तन दो प्रकार में संभव है—सावर्ण्यभाव (Assimilation), असावर्ण्यभाव (Disassimilation)। हिन्दी में इनके लिए समाकरण और असमीकरण शब्द प्रयुक्त हैं जब कि सही पाश्चात्यिक शब्द सावर्ण्य और असावर्ण्य भाव हैं। 'सवर्ण्य' का भाव सावर्ण्यभाव है। जिन वर्णों के लक्षणरूप के स्थान और प्रयत्न भन्नाय ही वे तदर्थ कहलाते हैं : असावर्ण्यभाव के दो भेद हैं (१) पूर्व सावर्ण्यभाव (२) परसावर्ण्यभाव।

(१) संयुक्त व्यञ्जनों में से जब पहला व्यञ्जन दूसरे व्यञ्जन की अपने समान बना लेता है तो वह पूर्व सावर्ण्यभाव (Progressive Assimilation) कहलाता है। यनि > यमि, हर्ष > हर्म, वाक्य > कक्य, रुग्ण > रुग्म, वायप > वक्क, ययय > यय।

(२) परसावर्ण्यभाव (Regressive Assimilation) संयुक्त व्यञ्जनों में से दूसरा व्यञ्जन जब पहले व्यञ्जन की अपनी प्रकृति बना लेता है तो वह पर-सावर्ण्यभाव कहलाता है। जैसे—युक्त > युक्, बर्म > कम्म, हर्म > घम्म, रक्त > रक्त, शब्द > शब्द। यत्र = रुद्र, सर्व > सर्व, बर्म > बर्म।

(३) पूर्व असावर्ण्यभाव (Progressive Disassimilation) : दो समीपवर्ती समान ध्वनियों में से जब पहली ध्वनि बजत जाती है तो वह पूर्व असावर्ण्यभाव कहलाता है। गुर > गेवर, हरीतित्री > हरिद्र, बिनीय > बिहूय। नीब बिहूरा देहुरा, देह बिहूरा देव—बहीर।

(४) परसावर्ण्यभाव—दो समीपवर्ती ध्वनियों में से, यदि बाध की ध्वनि बजती है तो वह पर-सावर्ण्यभाव है। जैसे : रुकुमार > रुममार, युष्म > पुरिस्म।

वर्णविपर्यय (Metathesis) — दो वुरणों या समीपवर्ती ध्वनियों का आसन में विनिश्चय वर्णविपर्यय कहलाता है। जैसे हर्ष > हर्षा > र्हर्ष, गृह > घरह > घर। प्राच्युनिक भारतीय भाषाओं के बहुत से शब्द, भारतीय सावर्ण्यभाव के ध्वनि परिवर्तन की इसी प्रक्रिया में से होकर प्राप्त हुए।

(१) बदरचना (कारक और विभक्तियों) :

कारक का अर्थ है करने वाला। प्रश्न है कल्प में करने वाला कौन है? क्रिया मुख्य होती है। जो उसे संपादित करता है; वह कर्ता कारक है। क्रिया के संपूर्ण संपादन में कर्ता के प्रतिरिक्त दूसरे उत्पत्तों का भी योग होता है। अपने दन योग के कारण वे किसी न किसी रूप में क्रिया से संबद्ध है। यह सम्बन्ध अन्यथा या कम 'कारकत्व' है जो संपूर्ण वाक्य को पूर्ण सन्निवृत्तित देता है। अतः कहा गया है कि 'क्रियया सम्बन्धित्व कारकत्वं' क्रिया के साथ संबद्ध होता ही कारकत्व है। इस सम्बद्धता के लई कम है। वहाँ यह ध्यातव्य है कि सम्बद्धता का आधार क्रिया है। क्रिया के बिना, दूसरे कारकों में कोई सामर्थ्य नहीं है। भाष्यकार के अनुसार "कारककर्तृ क्रियैव सामर्थ्यं जायते न तेषा-मन्वोन्वेन।" कारकों में क्रिया से ही सामर्थ्य होता है। एक दूसरे के कारण उनमें कोई सामर्थ्य नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक कारक वाक्य में तभी सम्बद्ध है, जब वह क्रिया से सम्बद्ध हो। विभक्ति का अर्थ है, विभाजन। जिन प्रत्ययों द्वारा वाक्य में क्रिया के कारकों (सम्बन्धों) को विभक्त करके अलग-अलग जाता है, उन्हें विभक्ति कहते हैं। संस्कृत में प्रत्येक कारक के लिए एक विभक्ति है जैसे, कर्ता कारक के लिए प्रथमा, कर्म के लिए द्वितीया, करण के लिए तृतीया, सम्प्रदान के लिए चतुर्थी, रूपान्ता के लिए पञ्चमी, अधिकरण के लिए षष्ठी। शेष सम्बन्धों के लिए षष्ठी विभक्ति आती है। ये सम्बन्ध क्रिये पर सम्बन्ध होते हैं। इसी लिए षष्ठीविभक्ति में कहा है—'शेषे षष्ठी' शेष बातों के लिए षष्ठी विभक्ति आती है।

(२) विभक्तियाँ और वचन रूपभंज में विभक्ति रचना में सरलता है। उदाहरण के लिए वचन प्रथमा, द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियों का लोप है। 'लोप' से यहाँ तात्पर्य यह लेना चाहिए कि बिना विभक्ति के भी कारक का बोध हो जाता है अर्थात् विभक्ति के लोप का अर्थ 'काचक' का लोप नहीं है। इस प्रकार पालि, प्रकृत और रूपभंज में भी कारक रहते हैं; परन्तु विभक्तियाँ पत हैं—प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी और षष्ठी। सम्प्रदान के लिए अलग से चतुर्थी विभक्ति नहीं है, उसका बोध दूसरे विभक्तियों में हो जाता है। अधिकतर उसका काम द्वितीया या षष्ठी विभक्ति से चल जाता है। इस प्रकार रूपभंज में कुछ कारक और विभक्तियाँ इस प्रकार हैं—

कर्ता = प्रथमा, कर्म = द्वितीया, करण = तृतीया, अपादान = पञ्चमी,

अधिकारण = सममी । सम्प्रदान = ० उभवा दितीया वा लटो । यह कदा वा लुका है कि अपभ्रंश में कर्ता, धर्म और सम्बन्ध की विभक्तियों के लोप की प्रवृत्ति स्वाभाविक है ।

(३) अकारांत पुल्लिङ्ग शब्दों के विभिन्न कारकों में निम्नलिखित रूप होंगे—

अकारांत पुल्लिङ्ग		इकारांत उकारांत पुल्लिङ्ग	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१. कर्ता—उ, ओ, ०	०	१. ०	०
२. धर्म—उ, ०	०	२. ०	०
३. सम्बन्ध—ए, ए, एन	हि, एहि	३. ए	हि
४. सपत्न—हे, ह	है	४. हे	ह
५. कर्त्तृ—ह, ए	हि	५. हि	हि
६. संबन्ध—हु, स्तु, ह्ये, ०	हं, ०	६. हि	हि

उदाहरण :

अकारांत पुल्लिङ्ग		इकारांत उकारांत पुल्लिङ्ग	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१. देव देवा देवु देवो०	देव देवा,	१. गिरि गिरी०	गिरि गिरी०
२. देव देवा, देव	"	२. " "	" "
३. देवो देविण देवेरा	देवहि, देवेहि	३. गिरि(ए) गिरिण गिरि	गिरिहि
४. देवहं देवह देवे	देवहं	४. गिरिहं	गिरिहं
५. देवे देवि	देवहि	५. गिरिहि	गिरिहि
६. देव देवसु देवस्तु देवही	देव देवहं	६. गिरि गिरी	गिरिहं गिरिहं

(४) स्त्रीलिङ्ग के सभी शब्दों की विभक्तियाँ और रूप निम्नलिखित हैं—

		मुग्धा	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१. ०	० उ स्त्री	१. मुक् मुक्का	मुक्, मुग्धा
२. "	"	२. " "	" "
३. ए	हि	३. मुक्ए	मुक्हि
४. हे	हं	४. मुक्हे	मुक्हे
५. हि	हि	५. मुक्हि	मुक्हि
६. हि	हि	६. मुक्हि	मुक्हिहं

नपुंसक लिंग में केवल कर्ता और कर्म की विभक्तियों का अन्तर है, शेष कारकों में पुल्लिङ्ग शब्दों के समान रूप पाते हैं।

एकवचन		बहुवचन
कर्ता ०	=	० दे० ।
कर्म ०	=	० दे० ।

(५) आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन' में संस्कृत की विभक्तियों की आधार मानकर अपभ्रंश संज्ञा विभक्तियों के लिए निम्नलिखित नियमों का निर्देश किया है।

संस्कृत में विभक्तियों के चित्त इस प्रकार हैं—

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	सु	सम्
कर्म	सम्	सम्
करण	इत	सम्
अपादान	आत्	सम्
घट्टी	स्व	सम्
अधिकरण	हि	सुप्

- (१) स्वप्नोत्—कर्ता और कर्म के एकवचन में और 'व' होने है। देव, देव् ।
- (२) लौ पुंशोदा—'व' की जगह 'शो' विकल्प से होता है—देवो—देव देवु देवो ।
- (३) कृत्वि—करण के एकवचन में 'अ' को एङ्ग होता है। देवे ।
- (४) आट्टीणानुस्वारी—करण के एकवचन में 'स्व' और अनुस्वार होते हैं = देवस्य देवे ।
- (५) भिस्सुपोहि—करण और अधिकरण के बहुवचन में 'हि' होता है = देवहि ।
- (६) भिस्वेदा—करण के बहुवचन में 'अ' को 'ए' होता है 'देवेहि' ।
- (७) उभेदेह—अपादान के एकवचन में हे शब्द 'ह' होते हैं, देवह, देवो ।
- (८) न्यसहो हं = अपादान के बहुवचन में 'हं' होता है = देवो ।
- (९) उभःसु होस्वयः—सम्बन्ध के एकवचन में सु हो स्तु होते हैं = देवसु देवहो, देवसु ।
- (१०) आघो हं—सम्बन्ध के बहुवचन में हो होता है = देवहं ।
- (११) हि नेश्व—अधिकरण के एकवचन में इ और ऐ होते हैं = देवि, देवे ।
- (१२) भिस्सुपोहि—करण और अधिकरण के बहुवचन में हि होता है = देवहि ।
- (१३) स्वप्नस्रस्रां सुम् = कर्ता और कर्म की विभक्तियों का लोप होता है = देव देवा ।
- (१४) सद्दयाः = सम्बन्ध की विभक्ति का लोप होता है। देव देव ।
- (१५) आसंघे जसो ही—सम्बन्ध में बहुवचन में ही होता है ।

(६) तादर्थ्य शब्द :

तादर्थ्य (के लिये) में निम्नलिखित शब्दों का रिपात होता है (तादर्थ्यं केहि तेहि रेसि रेसि तगणः) केहि तेहि रेसि रेसि तगणः। इसके पूर्व संज्ञा और सर्वनाम में पण्डी विभक्ति लगती है। तब केहि हूँ 'मिन्मड' हि तुम्हारे लिए मैं खीन रही हूँ। (२) अन्नहि रेसि = किसी दूसरे के लिए। (३) बसु तेहि = किसके लिए। (४) उहह-तराही तगणः = बहध्वन के लिए। लगता है सम्प्रदान की विभक्ति के अर्थ के कारण प्राये चलकर 'के लिए' के अर्थ में उक्त शब्दों को परिकल्पना की गई।

(७) सम्बन्धवाचक प्रत्यय केर और तण :

सम्बन्ध के अर्थ में 'सपञ्च' में छोटी विभक्ति के प्रतिरिक्त 'केर' और 'तण' का प्रयोग भी होता है। इन शब्दों के प्रयोग के पड़ने संज्ञा या सर्वनाम में पण्डी विभक्ति का लपाना जरूरी है। (सम्बन्धिनः केर तराी)।

उदाहरण :

१. लहू तणिय धूव तिठुवमि पसिडा = उमकी कन्या तीनों लोकों में प्रसिद्ध है।
२. निहू पेन्पमि डिभहे तणउ कुवखू = बच्चों का दुःख निम्न प्रकार देखू।
३. भरदहू तेरइ भंदिदि सिविट्ट = भारत में मंदिर में बैठा हुआ।
४. ताहि केरी लइ ताहि जि दिशाध = उमकी कन्या लेकर उतरी की दो जाए।

एत उदाहरणों ने स्पष्ट है कि तण और केर का प्रयोग विशेषण के रूप में होता है। उदाहरण तीन में भंदिदि अधिकरण का एक बचन है, अतः 'केरइ' भी अधिकरण का एक बचन है। उदा. चार में केरी कन्या का विशेषण होने से रवी-लिय में है। उदा. तीस में दुवखू के अनुसार तणउ का बचन और लिय है। इससे स्पष्ट है कि केर और तण का प्रयोग तद्धित के रूप में होता है। संस्कृत में सम्बन्ध वाचक के लिए जहाँ पण्डी विभक्ति का प्रयोग है, वहाँ उसमें परिवर्तन नहीं होता, यथाप्य फल (बन का फल) बनस्य फलानि बन के फल। पश्चु तद्धित रूप में विशेषण के अनुसार लिय और बचन में परिवर्तन होता है। वयं फलं, बनानि फलानि। संस्कृत की तरह प्राकृत अवधम में सम्बन्ध वाचक के लिये विभक्ति और तद्धित शब्द दोनों का प्रयोग होता है। केर और तण तद्धित शब्द हैं। संस्कृत तद्धित रूप 'वयं' में पण्डी विभक्ति नहीं लगती; परन्तु केर और तण का प्रयोग करते समय मूल शब्द में षष्ठी लगना जरूरी है। यह मूल्य प्रश्न है कि केर और तण के विकास का स्रोत क्या है? डा. शिवेन्द्रनाथ शर्मा ने केर व तण का विकास क्रमशः संस्कृत कृत और तः से माना है (पृ. १२७) परन्तु इति विकास प्रविधा से यह सिद्ध नहीं होता। अवधम के कृते प्राकृतों में 'केरक' का प्रयोग मिलता है। कस इदं पञ्चगुं तुजभ वप्पकेरकं? यह एथ कसका है, तुम्हारे भाग का है? 'केरक' से केर का विकास संभव है, केरक > केरम > केरा > केर। प्रश्न है केरक

कैसे विकसित हुआ ? इस सम्बन्ध में काफी खोज की जरूरत है। प्रपञ्च'ग में तथा भावभावक संज्ञा भी है और सम्बन्ध का जन्माभी। 'तणेषु' तादर्थ्य में आता है।

(८) तादर्थ्य केहि तेहि रति रति उशेषु और सम्बन्ध के केर और उशु मन्ध उल कारकों में प्रयुक्त है जिनकी विभक्तियों का लोप हो चुका था, विशेषतः सम्बन्ध और तादर्थ्य के लिए : हिन्वीं का के की, जराडी या ने की, गुजराती भा ने की, पंजाबी दा वे दे और धिधी या जे की, रत्नस्थानी रा रे री के विकास का मूल केर तथा में खोजा जा सकता है। जहाँतक सम्बंध की संज्ञा विभक्तियों का संचालन है, उनमें रूपों की कमी है, विभक्ति रूप सरल और समान है, कर्ता और कर्म की विभक्तियों के लोप ने परवर्ती भाषाओं के परसर्गों के विकास के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। इससे धार्यभाषा की विधोगात्मकता को बढ़ावा मिला। विभक्ति रूपों में कमी आई, अधिकतर, उ ओ ए, एहि तथा हि हे ही हं हे विभक्तियाँ हैं। पंथी को मुरा हो में संस्कृत 'स्य' का स्पष्ट प्रभाव है। एक वचन और बहुवचन बनाने के लिए 'प्रभुस्वार' का प्रयोग किया जाता है। देवस्तु देव ही देवहि यदि रूपों में शब्द की प्रकृति, संस्कृत के समान विकार को प्राप्त नहीं होती।

(९) विभक्ति विनियम :

यह विधिवाद है कि समूची धारक शब्दस्था विवक्षः पर प्रयोजित है। विवक्षा के द्वारा से विभक्तियों का संपन्न में विनियम संभव है। सम्बन्ध = तत्त्व के बोध के अतिरिक्त विभक्तियों के दूसरे कार्य भी हैं। प्रपञ्च'ग में विभक्ति विनियम एक व्यापक प्रवृत्ति है।

जैसे—कर्ता के लिए पंथी विभक्ति का प्रयोग :

राहुपयोहरहं जं प्रावइ तं ह्येइ (राधा के पयोधर जो धाहिं गे वह होगी)। कर्म के लिए पंथी—कंसहु सत कहिय पाइकके (प्रभुचर ने कंस से बात कही), सम्प्रदान के लिए पंथी—“लज्जिजइ संवेतइो केलेहि लुहयजगम्बु” युवगरन को संवेश देते हुए आज आती है। करण के लिए पंथी—कपु खु सौहहो उरमिअइ, प्रिय की जो निह में उपमा दी जाती है। संबन्धन के लिए पंथी—धवलु निगूरइ सानियही धवल स्वामी के लिए सम्बोधन करता है। इसमें पंथी विभक्ति की व्यापकता सिद्ध होती है।

(१०) लिंग विचार :

किस शब्द का लिंग लिंग हो ? इसमें निर्णय का कोई तर्कसंगत या प्राकृतिक आधार नहीं है। पर्वकलि का कहना है कि लिंग का अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि यह लोक के अधीन है। शब्दवाचक धारा: पुंलिंग और बहुवचन है, कथनं नपुं लिंग है, और लकी स्त्रीलिंग है। संस्कृत शब्द (नपुंसकलिंग) प्रपञ्च'ग में पुंलिंग है—अम्मा लम्मा बुंजरहि (बादल गड़गड़ो से जा लगे हैं)। संस्कृत में पुंलिंग शब्द प्रपञ्च'ग में नपुंसक लिंग है :

'वाय-कु'वाह' वास्तु' । पुलित्त डाल (वाह- वाह- वाह- वाह) मनु'सक विभ में है—पुष्ट डाल' मोरंतु (किर डालों को मोरंतु है) । हिन्दी 'वन' संस्कृत आवा से निकल: गन्ध नहीं है । इस प्रकार गन्ध में लिंग को अनुप्राणनहीनता का कारण लोकाप्रकृति है ।

(११) भाववाचक प्रत्यय :

भाववाचक संज्ञा के लिए संस्कृत में दो फीरता शब्द आते हैं । महाभाष्य प्राकृत में द्रव और तण प्रत्यय आते हैं । इतना ही में तण और तण प्रत्यय आते हैं : जैसे बहूदण्यं पलनण् । स्वसलो : एव' सूत्र में 'तण्' का उल्लेख है, तण् अब नहीं । लगता है संस्कृत भाववाचक त्वप् में तण् तण् का विकास हुआ हो । संस्कृत गन्ध तण् का रूपभेद में प्रत्यय बनता है । तुलसीदास का प्रयोग है : विभवण् । इसकी जगह वेवण् पाठ स्वीकार किया गया है जो तर्कयोग्य नहीं । प्रेम स्वयं भाववाचक गन्ध है इसमें भाववचन प्रत्यय नहीं लगता । अतः वेवण् पाठ ही उचित है ।

(१२) स्वाधिक प्रत्यय :

स्वाधिक प्रत्यय संज्ञा में लगने वाला वह प्रत्यय है जिसके कारण उक्तवा मूल अर्थ नहीं बनता; परंतु उक्तवा शब्द सुन्दरता या जाती है । संस्कृत में 'क' स्वाधिक प्रत्यय है जैसे—घांसक, लक्ष्मण इत्यादि । भाष्यशास्त्र में चट्ट स्वाधिक प्रत्यय है; जो द्रव प्रकार हैं—घा, उड और कुल । इनके मेल से उड+घ कुल+घ, कुल उड, स्वाधिक प्रत्यय बनते हैं ।

(१) घ = पथिक > पहिघ (२) उड = घोष + अड = घोष उड घोषडा (३) कुल = कुडली, (४) उड + घ = दिवउड, (५) कुल + घ = पुडुलउड (६) कुल + घ = वतुलनघ । उदाहरण (१) शिड उडउड वाह = पथिक रहता हुआ आता है । (२) मनु संतही से उडउड = मेरे पति के दो घोष हैं । (३) कायकुडली पथिक उडि = काय कथी कुडिदा पांच (उडिदा) से बनकर है । (४) फोरेन्सि के शिपउड घण् = जो अपना हृदय घोष देने है । (५) कुडुलउड घुनी हीउरउड = बड़ा घुनी-घुनें ही आघवी । (६) वेवण्ये वातुवतुलनघः श्राद्धुर्वा का दल वेवण्ये हिन्दी में सुखडा, कुवडा आदि अर्थ इसी प्रक्रिया से विकसित हुए हैं ।

सर्वनाम :

सर्वनाम उसे कहते हैं जो सबका नाम हो, वह किसी भी नाम के चले जा सकता है । मैं (उत्तर पुरुष) तुम (मध्यम पुरुष)

एक वचन	बहु वचन	एक वचन	बहु वचन
क० — 'ह'	अम्हे अम्हद'	क० — 'तु'	तुम्हे तुम्हद'

1) यह उड कुल स्वाधिक क लुक का । संवत्सरे । एकवा: सो ङि ।

कर्म — मद्	कर्महे कर्महद्	कर्म — तद्	पद्	तुम्हे तुम्हद्
कररा — मद्	कर्महेहि	कररा —	" "	तुम्हेहि
कपा० — गद् मरम्	कर्महे	कपा० — तउ	तुम्क	तुम्कहं
कधि० — मद्	कर्महातु	कधि० — तद्	पद्	तुम्हःतु
कम्बन्ध—मद् मरम्	कर्महं	कम्बन्ध—तउ	तुम्क	तुम्हं ।

संस्कृत सर्व के स्थान पर अपभ्रंश में सव्य और साहू होते हैं ।

निर्देश वाचक बहु पुराण में

एक वचन	बहुवचन	एक वचन	बहुवचन
क० — मध्व सव्यो सव्य	सव्ये तथ्य सव्यः	क० — सो तु स	ते
कर्म — " " "	" " "	कर्म — तं	ते
कररा — तत्वेरा	सव्येहि	कररा — तेरा तद्	तेहि
सर्वे	सव्येनि	ते त्	ति
कपा० — सव्यहे	सव्यहं	कपा० — तहे तउ	तहि
सव्याहा	सव्याहु		
कधि० — सव्यहि	सव्यहि	कधि० — तहि	तहि
		तहि	
कम्बन्ध — तथ्य सव्यतु	तथ्य सव्या	कम्बन्ध — ततु	तह
सव्यहो	सव्यहं	तह	

दूर निर्देश वाचक सर्वनाम (शब्द) यह पुल्लिङ्ग ।

एक वचन	बहुवचन	एक वचन	बहुवचन
कर्ता—एहो	एव	कर्ता—तं तु	ते
स्त्रीलिन		कर्म—तं	ताउ ति
क० — एह	एवैव एहाइ	कररा—तद्	कहि
		तिए	
		ताए	
	नपुंसक लिन	कपा०—तहं	तहि
		तहै	
क०—एहु	हद्द' एईव'	कधि०—तहि तहि	तहि
कर्म—एहु	एदर' एईव'	कम्बन्ध—तह तहि	तहि

इदम् (यह) के स्थान पर 'आय' आदेश होता है । पुल्लिङ्ग में इसके रूप 'सव्य' शब्द के समान पवते हैं । नपुंसक लिन में निम्नलिखित रूप होते हैं—

एक वचन	बहु वचन	रीतिवाचक
कर्ता—इमु	यापदीं सायापदीं	द्विस प्रकार = वेम, जिम, जिह, जिघ ।
कर्म—इमु	यापदं भायापदं	दस प्रकार = तेम, तिम, तिह, तिव
कौन (प्रथमवाचक) ।		त्रिस प्रकार = केम, किम, किह, कित्र
कवण और कादं ।		अन्य वाचक
सादृश्यवाचक सर्वनाम ।		एही = एत्तु
जैसा = जइसो, जेहू ।		तहाँ = तेत्थु (ततु) ।
तैसा = तइसो, तेहू ।		तहाँ = केत्थु (कत) ।
कैसा = कहसो, केहू ।		जहाँ = जेत्थु (जत) ।
इत जैसा = एरिस ।		अहाँ वहाँ = एतहे तेतहे ।
तुम्हारे जैसा = तुम्हारेरिस		अब तक = जामहिं ।
		अब तक = तामहिं ।

सुत्र निर्वचन :

उपयुक्त कार्यों के लिए निम्नलिखित शब्दःसुत्रासन में निम्नलिखित सूत्र है—

- (१) सर्वस्य साहो वा । सर्वं शब्द को साहू श्रुता है ।
- (२) सवादि :— ट से ह्रां = सर्व को अर्थात् एक वचन में 'ह्रां' होता है ।
- (३) अं हिं—शक्तिकरण के एक वचन में 'हिं' होता है :
- (४) एतयः स्त्रीपुं कर्मिभे एह एहो एद्दः एतः को तीनों विनों में क्रमशः एह एहो और एहु होते हैं ।
- (५) एद्द जन्मसोः = कर्ता और कर्म के वाच्यन में 'एद्द' होता है ।
- (६) क्रिमः काद् कवर्णो = क्रिम के स्थान पर कवण और काद् होते हैं ।
- (७) अतां इइमः =
- (८) मादुक् तादुक् कीदृक् ईदृशां वदे ईदृः ।
- (९) कर्षं पथाः तथा चादि रे मे से हे धा शितः =
- (१०) अथ तक्षपोऽस्त्राय शिदेऽवत्तु ।
- (११) एत्थु कुपात्रे = कुत्र और अत्र को 'एत्थु' होता है ।
- (१२) 'अथ वेतहे'— अ' शब्द को वेत्तु होता है ।
- (१३) मत्तवः स्वमो ध्रुं जं
- (१४) अतो जेतल
- (१५) इदमः अयः = इवत् अयद को 'अय' श्रुता है ।

संख्यावाचक शब्द :

अपभ्रंश के संख्यावाचक शब्दों के विकास का मूल स्रोत संस्कृत के संख्यावाचक शब्द हैं । हिन्दी अपने संख्यावाचक शब्दों का विकास अपभ्रंश प्रक्रिया के माध्यम से करती है ।

१ एक एककी एगो] एकका एका	= एक	१२ दो दुवे दोबिला] दुबिला वेबिला विण्ण	दो
३ ति तिथिण	तीन	१४ चउरि चत्तारि] चत्तार	चार
५ पंच, पञ्चण	पांच	१६ छह	छह
७ सप्त	सात	१८ अट्ट	आठ
९ तव	ती	१० दस	दस
११ एगारह] एकारह	ब्यारह	१२ बारह	बारह
१३ तेरह	तेरह	१४ चउदह	चौदह
१५ पण्णारह	पन्द्रह	१६ सोलह	सोलह
१७ सत्रह	सत्रह	१८ अट्ठारह	आठारह
१९ एकुण्णबीस	उत्तीस	२० बीस] बीसा	बीस
२१ एककवीस	दसवीस	२२ बावीस	बाईस
२३ तेवीस	तेईस	२४ चउवीस	चौवीस
२५ पंचवीस	पचवीस	२६ छववीस	छववीस
२७ सप्तवीस	सप्ताईस	२८ अट्ठावीस	आठ्ठावीस
२९ एगुण्णवीस	उनवीस	३० तीस	तीस
३१ एककवीस	दसवीस	३२ बत्तीस	बत्तीस
३३ तेतीस	तेतीस	३४ चउतीस	चौतीस
३५ पंचतीस	पँतीस	३६ छत्तीस	छत्तीस
३७ सत्तीस	सँतीस	३८ अट्ठतीस	आठ्ठतीस
३९ एगुण्णबालीस	उनहलीस	३९ बालीस	बालीस
४१ इककबालीस	इककालीस	४० बाणालीस	बाणालीस
४२ त्रियःलीस	तेतालीस	४१ चवःलीस	चवःलीस
४५ पंचबालीस	पँतालीस	४३ द्विमाःलीस	द्विमाःलीस
४७ सत्बालीस	सँतालीस	४४ अट्ठबालीस	आठ्ठबालीस
४९ एककूण्ण पण्णत्तास	उनत्तास	४५ पण्णत्तास] पँत्तास	पणत्तास
५१ एउण्णत्तास	इकणःत्तास	४६ दुवण्णत्तास	द्वयण
५३ त्रिण्णत्तास	त्रयण	४८ चउवण्णत्तास	चौवण
५५ पंचपण्णत्तास	पचणःत्तास	४९ छण्णत्तास	छणण
५७ सत्तवण्णत्तास	सत्तावण	५० अट्ठवण्णत्तास	आठ्ठवण
५९ एकुण्णत्तास	उत्तवण	५१ सट्ठि	साठ

६१	एरतसट्टि	इकनठ	६९	ब्रासट्टि	बासठ
६३	विमट्टि	वेसठ	६७	चउसट्टि	चौसठ
६५	पंचसट्टि	पैसठ	६९	छासट्टि	छियासठ
६७	गतसट्टि	सइसठ	६९	शुद्धसट्टि	शुद्धसठ
६९	एकुण सतरि	उनहत्तर	७०	सत्तरि	सत्तर
७१	एकहत्तरि	इकहत्तर	७१	दुसतरि	बाहत्तर
७३	तिसतरि	तेइसतर	७३	चउसतरि	चौहत्तर
७५	पंचसतरि	पचहत्तर	७५	छसतरि	छहत्तर
७७	सतसतरि	सत्तर	७७	शुद्धसतरि	शुद्धहत्तर
७९	एककुणसी	उणसी	८०	शसी	शसी
८१	एककासी	इकसी	८१	बासी	बासी
८३	तेयासी	तेरासी	८३	चउरासी	चौरासी
८५	पंचासी	पचासी	८५	छायासी	छियासी
८७	सरासी	सठासी	८७	शुद्धासी	शुद्धासी
८९	एवासी	नवासी	९०	एणइ	नवई
९१	एकएणवइ	इकानवे	९१	दुएणवइ	धानवे
९३	विएणवइ	वेरानवे	९३	चउएणवइ	चौरानवे
९५	पंचएणवइ	पंचानवे	९५	छएणवइ	छियानवे
९७	सतएणवइ	सतानवे	९७	शुद्धएणवइ	शुद्धानवे
९९	एणएणवइ	विणानवे	१००	सथ	सौ

अध्याय शीर हिन्दी के संज्ञावाचक शब्दों की तुलना से स्पष्ट है कि उनमें गहरी समानता है। हिन्दी में अर्धशब्दों के संयुक्त शब्दों की दीर्घता बिल्कुल ही नहीं है, बल्कि प्रयोग हिन्दी स्वीकार नहीं करती, एक से अनेक वाले समस्त संज्ञा शब्दों में ए की इ लक्षणादि होता है। एकएणवइ = इकसीत। दो का द केवल दो में सुरक्षित है, बाकी समस्त शब्दों में व सुरक्षित है - बारह बारह सत्तरदि। पंच के पच शीर पच दोनों रूप सुरक्षित हैं। उच्चोच्चोच्च में उन संयुक्त का संक्षिप्त रूप है।

विश्रायक संज्ञा शब्द :

हिन्दी की विश्रायक शब्द अध्याय की विकास प्रक्रिया से प्राप्त हुए। पाय (१) पाय > पाय > पाय। पाय = रुद्ध > पाय > पाय। शब्द का शब्द रूप भी संभव है। पौन-पौन > पापौन > पापौन > पौन। सवा-सवा > सवाश > सवा > सवा। डे = शब्द (साक्षात् शीर एण) शब्दशब्द > शब्द > शब्द। य शीर द संज्ञा हिन्दी में शीर द हो जाती है। अर्धों के Quarter and one, Half and one के समान सवा शीर शब्द शब्द। डॉ देवेन्द्रनाथ शर्मा ने पाय की तुलना पर द्वि शब्द से शब्द का विकास माना है। उनका कहना है कि यहाँ शब्द द्वि

(प्राधा कर्म से) होना था; परन्तु पूर्वनिपात की प्रक्रिया से (राज्यतन्त्र की तरह) द्वि-
 शर्ध ही गया है। यह दूर की कल्पना है। शर्ध द्वि श्रौर त्रि शर्ध का श्रय एक है,
 यावः श्रौर दो, दो श्रौर प्राधा—अर्थात् शर्ध Two and half न कि प्राधा कर्म
 से। शर्ध एक से व्युत्पत्ति शीघ्री श्रौर मरग है। शर्ध = शर्ध + द्वि = अर्ध + द्वि >
 अर्धशर्ध > शर्ध । डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा ने इसकी व्युत्पत्ति शर्ध त्रि (प्राधा कर्म तीन)
 से मानी है, जो तर्कसंगत नहीं, शर्ध त्रि का श्रय होगा यावे तीन + न कि शर्ध ।
 पशुधा / शूठा = शर्ध + त्रि > अर्धशर्ध > अर्धशर्ध > शूठा । एकारि शर्ध शर्धों
 की व्युत्पत्ति कुछ विद्वान् संविन्ध मानते हैं, परन्तु उनकी व्युत्पत्ति अश्रयिध है ।
 एकारि - एकभागीय > एकशर्ध > एक शर्ध > एक शर्ध । कुशरि दोशर्ध = द्विभागीय >
 कुशरिध > कुशरि । तिहार्ध > त्रिभागीय > तिहार्ध > तिहार्ध । चौशर्ध । पाँच के प्रा-
 यः श्रयय जोड़ते हैं जो संस्कृत 'म' का विवतस है ।
 गुलाबक श्रय शब्द शीघ्रता = अत्युत्पत्ति > अत्युत्पत्ति > अत्युत्पत्ति > शीघ्रता ।

समूहवाचक संख्या शब्द :

द्वका = एकक > एकक > एकक > एकक । दुक्की > द्विकी > दुक्की । त्रिकी =
 त्रिकी > त्रिकी । चतुःक > चतुःक > चतुःक > चतुःक । पंचक > पंचक > पंचक >
 छषक > छषक । सप्तक > सप्तक > सप्तक । अष्टक > अष्टक > अष्टक । दहला = दशक >
 दशक (प्रथम के पहला की तरह) । दशक > दहला । दहला के अनुकरण में पहला
 शब्द का विकास हुआ; भाषा में पहले का पहला है परन्तु जीवन में लोग पहले
 पर दहला मारते हैं । पहला चौथा पाँचवा शूठा आदि की व्युत्पत्ति सरल है, परन्तु
 दूसरा तीसरा की व्युत्पत्ति कुछ कड़ी है । डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा ने इसकी व्युत्पत्ति
 संविन्ध स्वीकार की है । कुछ विद्वान् संस्कृत द्वितीयक : तृतीयक से इसका विकास
 मानते हैं । मेरे विचार से द्वि-+तृ, त्रि + तृ के दूसरा तीसरा का विकास हुआ है ।
 दूसरी व्युत्पत्ति यह है कि त्रिक से त्रिस्त त्रिस्त तीसरा बना श्रौर उसके अनु-
 करण पर द्वि से दूसरा । शर्मा इस बारे में जीवन की प्राच्यकता है ।

आस्यात (क्रिया)

जो सब ओर से ख्यात हो वह है आख्यात । नाम, आख्यात, उनसमें और विगत में, वचन आख्यात का रूप होता है; परन्तु 'यास्य' में उसका स्थान प्रथम है । आख्यात या क्रिया का मूलरूप धातु है, जो उसके सभी रूपों में पाया जाता है । संस्कृत की तुलना में अपभ्रंश के क्रियारूप सरल और थोड़े हैं । अपभ्रंश की क्रियाओं का विकास परम्परागत क्रियाओं से हुआ है । अपभ्रंश धातुओं के निम्नलिखित प्रकार हैं—

(१) संस्कृत धातु से विकसित क्रियाएँ : जैसे लिखति से लिखइ, पठति से पढ़इ (२) संस्कृत की साठ्यभाज क्रियाओं से विकसित क्रियाएँ, जैसे करइ, धरइ, मरइ इत्यादि । ऐसी क्रियाओं को विकरता क्रियाएँ भी कहते हैं । (३) सम्प्रत्यय धातुएँ, जो प्रत्यय सन्निहित क्रिया शब्दों से विकसित हैं, जैसे प्रविष्टि से पढ़इ, वपविष्टि से बिट्ठइ, उत्तिष्ठि से उट्टइ इत्यादि (४) ध्रुवकरणात्मक धातुएँ वे हैं जो ध्वनि के ध्रुवकरण के आधार पर षट् ली जाती हैं जैसे भलभलइ, भलभलइ, रणरणइ इत्यादि । (५) देशी धातुओं में उन धातुओं की गिनती है, जिनका विकास संस्कृत या परम्परागत भाषा की धातु से सिद्ध करना संभव नहीं । इनमें से कुछ धातुओं का विकास परम्परा से दिखाया जा सकता है । शेष देशी धातुओं को धारादेश के द्वारा सिद्ध किया गया है ।

क्रिया की रचना में तीन तत्त्व लक्ष्य हैं, काश, वचन और पुरुष । अपभ्रंश क्रिया रचना में संस्कृत धातुओं के गणों, लकारों और पदों (धातुमेपद/परमेपद) की व्यवस्था का प्रभाव है । उसमें केवल दो वचन हैं, एकवचन और बहुवचन । पुरुष तीन हैं, उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष । अपभ्रंश में मुख्यतः तीन काल हैं, सामान्य वर्तमान, सामान्य भविष्यत्, मिथि और आशा ।

सामान्य वर्तमान

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	करमि करउं	करहुं करिहु
म० पु०	करहि करसि	करहु करहु
अ० पु०	करइ करेइ	करहिं करति
सामान्य भविष्यत्		
	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	= करैसि	करैसहुं

	करोड़मि)	
म० पु०	= करेसहि)	करेसहु
	करेसमि)	करेसही
ध० पु०	= करेमह)	करेतहि करेहिनि
	करेतह)	
	विधि	
	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	करिअहं	करिअतं
म० पु०	करिअहि	करिअहु
ध० पु०	करिअत	करिअतु
		करिअतुं

भाषा में इ, उ और ए विभक्तिवत् लयती है ।

विलम्ब (उ) ठहरो, सुमरि (इ) याव करो, करे (ए) करो । सामान्यभूत में कर्मणि कृदंत के प्रयोग की बहुलता है । पयउ, दिट्टउ, दिट्टी, गदिआया । कर्मणि भूत कृतंत में क्रिया कर्म के अनुसार होती है । 'दिट्टी राय सेज्ज'—नाभ-शय्या देखी । दिट्टउ धणु—धनुष देखी । अफअ की भूत कृतंत रचना संस्कृत के भूत कृतंतों से प्रभावित है—उदाहरण सेनात समक में आएगी : कि आओ सि एउं एउं कि रदपउं (किमाभतोऽसि एतद्, कि रचितम्) । क्यों आए हो, वह क्या किया है ? यह, संस्कृत वाच्य का सीधा अनुवाद है ।

संयुक्त क्रिया या वियुक्त क्रिया :

हिन्दी की भाषावैज्ञानिक पुस्तकों में 'जाता है' के 'जाता है' को संयुक्त क्रिया कहा गया है, क्योंकि उसमें 'जाता' और 'है' क्रिया का योग है । यह निविवान है कि प्रायुक्तिक भारतीय धर्मशास्त्रों का विकास, संयोगात्मक से वियोगात्मक में हुआ है । ऐसी स्थिति में हिन्दी क्रिया संयुक्त न होकर वियुक्त होगी । संस्कृत तिङन्त क्रिया संयुक्त क्रिया है क्योंकि उसमें जाल, वचन और पुरुष का बोधक तत्त्व एक साथ जुड़ा रहता है । कृतंत क्रिया में काल और पुरुष का बोधक तत्त्व क्रिया से होता है । हिन्दी क्रिया कृतंत प्रधान क्रिया है, अतः वह वियोगात्मक क्रिया है, न कि संयोगात्मक । अफअ में भविष्यकाल के लिए वर्तमान काल की क्रिया का प्रयोग होता है । 'जम्' ऐसी विभक्ति है कि जिसका प्रयोग वर्तमान, भविष्य और विधि—तीनों में होता है :

इसेज्ज—वह हंसता है, वह हंस, वह हंसिगा ।

कृतंत :

कृत प्रत्यय से युक्त शब्द कृतंत कहलाते हैं । भूत कृतंत का लक्षणे ही चुका है । वर्तमान काल के कृतंत में 'अ' जोड़ देते हैं—करत, धरत, मरत; कभी कभी

आत्मनेपथ का प्रत्यय 'मान' भी लगता है जैसे 'पविस्त्रमाण' । ऐसे प्रयोग विरल हैं । भविष्यकाल में एत्वत्, एत्वद् और एत्वा प्रयोग आते हैं, जो संस्कृत तन्त्र के विकार हैं । करिण्त्वत्, मरिण्त्वद्, करेत्वा इत्यादि । 'मनु करिण्त्वत् किं पि नचि' मुझे कुछ भी नहीं करना है । 'मरिण्त्वत् पर देव्यद्' केवल मरने दिया जाए ।

पुर्वकालिक क्रिया :

मुख्य क्रिया के पहले सम्पादित क्रिया पुर्वकालिक क्रिया या कृतं है । हिंदी में इसके लिए 'कर' का प्रयोग होता है । इसके लिए अपभ्रंश में चार प्रत्यय हैं—**क** = धरि, **इवि** = धरिवि, **इत्** = धरित्, **एवि** = धरवि । इनके अतिरिक्त एपि (धरेपि), एपिणु (धरेपिणु), एवि (धरेवि), एविणु (धरेविणु) प्रत्यय भी आते हैं, इन सबका अर्थ है धारण कर । अन्तिम चार प्रत्यय क्रियाबन्ध क्रिया के लिए भी प्रयुक्त हैं । जैसे - ऐपि घसेतु बतु = का अर्थ होना; घणेष बभ जोतकर या जोतना ।

इनके अतिरिक्त क्रियाबन्ध क्रिया के लिए चार प्रत्यय 'और' हैं एवं (देवं), धरा (करण), धराहं (करणहं), धराहिं (करणहिं) इनका क्रमशः अर्थ होगा देना, करना । क्रिया के लिए आने वाली क्रियाक्रियाबन्ध क्रिया है, हिंदी में इसके लिए 'ना' प्रत्यय लगता है, जैसे अन्नय देना कठिन है ।

ग्रीक साहित्य और स्वभाव के अर्थ में 'अणय' प्रत्यय आता है । जैसे—हणय = हसनशील । हिंदी की क्रियाबन्ध क्रिया के 'ना' का विकास 'अणय' से जुड़ा हुआ है । संस्कृत के 'दत्त' से बने दिव्य दे, उरका विधास नहीं हुआ जैसा कि कुछ विद्वानों की धारणा है ।

देशी धातुएँ :

अपभ्रंश सेवाकरण धारणाधिस द्वारा कुछ धातुओं का उल्लेख करते हैं जिन्हें देशी कहा जाता है । इनमें कुछ धातुएँ ऐसी हैं जो संस्कृत धातुओं से सम्बन्ध हैं, जैसे—खव<नम<रो<र<रोमा । राचव<नृव=नाचना । छा<छाद=पाना । पड़<पत=पड़ना । सक<सकष=सकना । लग<लग=लगना । लुट=लुटना । जिम्म<जिम=जोसना । हाटु<नषव<नष्ट=नाश होना । यष<युष=च्युत होगा । वुए<विन=पुनना । धिन<जि=जोतना । हुए<सुए<अ=धुनना । धुव=धु=स्तुति करना । लुव<सुए=लुनना । दे<दा=देना । ले<सा=लेना । गच्छ<गच्छ<गम=गाना । इच्छ<इष; इच्छा करना । यच्छ<यम=याचना करना । अच्छ<अस=हाना । जुषक<युष=यूकना । वुष्क<युष=समझना । विष्क<युष=घासकः होना । सिष्क<सिष्=सिद्ध होना । मुष्क<मुष्ट=मोहित होना । जम् जाम=जागना । धिद<धिद=खेव करना । विव<विद=भेदना । धूष क्षूव<धुन=धुनना ।

द्वारे नर्ग में ऐसी घातुएँ हैं जिनमें अग्निपरिवर्तन प्रक्रिया की व्याख्या अनु-
शासन से परे है - वज्र<वज्र<जाना; केर<केर<वेष्ट = वेष्टना, घेरना। उद्वेलन<
उद्वेगित होना। भाट<सद = तप होना। वेप = बह, वेपद = वेरना। शीहर
<भाकवन = चिल्लाना। जूर = बध = गुस्सा करना। शिउभर<शि = जोशी
होना। श्वर, पशुवह<धुम = श्मश्र होना। वेसह<सच = जड़ना। रिसुर = शिद
= लेद करना। बुवध, डिक्क<गर्ज = गजना। शिउडुन डिप<शिउध =
गलना, रंड<ग्रंथ = गांठना। सट/षट<षट<गढ़ना। उत्पन<उत्पल =
उत्पलना। भाइध भाजिध = गु'चना, जन<जा = जन्म लेना। भँख<तप = संतप्त
होना। शोहीर/विहोड<ताड = ताड़ना। शोमुक्क<शिम = तेज भरना, शोहास
<तुल्य = तोड़ना। शोहर/शोसर <शवि + तु = उल्टा करना अपहरण करना।
तिप <तुप = संतुष्ट करना, विसह <दल = डूटना, संनाम <साह = सादर करना।
रवधील<बोलन भूलना, सद्द<धउ = श्मश्र करना, कुँठे उड़धूल, धूल उड़ना।
उद्वृम<उद्वम = साधना करना, सोल्ल <पच = पकाना, तोरध <ईर = प्रेरित
करना है, सोल्ल <शिप = जेतना; पुच्छ <पुच्छ = पॉखना, मोल्लान, पल्ल <पल्लव्य
हकना, साच्छविल करना, बुध = बू = बोलना, ककक <कक = भीषे जाना, शिहोड
<नामप-गिराना, शोहिर उग्ध <ई = नींग लेना, जेधना, तालिअट <भामम =
पुमाना किराना। वृसल विरोध, मथली है विजोना, धीसाल / मेनव = शिभ्रण
करना, मोनड <भक्ष = चुपड़ना, गुम्म <गुह = मुग्ध होना, पन्नाग/या <पले =
सूधना कुम्हलाना, जव <यागय = जाता है, राव <एज = गोहित होना; उत्पध <
कड = ऊपर फेंकना, बलगा <बह = धारोहना करना;

बच्चार)
बेलन) उपालंभ = उलाहना देना, शोभगत बगाल <चोमंथय = जुगाली
पन्चार)

करना, जीह <तपज = लज्जा करना, लिप <लिप = जीवना, संभाव <बुध = संभावना;
श्वउच्छ <रहाद = शान्त करना, शोश्मा <उड वा = गूडना। पक्थोड <विकोशय
= खिलना, रिह <रिग <प्रविम = रेंगता है, वेज <बीज = हवा करना, उध
वि <नुत = धंसना। सायल्ल <साभाजक, डेप = कांपना, परिछाल <वेष्टय =
तपेटना। परिछाम्ग <अनुज = अनुसारण करना। परिछाम्ग <प्रतिजघेतु =
सम्हालना। भह/पक्थोड <रह = कांपता है, गिराना। पठिमा पठिसाम <सम =
शांत करना, शिप्य <विशम = विधाम करना है, पध <गस = ज्ञाना लेना, मज्ज
<निमज्ज = डबना, शाल्लिय <अपमृप = फास घाटा। हूल <रखज, गिरत,
सिह वृम <रगुह = चाहना। कदवः, लिस् लोह <स्वप = सोना। गुंज = ह्य
= हंसना, शार <प्र ह = वाद बिलाना। शोक्क / कोक्क <व्याहार = बुलाना।
विटव <गज = उपाजन करना। शोक्षम्ग <घास = व्याप्त होना। रामःशःसम
<याप = समाना। शिहव <कामय = संभोग की इच्छा करना। कोशा <दिकरा

लेक, मोटास क्लिक्चि <रम = कीड़ा भरना । सह रेह टिर ग्रन्थ <राज = शोभित होना । भोश्मुड उल्लुड पल्लस्य <विरचय = नष्ट होना । उमल ऊमु'भ, झारोह शिल्लस गुम्बोल गुलघा अ <उल्लत = प्रगल्भ होना । निक्क शिल्लुक्क शिल्लिक्क निक्क लक्क शिक्क > यावीन = जियना प्रच्छन्न होना । निरा विराअ <विमीन = नष्ट होना । वेह्व वेल्क जूरव उम्मन्ठ <वध = उधना । अयवःस, पचिंयल, सामन्थ <विलथ = शालिगन करना । नेहः मिल डाड वरहाट <निः सु = वाहर करना । शिरण्य वनक चिट्टा <स्था = बैकता । उट्ट उवक <उम् रथा = उठना है । छिथ धालुक्क करिस फास फंल धलिः छिट <सुथ = सूना । भर मुर सुमर विम्पूर हर हल मुठ पन्नर पम्पुह <सु = याद करण । बीसर <विस्सु = भूलना । चौथे प्रकार की धातुएँ वे हैं जिनमें एक ही धातु के स्थान पर विभिन्न अर्थ में विभिन्न भावों होते हैं: जैसे

ह धातु से—घाँघ कानी करके देखता = विचारह (सांगेक्षितं करोति), शिल्लुडह = स्तब्ध करता है (निष्कर्म करोति) वापम्पुह = थम करता है (थमं करोति) संदावह = सहारा देता है, (अवच्छेदं करोति), शिल्लोलह = भोठ थोष कर देवता है (पन्पुला घौषं मालिनं करोति), गुललह = थापल्लुकी करता है (पट्टुं करोति), शिल्लु'छह = गिरावा है (निष्पतनं करोति), पधल्लह = शिथिल होता है (धीमिस्मं करोति) खुटवकह = खुटखुट करता है (खुटल्लह) ।

सुख निर्वैलः १. अन्त्य अयस्यायस्य 'ल' । २. बहुश्चे द्वं । ३. त्यादाविराधयस्य बहुत्वे हि न वा च. बहुश्चे द्वुः ४. वर्येस्मति श्वस्य सः ५. हिस्वयो रि ।

युग और साहित्य

वैसे, ईसा की चौथरी सदी के आधुनिकता के रूप में अथर्ववेद का उल्लेख मिलने लगता है। सामूहिक और बंदी के उल्लेखों के अनुसार, अथर्ववेद को साहित्यिक भाषा का दर्जा छठी सदी में मिल चुका था। कश्मिक शैली उसकी विशेष शैली थी। संस्कृत के प्रसिद्ध गद्यकार वासुदेव ने प्राकृत कवि के साथ भाषा कवि ईशान का उल्लेख किया है। भाषा कवि से बड़ी अग्निप्राय अथर्ववेद कवि से है। स्वयंभू ने अपने स्वयंभूच्छंद में लक्ष्मण एक वर्जन अथर्ववेद कवियों और उनकी कवितार्यों के सम्बन्ध में हैं। इनमें से कई कवि प्रबंध कवि हैं। स्वयंभू ने चतुर्मुख को पदधिया ली के कर्ता के रूप में स्मरण किया है। अथर्ववेद का युग छठी से बारहवीं सदी तक मानना उपयुक्त है, इससे बाद से दो सौ साल अथर्ववेद का भारत और लक्ष हिन्दी साहित्य का युग प्रारंभ होता है। अथर्ववेद अथर्ववेद में साहित्य वर्जन इसके बाद भी होता रहा, परन्तु वह युग हिन्दी और उनकी बोलियों के साहित्य का युग है। बारहवीं सदी के अंत तक एक और हेमचन्द्र उसका ध्वजारण लिख रहे थे और दूसरी ओर अथर्ववेद 'सर्वेसारात्मक' की रचना कर रहे थे।

साहित्य उपलब्ध न होने पर भी, चतुर्मुख अथर्ववेद के अथर्ववेद कवि हैं, क्योंकि एक तो वह पदधियायंभु शिल्पी के दूसरे शरीर अथर्ववेद प्रबंध कवियों ने सम्भाव के साथ अथर्ववेद नाम लिया है। छठी से सातवीं सदी तक अथर्ववेद का युग होते हुए भी, अथर्ववेद का आधुनिक साहित्य स्वयंभू की रचनाओं से मिलता है। इस काल का संबंध, कई आधुनिक भारतीय अथर्ववेदों के साहित्यों के प्रारंभ से है, जैसे हिन्दी साहित्य, भरतनी साहित्य, गुजराती साहित्य इत्यादि। हमारा हिन्दी साहित्य से सीधा सम्बन्ध है, जो लक्ष्मण १०वीं सदी में प्रारंभ होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे और आधुनिक कहा है। दूसरे विद्वान् इसे भारत काल, प्रारंभिक काल या आरंभिक काल कहने के पक्ष में हैं। स्व. राहुल सांकृत्यायन, ७वीं सदी में प्रारंभ करते हुए इसे सिद्धार्थकाल कहने के पक्ष में थे। स्व. डॉ. नृजारी प्रसाद द्विवेदी का मत था कि इसे 'आधुनिक' नाम दिया जाए। उनका यह भी सुझाव था कि उन कवियों के रचनाओं को भी हिन्दी साहित्य में सम्मिलित कर लिया जाए, जिन्हें रत्ना शुक्लजी ने सांभारदायिक घोषित कर छोड़ दिया था। उनके अनुसार इस प्रकार चंद्रशेखरदायी हिन्दी के आधुनिकता के रूप में हिन्दी या दूसरी भाषाओं के साहित्यों की पृष्ठभूमि के रूप

में अपभ्रंश साहित्य का अध्ययन करना ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत जरूरी है, परन्तु उसे हिन्दी साहित्य मानना भाषा की दृष्टि से अर्थसाहिक है। चंद्रबरदायी की भाषा हिन्दी नहीं, अपभ्रंश है, जो अपभ्रंश का उत्तरवर्ती विकास है। इसलिए चंद्रबरदायी हिन्दी के साहित्यिक होने के कयाप, अपभ्रंश के अन्तिम कवि अधिक है। 'पृथ्वीराज रासो' के नायक पृथ्वीराज प्रोहान की हार, भारतीय राजनीति की दुःखद और गुणगौरवकारी घटना थी। रासो काव्यों की प्रवृत्तियाँ और रुचियाँ, वही हैं जो अपभ्रंश साहित्यकारों में थी। जलिकथाओं के नायक पौराणिक व्यक्ति हैं जब कि रासो काव्यों के लौकिक राजपुत्र हैं। यह सम्पूर्ण युग अपभ्रंश का युग है, भाषा और काव्य प्रवृत्तियों की दृष्टि से। उसका इसी रूप में सत्य और स्वतंत्र अध्ययन अपेक्षित है। विशेषी शासन के फलस्वरूप आलोच्य काल के भारतीय समाज का अन्तःप्रवाह अवच्छेद हो उठता है, राजनीतिक विघटन, सांस्कृतिक शिथिलता और अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों के फलस्वरूप जलिकथा चेतना को कुण्ठित कर दिया। अजीब विरोधाभास यह है कि समूचे साहित्य में राष्ट्रीय जीवन को पडलित करने का भी इन घटनाओं की कोई प्रतिशिक्षा अंकित नहीं है। समूचा अपभ्रंश साहित्य राग-विद्या को व्यक्तिगत परिणतियों स्वयं नरक के मुखद और अभावहू परिणतियों को दिवाने वाले दृश्यों में भरा हुआ है। अवच्छेद या रासो साहित्य में स्वदेशी सामग्री विशेषी सामग्री से मुक्त करते दिखाने गए हैं; परन्तु कवियों की दृष्टि नायकों के ऐश्वर्य, शौर्य और राग रंग के वर्णन में जितनी रमती है उतनी राजनीतिक सूक्ष्म-सूक्ष्म और राष्ट्रीय संकष्ट के दर्शन में नहीं। हिन्दों साहित्य के इतिहास के युग विभाजन में पहले यह तय करना जरूरी है कि साहित्य के इतिहास की कसौटी क्या हो? यह कसौटी भाषा ही हो सकती है, और जब आलोचककाल की भाषा हिन्दी नहीं है तो उसे उसमें सम्मिलित करना, किसी भी प्रकार तक संगत नहीं है। अपभ्रंश और अपभ्रंश में व्यापक साहित्य उपलब्ध है। उसे बीरगाथा, चारणकाल की प्रवृत्तियों तक सीमित नहीं किया जा सकता। उसे प्रारम्भिक काल या साहित्यकाल कहना तो और भी संकलित है, क्योंकि वह प्रारम्भिक नहीं पूर्णकाल है, उसमें हिन्दी साहित्य की साहित्यिकलीन प्रवृत्तियाँ नहीं, अपितु साहित्य की साहित्यिकलीन प्रवृत्तियाँ और दिलप है। सिद्ध-सामन्तकाल सामकरण में एक कमी यह है कि इसमें जैन विचार-धारा का प्रतिनिधित्व नहीं है, जबकि इसमें अधिकांश प्रदेश जैनों का है। उपर्युक्त तर्क के आधार पर आलोच्य युग को 'अपभ्रंशकाल' कहना अधिक वैज्ञानिक और सुकिसुक्त है।

सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ :

सातवीं सदी में अधिकांश भारत में बौद्धिक मत अधिक सुचारित और प्रबल था। एकांतदा रामायण ने इसकी स्थापना की थी, और वास्तव उसका राजनीतिक सहायक था। इस भक्ति की दो धाराएँ थीं आतवार और नाथवार। उस समय अधिकांश में मन्दिर ऐश्वर्यपूर्णां और कलात्मक थे। उसमें अर्धभूजा नृत्यनामय थी।

मन्दिर सामाजिक सेवा के केन्द्र थे। प्रकृति के विभिन्न दार्शनिक आचार्य इसी युग में हुए। राज्ञानन्द, कुमारिल भट्ट, माधव गमाकर, मंडन मिश्र, उदयन, सायण, वीरशैव, भक्तानन्द, धर्मकीर्ति, पाण्ड्यकीर्ति, प्रभाकर आदि दार्शनिक इसी युग की प्रेरणा हैं। नवी और दसवीं सदियों में कश्मीर और बज्जोड़ के राजवाशय में साहित्य सर्जन और समीक्षा के क्षेत्र में असाधारण काम हुआ। कश्मिरीय गुरु, ज्ञानन्वर्षन, श्रेयन्ध्र, मम्मट, बज्जोड़राज, भक्तभूति, श्रीहर्ष, राजशेखर आदि इसी युग में हुए। दण्डी, बाणभट्ट, सोमदेव आदि गद्यकारों का जन्म देने का अर्थ इसी युग को है। जहाँ तक चरितकाव्यों की परम्परा का सम्बन्ध है, वह अश्वघोष के बुजुर्गचरित से प्रारम्भ होती है। कालिदास का रघुवंश बह्मभक्तिय चरितकाव्य है। ऐतिहासिक व्यक्ति पर चरित काव्य लिखने की परम्परा बाणभट्ट के हर्ष-चरित से शुरू हुई। राष्ट्रकूटवंश समोधनवंश का शासनकाल संस्कृत और अपभ्रंश में जनपुराण-लेखन के लिए स्वर्णकाल था। नीति-कार्यों के रचयिता के रूप में भट्टहरि, अमरक, गोवर्धन आ और नीति-कवि के रूप में जयदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

साहित्य :

अपभ्रंश साहित्य के मुख्य तीन भाग हैं, प्रबन्ध-काव्य, अष्ट-काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबन्ध-काव्य, पुराणकाव्य और चरितकाव्य के रूप में उपलब्ध है। पुराणकाव्य, एक प्रकार से चरितकाव्यों का संग्रह है। चरितकाव्य के दो भेद संभव हैं : आत्मिक चरितकाव्य और रोमांटिककाव्य। एक में हमें कायगुणासन अंगेशाकृत आत्मिक चरित है जबकि दूसरे में ऐहिकता और स्वच्छन्दता का। हालांकि ये दोनों भी पुरुष के प्रभाव के रूप में विद्यमान हैं। संस्कृत जैन पुराण काव्यों एवं अपभ्रंश चरितकाव्यों की मूल प्रकृतियाँ समान हैं, परन्तु शैली-भेद और नियोजन में अन्तर है। चरितकाव्यों का उद्देश्य उन जैन महापुरुषों का चरित चित्रण करना है जो जीवन में चार गुणधर्मों को सिद्ध करते हैं। इनमें साध्यात्मिकता और काव्यचेतना का सम्बन्ध है। 'महापुराण' धर्म, दर्शन और काव्य का आकर-ग्रंथ है। 'महापुराण' की सामग्री की चर्चा करते हुए आदिनाथ ने एक जगह कहा है कि इसमें धार्मिक देश पुर राज्य शीर्ष तण दान गतिफल प्रकृत्युध आठों गुणस्थान का कथन होता है (२०१ म.पु.)। ज्ञान परिभाषा के अनुसार, 'सांभेय चरित' महाकवि पुष्यवंत के महापुराण का स्वर्ण खण्ड है, जो चरितकाव्य है और पुराण काव्य भी। अपभ्रंश कवियों के चरितकाव्य जैनचरितों पर आधारित हैं। उत्तर-कालिक अपभ्रंश (अवहट्ट) में लोकपुरुषों पर चरितकाव्य लिखे गए। चन्दनधारी का राक्षो काव्य इसी प्रकार का काव्य है, जिसे महाकवि तुलसीदास ने प्राकृतजन पुष्पागत कहा है। तुलसी के राम लोकोत्तर लोके हैं, और उनका व्यक्तित्व अपभ्रंश चरितकाव्यों के नायकों की कोटि का है। जब स्वामी तत्त्व अर्थकर सामाजिक

शोषण करने लगते हैं तो 'अवतार' का जन्म होता है। तीर्थङ्गों के जन्म की कल्पना के मूल में 'लोक कल्याण' की भक्षणा निहित है। इस प्रकार तीर्थङ्करवाद और अवतारवाद, एक ही समाज व्यवस्था की दो वैशेषिक परिणतियाँ हैं। हिन्दू पुराणों और जैन पुराणों प्रथम चरित्रवाचकों के लेखन की प्रेरणा और रुढ़ियों मगान हैं, अर्थात् वे किसी के प्रवृत्त के पुत्ररूप उत्पन्न होते हैं, जो श्रोता-वक्ता मीलों का अनुसरण करते हैं। जैन-परंपरा में अंतिम तीर्थंकर महात्मार की धर्मशभा में यथा श्रेयिक प्रश्न पूछता है और भवभू की ओर से दीतन गणधार उत्तर देता है उसी कथा को आधार बनाकर जैनपुराण वा चरितवाच्य लिखे जाते हैं। कुछ अपभ्रंश शब्देताओं में कथाकाव्य और चरितकाव्यों को लेकर मतभेद है। यथायं में ये दोनों विद्याएं एक हैं। अपभ्रंश कवि-चरित और कथा-शब्द का प्रयोग समान कर्षों में करते हैं। यह कठना भी तर्कसंगत नहीं कि जिस शलाका पुस्तकों पर काव्य-चरित काव्य चरितकाव्य है और धार्मिक पुस्तकों पर आध्यात्मिक काव्यकाव्य है। 'धार्मिक पुस्तक' वास्तव में पुण्य पुस्तक है, जो पुण्यवत्ता में अहित पुण्य के प्राप से महाधारण सुख-संभव का भोग करते हैं। इस दृष्टि से सभी पुण्य पुस्तक धार्मिक पुस्तक हैं। चरित शब्द का अर्थ करते हुए प्रमुक्त रचयंत लिखते हैं कि राम का जीवन, कष्टा या व्यापार ही चरित है। इस परिभाषा में रामायण और रामचरित के अर्थों का समीकरण है। संस्कृत में अवतार कथा और आख्यायिका में अंतर नहीं है। बाणभट्ट के अनुसार ऐतिहासिक वृत्त पर ऐतिहासिक काव्य, कथा है। भा. हेतुचन्द्र के अनुसार आख्यायिका का आधार स्वातंत्र्य है और वह संस्कृत मध्य में होने पर हिंदू कथा कथा किसी भी भाषा में लिखी जा सकती है।

प्रेम काव्य और प्रेमाख्यात्मक काव्य :

प्रेमकाव्य और प्रेमाख्यात्मक काव्यके विषय में विद्वानों में भ्रम है। प्रेमकाव्य और प्रेमाख्यात्मक काव्य दो अलग अलग काव्य हैं। प्रेमकाव्य में विस्तृत प्रेमकथा होती है। जब लौकिक प्रेम कथा, शारीरिक-प्रेम (दूरकहकीकी) की सिद्धि वा माध्यम बनती है, वह प्रेमाख्यात्मक काव्य है। अपभ्रंश चरितकाव्यों में से दोनों ही विद्याएं नहीं हैं। उनमें शृंगार की प्रचुरता है और प्रेमकथा भी है, परन्तु अंत में विरक्ति-बिह्वान में उसका पूर्वसंज्ञा होता है अतः उन्हें विस्तृत प्रेमकाव्य नहीं कहा जा सकता। उनके प्रेमाख्यात्मक काव्य होने का प्रश्न नहीं उठता। 'महिरथय कथा किसी भी अर्थ में प्रेमकाव्य नहीं है। कुत मित्याकर अपभ्रंश चरितकाव्यों की निम्नलिखित विशेषताएं हैं—

१. वे पद्यद्विधा अर्थ में रचित हैं, इसमें नायक के चरित का काव्यात्मक चित्रण होता है।
२. कव्य रुढ़ियों का निर्वाह यथासंभव होता है। जैसे सखन-सुखन वर्णन, गंगला-चरण, घास विनय, परम्परा का उल्लेख,

क्यातक रुढ़ियों का दृढमें प्रयोग है। ये रुढ़ियां कई प्रकार की हैं, अधौकिक

योजना, दौराणिक विन्यास पर आधारित रचियाँ (पूर्वजन्म कथन, भोगा वधः
झीं, मुष्टि का कथन इत्यादि), शोक विन्यास पर आधारित रचियाँ (शकुन वध-
मकुन)। पारिभाषिक दृष्टि से जैन चरितकाव्य धवल मंगल पुरुषों पर आधारित
काव्य है। धवल धर्मात् लौकिक दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्ति और मंगल धर्मगत धाम-
कल्याण में श्रेष्ठ व्यक्ति। दोनों दृष्टियों से श्रेष्ठ व्यक्ति श्वरसमस्त पुरुष है।
मंगल मालाका पुरुष ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष है। धर्मगत चरितकाव्यों में शहीदों के
चरितों का वर्णन है। ये काव्य अलंकार, रस, प्रकृतिवर्णन आदि सभी काव्य
तत्वों से भरपूर हैं।

सपथकाव्य :

सपथकाव्य के रूप में दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। पवित्ररासक (सहीह रासक)
और पथनगिरि चरित। सहीह रासक विस्तृत लौकिक काव्य है, उसमें जर्म
का पुत्र नहीं है। तीन प्रकृतियों की यह रचना सुखान विप्रलंब की रचना है।
काव्य रचियों (मंगलचरण, परिचय, उद्गीष्य कथन इत्यादि) के अनंतर दुनने
प्रथम में विजयपुर की एक नायिका विधोष से दुःखी है। वह राजमार्ग पर एक पथिक
को देखती है— जो खंभागत जा रहा है। वह उसे रोकती है। पथिक आठ पायःओं
में नायिका के मन का चित्रण करता है और कहता है कि वह मुनताम से एक
विषयन लेकर खंभागत जा रहा है। वह झिझक हीकर पथिक से प्रिय का स्पर्श
ले जाने का आग्रह करती है। वह जो कुछ कहती है वह अलंकृत और उहात्मक
शैली में है। त्रिय योग्य शत्रु में परदेश गमा था, अतः वह इसी प्रदु से अपना
कथन प्रारंभ करती है। विधोष गाथा की समाप्ति पर जैसे ही वह पथिक को विदा
करती है उसे अपना प्रिय आता हुआ दिखाई देता है, वह हर्ष से फूली नहीं समाती।
कवि की अंतिम मंगल कामना है कि नायक-नायिका की तरह इस काव्य को पढ़ने
सुनने वालों का भला हो, उनके कार्य सिद्ध हों। नायिका के कथन से सिद्ध है कि
उसका पति जीविका कमाने परदेश गया है, अतः उसके दुःखी होने का कोई कारण
नहीं। फिर भी कवि यदि विधोष चित्रण करता है तो इसका कारण यही हो सकता है
कि उसे इसके लिए कोई कथानक चाहिए। अतः यह कथन सही नहीं है कि मुंब
के बौद्धों के समान, बिल्वरे हुए मुक्तकों को कला के सहीन सुनों में विरोधक सम्पुत्र
रहमान ने सम्येतरासक नासक मुन्पर गीतहार रचा है क्योंकि इसमें गीत नहीं,
मुक्तक है। यह जरूरी नहीं कि गीत मुक्तक हों। इसमें कथा नहीं कथ्य है। इसमें
न अटना है और न कथा। विधोष का भी कोई वैवाही और मनोबैज्ञानिक संशोध
कारण नहीं है। लेखक के अनुसंधार इसकी अचना का उद्देश्य महदम वर्गीय पाठक
को संतुष्ट करना है। न तो इसमें गीतिकाव्य की तरह आत्मोन्मुखी प्रतिबन्धित है
और न अनुभूति-प्रकृतता। इसमें उक्तिवैचल्य के साथ गीतधार की जगह रचि-
धार है। वह प्रबंधकाव्य नहीं है; परन्तु सम्पूर्णतः मुक्तक भी नहीं है। रचनाकार

नायिका के प्रेमनिष्ठ उद्गारों की सुवर्ण और प्रसङ्गित अभिव्यक्ति द्वारा हमके मन स्नेह की भाँकी प्रस्तुत करना चाहता है। यह समस्त सफल और सुखात है। समस्त 'रसक' विविध रूप से मेध काया नहीं है।

रासोकाव्य :

शास्त्रार्थ हेमचन्द्र के अनुसार 'रसक' के तीन भेद हैं कीर्मान, उद्भूत और मिथ्य। प्रथम है कि 'रसक' किसे कहा जाए? क्यों कि स्वयंभू का कहना है कि छत्रसिद्धा (सर्वतिका), पद्मकिष्का और हनुमते रूपों से विभक्ति रासाबंध जनन के लिए अत्यंत सूक्ष्म होता है। उन्होंने यह कहीं नहीं कहा कि २१ मात्स्यार्थो वाले रासाबंध से युक्त रचना भी रासाबंध कहलाती है। फिर भी स्वयंभू के समय ऐसे रासाबंध को भी जो सत्ता और पद्मकिष्का से रहित थे। रासाबंध काव्य को, स्वयंभू की परिभाषा के अनुसार विविध छंदोधारण रचना को भी रासाबंध कहा जाता था, यह विद्या संस्कृत प्रबंधकाव्य की शिक्षा के समतुल्य है। 'पृथ्वीराजरासो' इसी प्रकार का रासाबंध काव्य है।

'पद्मसिद्धिचरित' नाम से 'चरितपाठ्य' है, परन्तु उसमें 'पद्यार्थी' का चरित विशेष और सीमित सम्बन्ध में है। यह सम्बन्ध है कपटाचरण से प्रती धर्म साधना और उसका प्रतिफल। फिर भी सम्पूर्ण चरितकाव्य में जो कविता और काव्य प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे इसमें हैं। बूँ कि पद्यार्थी का चरित विशेष उद्देश्य तक केन्द्रित है यतः इसे खण्डकाव्य मानना अधिक तर्कसंगत है।

अपभ्रंश चरितकाव्य १७वीं सदी तक लिखे गए। कुछ विद्वान् निम्न लिखित कथाकृतियों को प्रेमाख्यात्मक काव्य मानते हैं, जबकि ये कथाकाव्य हैं। किलासवदकहा, जिनदत्तकहा (ताकू), जिनदत्त चतुर्पदी (२०ह), पद्मसिद्धि चरित (पाहित), सुन्दरन चरित (नयनंदी) इन रचनाओं की गिनती खण्डकाव्यों में की जाती है। कुमारपाल प्रतिबोध, नैमि निवार प्रबंध, भगतेधर भाद्रवलि रास, बज्र स्वामी चरित, नैमिनाथ फायु, सुभद्रा चरित को केवल नाम देखकर या अनुमान से खण्डकाव्य मान लेना तर्कसम्मत नहीं। रास या रासों के नाम पर भी कुछ रचनाएँ मिलती हैं। अनंतरास (जिनप्रभ), अनुपेक्षा रास (जह्नुय), अतिरास (पाह्लण), उपदेश रासासन रास (जिनचल), स्थूलभद्ररास (प्रजात), नैमिरास (जिन प्रभ) नैमिनाथ रास (सुमतिगण)। प्रतीक कथा के रूप में भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं, जैसे भद्रनदराज्यचरित (हरिदेव) इत्यादि। सच्चिकाव्य के नाम से भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं :

मयण सधि (पाहल), नन्दर सधि, सुंदरी (जिन प्रभ सुरी), कोन सधि (ईश्वरगण्ण) : इनमें से अधिकतर रचनाएँ उत्तरवर्ती काल (१२वीं शताब्दी के बाद की) हैं। निम्नदेह इनमें कुछ खण्ड रचनाएँ होंगी।

स्वयंभू :

'स्वयंभू' सबसे पहले अपभ्रंश कवि हैं, जिनका साहित्य उपलब्ध है। स्वयंभू पद्य से यह भलीभांति सिद्ध है कि उनके बहुत पहले प्रबन्ध और मुक्तक काव्य की रचना प्रारम्भ हो चुकी थी। प्रायः सभी अपभ्रंश कवियों ने 'चतुर्भुज' को पद्धतिया-रंघ का प्रवर्धक कवि माना है, जो स्वयंभू के पूर्व के हैं। स्वयंभू के जन्म समय पौर स्थान के विषय में विविध रूप में जानकारी नहीं मिलती। संभवतः वह कर्नाटक और महाराष्ट्र की सीमा से लगे प्रदेश के निवासी थे। संस्कृत और प्रकृत जैसी प्राचीन भारतीय प्रायश्चासियों में, दक्षिण में साहित्य सर्जन की परम्परा स्वयम् से पहले से थी, अपभ्रंश भी उन्हीं की परवर्ती भाषा है, अतः वे दक्षिणवासी होते हुए भी, उसमें साहित्य की रचना कर सकते थे। उसके लिए जरूरी नहीं है कि उन्हें उत्तर भारत में प्रसिद्धि मिल जाए। स्वयंभू के पिता का नाम साधुदेव और माता का पद्मिनी था। उनकी दो पत्नियाँ थीं। फाहल्लाभ्या और सामिग्रवा। उनका व्यक्तित्व शीतल था। दुबला लीला शरीर, कुक्षि पिपटो नाक और विषये वंश¹ स्व. नाथुराम प्रीथी के अनुसार वे 'यापनीय संघ' के थे। यह दक्षिण भारत का एक जैन संघ था जिसमें विपम्बरी और श्वेताम्बरी की कुछ प्रवृत्तियों का सम्बन्ध था। स्वयंभू की कुल तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं, पञ्चमण्डित, ग्दुमिचरिण और स्वयंभूच्छन्द। इनकी कुछ-कुछ प्रथी रचनाओं को उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने पूरा किया। कितनी रचनाओं को उन्होंने पूरा किया, इस संबंध में पंडितों में विवाद है। त्रिभुवन सबसे इस बात का उल्लेख करता है कि सभी मुक्त (सूत्र = सूत / युक्त) पिण्डों के लोते की तरह पड़े हुए प्रसर सोचते हैं लेकिन कविराज स्वयंभू के पुत्र (सूत्र = सूत = सूत) धून की तरह सरस्वती के गर्भ से उत्पन्न हुआ है। स्वयंभू की भाषा सामान्य भाषा (साहित्यिक अपभ्रंश) है। घात्व विनय प्रदर्शित करते हुए, भले ही उन्होंने कहा हो कि मुझे न तो शास्त्र का ज्ञान है और न साहित्य का; परंतु उनके रचने में दोनों का सम्बन्ध है। अतः यह सोचना सही नहीं है कि स्वयंभू का साहित्य उन लोगों के लिए है जिनके पास पंडिताई नहीं। स्वयंभू ने स्वीकार किया है कि उनकी भाषा सामान्य अपभ्रंश है जो वाच्य भाषा में रहित है। यही वाच्यभाषा से अभिप्राय संस्कार रहित भाषा से है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उन्होंने सामान्य भाषा में 'आत्म-युक्ति'

1. अस्तगुण्य परीहरणत्, छिन्नरनामं परिवरलवतं

की रचना की है।¹ अतः यह कहना सही नहीं है कि गामिल्ल (श्याम) शायद को छोड़कर आराम श्रुति बहने में कवि का उत्साह नहीं। कवि के काव्य सज्जन का उद्देश्य लोकसूत्र की नहीं, आरामसूत्र की समृद्धि करना है। इसके आन्तरिक वह आरामाधिक्यवृत्ति का सुख भी पाना चाहता है। कवि का विश्वास है कि रामकथा पर काव्य लिखने में स्थायी कीर्ति बढ़ती है।

स्वयंभू उबार सुहृदभ के। नारी के प्रती सामंतवादी दृष्टिकोण से व्यवहार करने वालों की उर्ध्वने कट्टु प्रालोचना की है। जब राम नारी जाति पर पतिव्रत-हीनता का लोचन लगाते हैं तो सीता पुरुषों पर मोक्षता का आरोप लगाती है। समृद्ध और गर्मदा थी उपगत के माध्यम से यह कहती है कि बेचारी पुराणी कुलीन नर्मदा तिनके, लखवट और पानी लेकर रत्नाकर (समुद्र) के पास पहुंचती है, परंतु वह उसे सारा पानी बेने से नहीं चूकता।

'खड्डु लखवटु सलिलु बहतिरह्ये पट्टाशियहे कुलुमगयहे।

रमसायह सारइ देतउ ती विगु यनकइ राममयहे। (८३/८)

विदम्बन के बाद, जब सीता को शक्ति-वाक्साकार के विषु दुलाया जाता है तो यह स्या कर देगी है। यह राम का समाधि सुनना पसंद नहीं करती क्योंकि उन्होंने उसे इतना संताप पहुंचाया है कि जोशकरोड़ी मेघों की बर्षा से भी संतु नहीं हो सकता। विधोषण के अनुबंध पर कष्ट जाती है तो राजभवन के बजाय उपवन में ठहरती है और शक्तिपरीक्षा के बाद, राम के प्रस्ताव को ठुकराकर विद्वे-वीक्षा लेकर आराम कल्याण करती है। अति रामारण्य में सीता, धरती में समा जाती है। इस बात में सभी रामायणों एकमत हैं कि शक्तिपरीक्षा के बाद, सीता राम के साथ रहना पसंद नहीं करती। स्वयंभू द्वारा बंशित 'जिनगीक्षा' पर डॉ. नामवर की यह टिप्पणी कि "कर्मफल विश्वासो जीन शक्ति ने ग्राम में तपण दृष्ट होने की तरह, कानिभयो उत स्वर्ण प्रतिमा को उचित कर दिया, इस प्रकार अपने बचक आम से गड़ी हुई प्रतिमा को कवि ने स्वयं आक कर दिया।" वस्तुतः मूल दार्शनिक दृष्टिकोण न समझने का परिणाम है। एक लंबा दुःखी और लोचन जीवन जीने के बाद सीता तपस्या का जीवन यदि जीती है, वह भी जीवन के तीसरे धन में, तो, यह स्वर्ण प्रतिमा का मंडन है, खंडन नहीं। इसी प्रकार जब राम राजभवन में रहते हैं और सीता उपवन में, तो न राजा भोगविलास में मस्त हैं, और न सीता शासमान के तारे घिनती है, बल्कि दोनों के मनो में कल की घटना को लेकर ईर्ष्य है कि शक्ति-वाक्साकार और उसके बाद क्या होगा? यदि जिनवीक्षा दिलवाकर स्वयंभू ने सीता के स्वर्ण चरित्र को आक में मिला दिया, तो क्या

1 सायभ्युपान छुट्टु तावडउ छुट्टु कल्याणश्रुति काव्य चडउ।

छुट्टु होतु सुहासिय वयसाइ गामिल्लकासपरिहरसाइ।

इसका शय्य यह है कि आदिकवि ने भी भगती में समाधि देकर, सीता के चरित्र को मिट्टी में गाड़ दिया ? वस्तुतः पौराणिक कालों को छाया की लगाकणित प्रतिबन्ध इतिहास से देखने के लिये, समकालीनता के संबंध में देखना ही युक्तियुक्त है।

मानवीय प्रयोगों और तंत्रों के साथ, स्वयंभू ने प्रकृति का भी सुन्दर वर्णन किया है। उदाहरण के लिए 'वन्दुस' की कवि उपाध्याय के रूप में देखा है, जो मुद्र का शय्य धारण कर विहंगों की सुन्दर स्वर और ध्वनि पड़ा रहा है।

विभ्रण्णु रण्णु वदन्ति जाव म्गुगोहू पहादुमु दिट्ठु ताव ।

गुरुवेगु करेवि मुग्दग् सराद् म्गु विहय पडावद् अक्खराद् ।

जोधम और वर्षा के इन्द्र का चित्र देखिए—

जब वावस रूपी राजा गरजा ही शीघ्र रूपी राजा ने धूलिकण विक्षिप्त किए, जाकर मेघः पूर लना विजयी स्त्री उल्लसारी के प्रहारी से भय कर दिया। गणध देव के प्रकृति लीटने-कलने में कविः कहुता है—

जहाँ बके हुए छाया के श्रोतों में स्थित कमलनी सुमं के न मिलने से उदास है, किसी मृदा की तरह जहाँ श्रोतों की गंजिया ऐसी मालूम होती है भागों वन रूपी लक्ष्मी की मरकत माला हो। (१/८)

स्वयंभू की भाषा अलंकृत है। सीता के राम के साथ वन के लिए प्रस्थान करने पर वे उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा करे हैं—

एवं छग्रही शिग्गय मायती एं स्रददही सीसरिय विहत्ति ।

एाद् कित्ति सप्पुरिस विभुत्तः एाद् रंभ शिग्गयाएहो नुक्की ।

मानी हिमालय से बाङ्गा महानदी निकली हो, मानी छन्द से गावत्री निकली हो, मानी शब्द से विभक्ति निकली हो, जैसे भद्रपुरुष से मुक्त कीर्ति हो, जैसे धनने स्थान से भद्रही हुई रंभ शिग्गया हो।

स्वयंभू का तर्क है कि यह संसारा राम और विराट् चेतनाओं के ब्रह्म का अवाङ्मा है। सीता के प्रति, जब तक राम में राम चेतना (मोह) थी, उनके लिए लक्ष्मी बना-बना नहीं किया ? वन में रहे, समुद्र लंघा और रावण को मारा। लेकिन जब राम सीता से विरक्त हो गए, तो लोक-मङ्गल के बहाने उन्होंने उसका एक झटके में परिचय कर दिया। निर्भयन का क्षण, सीता के लिए दुःख और मानसिक तान का सबसे बड़ा क्षण था। फिर भी समुची आकीणपूर्ण प्रतिक्रियाओं के बावजूद वह उसे पूर्वजन्म का फल स्वीकार ही लेती है। राम के लीन-मृति बनने पर वह राम में मिलने जाती है। राम उसे समझाते हैं कि तुम 'राम' छोड़ो, जिह्मर द्वारा प्रतिपदिश गोल उसी व्यक्त को मिलता है जो विरामी होता है। उस प्रकार 'गारी' के सम्बन्ध में स्वयंभू ने ऐसी कोई बात नहीं कही जो नवीन या

कान्तिकारी हों। 'रिट्ठगेदिपरित' में भी प्राक्विवशमवैतना का यह दृढ़ धारणा के चरित्रों में उल्लेख है। वे जीवन की गुण प्रकृतियों के द्वन्द्व में भुङ्ग्य को प्राध्वारिकः मुक्ति का पथ अन्वेषित करते हैं।

पुष्पवन्त :

स्वयंभू की तुलना में पुष्पवन्त का जीवन अधिक संवर्धमय था। वे कल्प्य मोक्षी शङ्करण थे। पिता का नाम रंभाव भट्ट था और माता का मुख्यादेवी। जैन वनने के पहले, वे किसी वीर शैव राजा के प्राध्वय में थे और उन्होंने उसका प्रशंसा में काव्य की रचना भी की थी। इस तथ्य की पुष्टि तब होती है जब प्राध्वय वीर धकात से भरे पुष्पवन्त, राष्ट्रधर्म की राजधानी साम्प्रदेश के वाङ्मय उद्यान में उद्धारते हैं, कृष्ण तृतीय के मन्त्री भक्त के सादर भी उन्हें पुत्र भवन में ले जाते हैं (यह भरत का दिवास स्थान था। मान्य स्वभाव का परध्वी भरत पुष्पवन्त से अत्यन्त आत्मीय स्वर में अनुरोध करता है कि तुमने किसी राजा की प्रशंसा में काव्य लिखकर मिथ्यात्व का जो रन्ध्र किया है उसका उही प्राक्वचित हो सकता है कि तुम आदिनाम के चरित्रभार को अपना कंधा दो। तुम्हारी वाणी की सार्थकता तभी है जब यह काम की जीतने वाले हृद्यम जिन का दर्शन करे। पुष्पवन्त यह अनुरोध मान लेते हैं: परन्तु इसका रन्ध्र यह नहीं है कि उनका सारा सज्जन प्राक्वचित के अर्थों का दर्जन है। पुष्पवन्त अत्यन्त भावुक, स्वाभिमानों और प्रतिभाशाली कवि थे। उनका अद्ययन्त गहरा था। उनका 'महापुराण' उनकी कल्पना और सार्जन-शक्ति का अनीचा काव्य है। सौन्दर्य-चेतना और विरक्ति-चेतना के द्वन्द्व की अनुभूतियों का चित्रण: गूढ्य और प्रतीकात्मक चित्रण उनके काव्य में है, उतना चित्तो दुःखरे अणुअणु दर्शन में नहीं है। भरत: महापुराण केवल प्राक्वचित या निवृत्ति का काव्य नहीं है बल्कि मानव-जीवन की प्रकृतियों के विश्लेषण का काव्य है। इसके सज्जन में बुध्दों के द्वारा वर्णनई गई भीड़ा और श्रुद्ध सांसारिक स्वार्थ की गहरा प्रतिक्रिया है। पुष्पवन्त अनुभूति, कल्पना और शिल्प के सम्राट हैं। भरत मन्त्री ने उनसे ठीक ही कहा था कि उन्हें वाणी रूपी कामधेनु, सिद्ध है, उससे तुम नवरस (नी रस और नदीय अनुभूति का रस) का दोहन क्यों नहीं करते? इसमें सन्देह नहीं कि पुष्पवन्त ने अपनी वाणी रूपी कामधेनु से नवरसों का श्रुद्ध दोहन किया; परन्तु उसका मन्वीत है 'जिननवभक्ति'। वे लिखते हैं—

'मयभू कदत्तणु जिएपदभक्तिहि

पसरइ राउ शिय जीविय-वेत्तिहि। (८८।६)

उनके व्यक्तित्व में नवीकृत और विनय का उद्भूत मिश्रण है। एक ओर वे यह कहते हैं कि मैं जन्म से मुख, निरक्षर और चर्मश्रु हूँ, आश्चर्य है कि फिर भी मैं मनुष्य के रूप में जन्मा हूँ? जीवन की निरर्थकता की इससे बड़ी अनुभूति

क्या हो सकती है? दूसरी ओर, वे यज्ञ भी कहते हैं कि मैं काव्यकर्ता और पवित्र हूँ, मैं अनेक मुजनों का प्यारा हूँ, मेरी विमल कीर्ति अपने तरस और कोमल पद दुर्जन के लिए पर रखकर भलेगी। एक प्रशस्ति ने वे अपने को समीर और शरीर के प्रति समान दृष्टि रखने वाला; जीवमान का अकारण मित्र, सरस्वती का विलासी और मन्दिरों में विवाह कराने वाला अधिमानी मेघ और कविकुल-तिलक बताते हैं।

पुण्यदत्त की कुल तीन रचनाएँ मिलती हैं। महापुराण, ब्रह्मरचरित और राघवकुमार चरित। उनकी रचनाओं के शब्दजगत से स्पष्ट है कि उनमें विश्व-चेतना और जिन-चेतना के संस्कारों के दग्ध का पहला दशक है। महापुराण में काम-चेतना का चित्रण कुल अधिका है इसीलिए उक्त घन्ट में आहुती-वाणी से क्षमा पांगी है।

सत्ता के प्रति उनके विचार अत्यन्त लीके और विरोधी हैं। बाणभट्ट की तरह वे कहते हैं कि दरबार की उन राजकुमारों से क्या, जिसके समस्त गुण कामरों की हवा उड़ा देती है, अधिवेक कर जब सपन्नता की धो बालता है, वह अधिवेक से राक्षसों, एवं से उद्धत और दूसरों की हत्या करने वाली है, जो मूर्खों में अनुसक्त और विद्वानों से विरक्त रहती है। जो बलवान् चोर है, वह इस दुनिया में पण्डित होता है। यशु के द्वारा यशु के मांस का हरण किया जाता है और कामरों के द्वारा प्राणियों के धन का। रक्षा के नाम पर लोग लुब्ध बनते हैं और एक की भाशा मानकर रहते हैं। मैंने तीनों लोकों में खोजकर अच्छी तरह देख लिया है कि सिद्धों का भुञ्ज नहीं होता। (१६/२)

पुण्यदत्त १०वीं सदी में हुए, जो ज्योत्समी सामन्तवाद की घटती के दिन थे। मुहम्मद बिन कासिम के हमलों के फलस्वरूप सिन्ध और पंजाब में विदेशियों की वृक्षवेष्ट ही चुकी थी। धारा-नरेण हयं क्षीभ्य राष्ट्रकूटों की राजधानी माण्डवेट पर हमला कर लूटनाट कर चुका था। पुण्यदत्त के उक्त उद्घोषणों में समकालीन राजनीतिक स्थिति को भलक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। धाव भी तरह उस समय भी व्यक्ति स्वार्थी था। दुनियावाँ रिश्ते तबैव धोखाधड़ी से भरे रहे हैं। फिर भी मनुष्य उनमें निम रहना चाहता है।

कलियुग के नाम से, इस स्वार्थी दुनिया को आलोचना करते हुए पुण्यदत्त लिखते हैं - 'यह समय कलियुग के पापी से जेता, तन्हा, निमुँहा, निर्दय और अत्याचकारी है। वह तुझे हुए जन की तरह नीरस और निष्फल है। दुनियावी प्रेम (राज) सम्प्राप्य की तरह क्षणिक है, ये देखा है कि वह दुनिया सज्जनों के प्रति उसी प्रकार झिञ्चो-झिञ्चो रखते हैं जिस तरह: दोरी पर चढ़ा हुआ धनुष।' पुण्यदत्त मनुष्य की गरिमा के प्रहरी और फकत कवि थे। अनासंग फकतद्वयन की दल

परम्परा में, उनके समान बिरले ही कवि हुए। ऋषभ'ण कवि होते हुए भी वे सांस्कृतिक कवि हैं। उनके अनुसार महाकवि महाभोजी की तरह 'तुन्दर वन धोवना' करता है, महाकाव्य के लिए महान् दायज्य होना जरूरी है, क्योंकि महान् दायज्य पर साधारित अनुभूतियाँ उसी प्रकार धोना पाती हैं जिस प्रकार कमलपत्र पर स्थित जल की बुँदें। वे उस सरस्वती की प्रशंसा करते हैं जो चन्द्र-रेखा के समान एक क्षीर काशिमयी है, अनेक शास्त्रों के गौरव को छारण करती है, और जो कल्याण और सौन्दर्य की साधारभूमि है।

मध्ययुग में जिस सामन्तवादी संस्कृति का विकास हुआ उसमें प्राभिजात्य और लोक-संस्कृति का सम्बन्ध या क्योंकि कला-गुरुष लोक-संस्कृति से जुटा हुआ था। उदाहरण और विवरण का आधार उस समय व्यक्तिगत भ्रम था। भारतीय समाज रचना की साधारभूमि वहाँ व्यवस्था है, जिसकी क्षेत्रीय दुर्गाई मान था, प्राचीन से अनपद बने, उनसे महाजनपद और क्षीरे-क्षीरे राष्ट्र का विकास होता गया। आज जिसे लोक-संस्कृति कहा जाता है वह उक्त संस्कृति का प्रभा-शुभा रूप है। ऋतु उत्सव, वज्रहरा, दीपावली, दीर्घाँ उसी संस्कृति की देन है। प्राभिजात्य संस्कृति कृषि उत्पादन, अष्टांगक राजनीतिक व्यवस्था पर साधारित संस्कृति है। इस संस्कृति के बी उद्भव रहे हैं। एक, नमु (धन) छारण करने वाली धरती का भोग। भोग धरी कर सकता है जिसके अधिकार में धरती हो। धरती उसकी, जिसमें ताकत हो। इसलिए दूसरा उद्देश्य हुआ ताकत धजित करना। 'वीर योग्य बसुंधरा' यह कहावत प्रसिद्ध है। नियामक होने से, राजा लोक-संस्कृति के केन्द्र में था। बाव में दोनों में खाई बढ़ती गई। महापुराण में भारतीय अध्यात्म और प्राभिजात्य संस्कृति का स्पष्टी चित्र अंकित है।

पुण्यवन्त प्रकृति और मानव सौन्दर्य के कुशल चिन्तेरे हैं। कौशाश परंत वर तप में रत ऋषभनाथ के वर्णन में कवि कहते हैं—

गिरि सोहृद् च्यु-महृष्वासवेहि
जिणु सोहृद् रुद्रघहि प्रसवेहि
जिणु सोहृद् विमलिटा रिजभरेहि ।
जिणु सोहृद् कम्महि । रिणुभरेहि ।

कवि सीता के यौवन को तुलना वन में ताकते हुए मीर के करता है।

बगु दीसइ राक्षियः नीलमलु
सीयहि जोवणु मणु मीणु मनु ।

पुण्यवन्त ने समय से प्रभावित प्रकृति के कई गुन्दर चित्र अंकित किये हैं। सर्पा का एक चित्र देखिए

जलजलद, भलभलद,
हरि भरद तडददद,
तडिपदद गिरि कुडद ।

धनपाल :

धनपाल की एकमात्र रचना है—'भविष्यत्कहा'। यामाश्रयः इसका रचनाकाल शक्यों सदा है; लेकिन डॉ० देविप्रभुमार शास्त्री 'अनगरा प्राची' प्रति की प्रशस्ति के आधार पर इसे चौदहवीं सदी की रचना मानने के पक्ष में हैं। सारे तथ्यों की दृष्टाधीन के बाद इसका रचनाकाल दोनों समयों के बीच माना जा सकता है। रचनाकार के देशकाल के विषय में बहुत कम जानकारी मिलती है। शक्यों तक जो भाषा-शब्द-रिक्तकाल उल्लेख हैं उनके नायक यत्नाकापुरण हैं; परन्तु 'भविष्यत्कहा' के नायक भविष्यदत्त का नाम बेशक यत्नाका पुराण में नहीं है इसलिए अधिकतर प्राचीनक उक्त लोकायक मानते हैं। मेरे विचार में भविष्यदत्त भी 'यत्नाका पुराण' की शक्यों का पात्र है। इसके जीवन के संकटग्रस्त होने के दो कारण हैं (१) परिवर्तन मां के जीते जी, पिता का दूसरा विवाह करना (२) सीतेले भाई का बार-बार छोड़ा देना। 'भविष्यत्कहा' मनुष्य की भविष्यदत्त का प्रतीक काल्य है। जीवन के उत्तार-चढ़ाव में प्राचीन की क्या-क्या नहीं भोगना पड़ता? निश्चित रूप से 'भविष्यत्कहा' न तो शोक-काल्य है और न प्रेम-काल्य। उसका वाक्य-मुद्रा 'अनुभव-वर्गी कथा' का पाल है जिसके उदाहरण के रूप में भविष्यत्कहा को प्रस्तुत किया गया है। भविष्यत्कहा भी सबसे बड़ी विधेयता उसका लक्षण वर्णन है। बहुवचनी प्रथा से उत्पन्न यौगिकवाह, परिवर्तन को संस्थाएँ, सीतेले भाइयों का संघर्ष, स्थाय-प्रकिया की स्थिति, राजा के निर्गुण के विशद असन्तोष और सामुद्रिक प्रदर्शन, हस्ताल इत्यादि बातों का उसमें सही-सही चित्रण है। नगर में घट घटवति के दो सीतेले पुत्र भविष्यदत्त और अनुभवदत्त धन कमाने के लिए विदेश गये हैं। अनुभवदत्त बड़े भाई की पत्नी भीःधन का उपहरण कर भाग जाता है। भविष्यदत्त भाग आकर राजा से इसकी शिकायत करता है। क्रुद परीक्षण के बाद अनुभवदत्त को दोषी पाकर राजा अनुभवदत्त और धनपति को हथकिया पड़नाकर जेल में डाल देता है, प्रजा इसके विशद प्रदर्शन करती है, जो हड़ताल का रूप ले लेता है। दूत, प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए राजा से कहता है—

परि-परि सिधु-कर्मदं परि-वत्तदं परि-धरि शंभु-जलोत्सिधवेत्तदं ।
कथ-विक्रम्य सरोसज्जिभाडिय—अर्थाणि आर्वाणि मुहुभनार्डिय,
कियदं देवमन्दिरदं अनुज्जदं जापदं पुरवदिरादं अनुज्जदं
जपदं सयलु लोउ इक्कमुहु हाहाकारु करदं वंकदं मुहु ।
भगिगुधि सिधिट्टु एककचउ किज्जदं वेगु घरावदं रा खयधि सिधसज्जदं
जइ अवराहु खमिउ शहु राएँ तोणीसरदं समउ संघाएँ ।

इस पर राजा को मुक्तता पड़ता है, वह लेड को बन्धनमुक्त कर देता है। शीत परोक्षा के बाद, भविष्यद्वृत्त अपनी पत्नी भविष्यातुरुषा को अपना लेता है। वह जब राजा की बन्धा के द्वारा विवाह करता है तो पत्नी इसका विरोध करती है; लेकिन जब वह उसे बतता है कि पुत्रविहीन राजा की सन्तति की सुरक्षा के लिए ही वह यह विवाह कर रहा है तो भविष्यातुरुषा अपनी स्वीकृति दे देती है। मिलन-लेता में भविष्य कहता है कि जिस प्रकार अतवाहें दुःख होते हैं उसी प्रकार के सहसा सुख में बदल सकते हैं।

भय इच्छिहं ह्येति जिस दुःखाद् नहसा परिणमति तिह सुखाद् ।

भविष्यतकहा की तुलना 'पदमागत' की प्रेम कहानी से नहीं की जा सकती। दोनों का उद्देश्य, परिणाम और सर्वत्र प्रयोग सर्वथा भिन्न है। भविष्यत की कथा न तो त्रिगुण लोक-कथा है और न नगरकथा। इस प्रकार का विभाजन ही असंगत है। उत्तर भारत की परिवार-व्यवस्था विपुलतात्मक है, उसमें भिन्न प्रमुख है। राम के एकपत्नीय के साथगुप्त, बहुपत्नीप्रथा उसकी एक विशेषता है; जो नगर और ग्राम, निम्न और उच्च दोनों प्रकार के वर्णों में रही है। न कि सामन्तवाद में राजा प्रमुख होता था, इसलिए वह कहानी का प्रमुख पा और वह प्रतीक के रूप में था। कुछ उक्तिवैयों या भावसाम्य के आधार पर किसी दो काव्यों में समानता योजना ठीक नहीं। समानता का विश्वय भी ठेड़ी गैर है। एक उदाहरण शीघ्रिए, भविष्यतकहा की एक उक्ति है :

सुदृष्ट जीवितजट जेम, तेम अखुदृष्ट मरणु एणिव ।

जिस प्रकार जीवन सुद (समाप्त) जाता है इसी प्रकार मृत नहीं सुदती, ऐसा नहीं है। इसकी तुलना पदमागत की वक्तव्य से कीजिए 'जो रे उवा शयइ, रहा न कोई, जो उत्पन्न होया है वह अस्त होता है, कोई नहीं बचा।' दोनों में अन्तर है, एक में आशावाद है दूसरे में निराशावाद। एक में यह विश्वास दुहराया गया है कि मृत्यु के बाद जीवन है। इसलिए मनुष्य को प्रयत्नशील रहना चाहिए। भविष्यत के प्रारम्भिक जीवन में अवश्य कठिनाइयाँ हैं; परन्तु बाद में अपने पुण्य और जिनकर की शक्ति से जो श्रेष्ठ और यश उसे प्राप्त होता है, वह किसी शालका पुरुष से कम नहीं।

मुनि कनकाकर :

'करकंडवरीड' कनकाकर की एकमात्र रचना है। काव्य की अतिम प्रशस्ति के अनुसार यह साह्यार बंश के चन्द्ररति गोत्र में उत्पन्न हुए थे। बाद में वे विगम्बर दीक्षा लेकर जैन मुनि हो गए। उन्नीस गुह पं० महादेव से। बिहार करते हुए वे 'आशःनदरी' में ठहरे। जहाँ एक भक्त के अनुरोध पर उन्होंने इस काव्य की

रचना की। कवि ने अपने भाक्त की लंबी-पीड़ी प्रशंसा की है। कवि राजा विजयपाल का विशेष स्नेहपात्र था। निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि यह 'शाखातपरी' कहां थी। 'घांशा' से शुरू होने वाली बातें गद्यरियां थीं। (१) आसाई (हेदशबाद), (२) आसी (दुंदी, राजपुताना), (३) आसापुरा (कांगड़ा), (४) करकंडचरित' के सम्पादक स्वर्गीय डॉ० हीरालाल जैन ने अनुसार आशापुरी कुवेलखण्ड में थी। 'करकंडचरित' का उद्देश्य पंचकव्याणुविध के फल के महत्त्व का प्रतिपादन करना है। इनका समय ११वीं सदी है।

धाहिल :

'पञ्चमसिरचरित' (पञ्चश्लोकगित्) धाहिल की एकमात्र रचना है, जो तीन सन्धिओं का लघु-काव्य होते हुए भी एक महत्त्वपूर्ण रचना है। एक तो इसका केन्द्रीय पात्र शरीर है, दूसरे इसमें बताया गया है कि धर्म के नाम पर किया गया पाखण्ड, कपटचरण और डोंग भी पञ्चमध या दुर्गति का कारण होता है। शरचरण की पवित्रता और हृदय की सरलता ही धर्म की एकमात्र कसौटी है। कविता की दृष्टि से भी यह उत्तम कोटि की रचना है।

ऐसा समझा जाता है कि कवि धार्मिक संस्कृत महाकवि नाथ की संज्ञ परंपरा में हुए। उनका शास्त्रिकाल १० से १५वीं सदी के मध्य है। आनोप्य कृति में पथथी के दो श्लोकों का वर्णन है। कयाक्त की बुनावट का आधार कर्मविपाक और सन्-सन्तु मूल्यों में से मानवजीवन की विचित्रताओं का विश्लेषण करना है। पथथी पूर्वजन्म में घनश्री थी। विघ्न हो जाने के कारण उसे भाइयों के घर रहना पड़ता है। जैनमुनियों की सेवा में वह खूब घन खर्च करती है। भागिपत्त भाइयों से चुगली न करे—इस इरादे से वह मिथ्या सांख्य लगाकर उन्हें प्रसा देती है और भाइयों को अपनी मुट्ठी में कर लेती है। भागिपत्त मन पसोतकर रह जाती है। दूसरे जन्म में धमथी पथथी के नाम से जन्म लेती है और उसे पिछले मन के कर्म का फल चुगतना पड़ता है, इस फल में पतिविभोग, लोभ, लोकादित्या आदि सभी कुछ सम्मिलित हैं। घटनाओं के उत्तर-व्युत्तर के साथ शत्रुकार के शोनों रूपों का चित्रण है। 'धाहिल' ने इसे धर्म-कहानी कहा है, चरित्रों की बुनावट में मनो-वैज्ञानिक प्रविष्टि है। काव्य का समापन शास्त्ररस में है। धाहिल का मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि सरल और वगटरहित सादा जीवन बिताना ही उत्तम है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का अहित करना, आंसारिक जीवन में ही नहीं, आर्थिक जीवन में भी बुरा है। वित्त की शक्ति के बिना समाचरण व्यर्थ ही नहीं, आर्थिकारी भी है।

हरिभद्रसूरि :

नेमिनाहचरित के रचयिता 'हरिभद्रसूरि' बड़ा मन्त्र से सम्बद्ध थे। प्रायः एक का नाम श्रीचन्द्र सूरि था। नेमिनाहचरित की रचना गुजरात के चालुक्यवंशी

रत्ना कुमारपाल के शासनकाल में अराहिलशाहा में ११२६ ईसवी में हुई जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट है --

कुमारपालह-निवह रज्जमि

अराहिल वाडइ अतणु सुयरा बुहयराह सज्जमि ।

'नेमिनाहपरिउ' का एक ग्रंथ 'सप्तकुमार परिउ' के नाम से १२२१ में प्रकाशित हुआ था, जिसका सम्पादन भारतीय विद्या वेत्तमन विद्यान् हरमन बेकोबी ने किया था; परन्तु अब सम्प्र रूप में इसे सम्पादित-अकाशित करने का श्रेय कमला झाँ-भायारी एवं एम० सी० मोदी तथा भारतीय विद्या एत बी शोच सम्पान को है। संस्थान के निर्देशक श्री बलमुख मालवस्थिया का यह कथन सही है कि अणभंश लेखकों द्वारा समय-समय पर किए गए अन्तःसम्बन्धी प्रयोग अन्तःसंबन्धी हैं। इसके अतिरिक्त कल्पना की उच्च अज्ञान एवं काव्यात्मक धार्मिक अणभंश काव्य में आद्यत मिलता है। इस दृष्टि से 'नेमिनाहपरिउ' वास्तव में महत्त्वपूर्ण रचना है। परम्परागत पञ्चविद्या में विविध अणभंश चरित काव्यों में इसकी एक विशेषता यह है कि इसमें कदम्बक शैली के स्थान पर, स्वतन्त्र श्लेषों का प्रयोग है। कुछ अणभंशों को छोड़कर अधिकतर 'रत्ना खल' का प्रयोग है। इसे रत्ना शैली कहा जा सकता है। प्रारम्भ में आर्या श्लेष की एक पंक्ति (११ मात्राओं वाला पद), उसके बाद आर्या और शोडा आते हैं, इस प्रकार पूरा श्लेष पञ्चपदी के रूप में प्रयुक्त है।

बहु वि मच्छर तडिउ विहि-वजेरा,

न सुणैइ फुहु इयरकह-कव्वु सखल गुण रयरा मंडिउ

अवियाराउ कि कुणइ कव्व गुणैहि दह-तडिम-चडिउउ

खल-गन्धिय-बुहु मच्छरिण सेर।रुनाणुय दोग

को वि मुणंता लद्धु मवि भीणु सुहासिउ अंगि ।

प्रस्तुत रत्ना शैली, पद शैली से भिन्न-जुनती है। सुर के पद से तुलना की जाए --

सुनी शोरी हरि की सन्देस ।

करि समाधि अन्तरगति ध्यावहु, यह उनको उपदेश ।

वै अविगत अविनासी पूरन सदा घट रहे समाइ

तस्वज्ञान त्रिनु गुक्ति नहीं है केर पुराननि गाइ

सुर विरह की कोन चलावै धुंरति मनु बिनु पानी ।

रत्ना शैली और पद शैली में यही अन्तर है निःपत्र में टेक के बाद की पंक्तियों समान मात्राओं वाली होती हैं। रत्ना में भिन्न श्लेष आते हैं; परन्तु अन्त्यानुप्रास होना जरूरी है। इस प्रकार रत्ना शैली पद शैली की पूर्वभूमिका है।

देविनाहपरिच की भाषा सरल है; परन्तु प्राकृत और संस्कृत की छाया लिप्त हुए। रचना गार्हस्थिक वर्णनों और काव्य कृत्तियों से भरपूर है। भारत घाने पर, नैमिकुमार को इन्द्र के रूप में देखकर त्पार वनिताओं और नवयुवतियों में हलचल मच जाती है।

कोई कहती है— 'बहुत शर्मला छोड़ दो तार्कि विवाह नहीं करने वाले कुमार का मुखकमल मैं देख लूँ और इस प्रकार मानव जीवन का कल पा सकूँ। युवती-जनों के मन का प्रिय यह नैमिनाथ जाता है, श्याम कुश्रा जाएगा।' शम्भरिचमानस में राम-कीर्ति का रूप देखकर शम्भर-वनिताओं की यह निमित्त है :

राम-लखन-सिय श्थ निहारी, पट्ट नयन फट्ट हीहि सुखारी।

सजल विलोचन पुलकन्तरीरा सभ भए मगन देखि दीउ बीरा।

श्यामसुन्दर को देखकर दूर की गोपियों के नेत्र घूँघटपट में नहीं झमते—

नैना घूँघट में न समात

सुन्दर अदन नन्दनन्दन की निरखि निरखि न श्यात।

विवाह के प्रसंग में सन्धियों की बातचीत नारी की सहज प्रवृत्ति को उजागर करती है।

एक कुछ हँसकर कहती है यदि यह मैं तुम्हें दे दूँ तो तुम मुझे क्या दोगी ? प्रथमा श्याम की नाली का शब्द कर बड़ बढ़ती है—तुम्हीं मांग लो तुम क्या पाहती हो ? (३।३३)

वध के लिए बन्दी पशुओं को लेजकर नैमिकुमार विरक्त होकर बीधा भक्षण कर लेते हैं, यह समाचार सुन्दर शम्भु दुःखि हो जाती है। वह विरती है, उठती है, सोती है, होंग में नहीं शायी। शम्भुलायी है, लँसती है। श्वाली पीटती है, सिर के बाह गोंधतो है। (३।३५)

पुस्तक में कुल नौ खण्ड हैं जिनमें देविनाथ के पूर्व शर्षों का चित्रण है। तीर्थङ्कर नैमिनाथ का चरित्र नौवें खण्ड में है।

शब्दवहमान/शब्दुल रहमान :

'सन्देशरामक' शब्दवहमान की एकमात्र रचना है। ग्रन्थ के प्रारम्भिक कथन के अनुसार पश्चिम दिशा में बहुत पहले से एक म्लेच्छ देश था। उसमें भीमसेन नाम का जुलाहा हुआ। कवि प्राकृत काव्य और गीत विषय में प्रसिद्ध उस कुल का कथल था। अनुमानतः यहाँ म्लेच्छ देश से कवि का अधिप्राय पश्चिम में स्थित पर्वत प्रदेश से है, क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के बाद सिन्ध मुसलमानों के हाथ में चला गया था। ईसवी १४०९ में लघुवीरन्द ने

‘खन्देशरासक’ पर टीका लिखी है। अतः यह रचना इसके पहले लिखी जा चुकी होगी। कवि भी यह रचना मध्यमवर्गीय नाटकों के लिए है। इसमें विद्योगिनी और पंचक के संवाद युग द्वारा मुक्तकों को बँड्या गया है। यह अघोष का प्रथम मुसलमान लेखक है। प्रकृति चित्र उद्दीपन के आधार पर है।

जिनदत्तसूरि :

इनका जन्म वि०सं० ११३२ में हुआ। एक बार इन्होंने जिनेश्वरसूरि के साथ ‘अवलक’ नामक रमान में निवास किया। वहाँ बन्धुत्व की पत्नी वाह्यदेवी अपने पुत्र के साथ धर्म चुनने जाती थी। उसने अपना हाथक एक साधु के शत्रुओं पर, संघ को सौंप दिया। बालक समवेत ने ती बर्ष की वय में शिक्षा ले ली। उसके नाम सोमदेव रखा गया। युग युग जिनदत्तसूरि का निधन होने पर सोमदेव उत्तराधिकारी बने और उनका नाम जिनदत्तसूरि रखा गया। वह प्रायः ३०० वर्ष, उन्होंने खूब परिश्रम किया। नर्सियों में इन्होंने सुधारवादी आन्दोलन चलाया। वि० सं० १२११ में अजमेर में इन्होंने अक्षयपूर्वक शरीर त्याग दिया। इनकी कुल तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—चंचरी उपदेश, ज्ञानराम और कालस्वल्प कुतूहल।

जोशु :

जोशु योगीन्द्र का अघोषण है। ये विद्वान् साध्यात्मिक कवि थे। इनका अनुमानित समय १३वीं सदी है। यदि यह इतनी पुराने होते तो स्वयंभू अक्षय स्वर्णभू-छन्द में इनका उल्लेख करते। विविध प्रामाण्य के आधार पर वे साध्यात्मवादी बोधा-कवियों में सबसे प्राचीन हैं; के साध्यात्मिक दर्शन के प्रवक्ता अर्थात् बुद्धबुद्ध और ज्ञानपाद के बाद हुए। इनकी दो रचनाएँ हैं—परमात्मप्रकाश और योगसार।

मुनि रामसिंह :

मुदिराम सिंह भी जोशु की परम्परा के कवि हैं। ये आचार्य हेमचन्द्र के पहले १०वीं सदी के सातपास हुए। बोधा-पाहक इनकी एकमात्र कृति है। यह अत्यन्त भावुक और साध्यात्मवादी थे। साध्यात्म कृतियों के ये अक्षय कट्टे सातोचक थे। इन्होंने अपने दोहों में संज्ञ और तान्त्रिक पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार प्रयोग किया है।

सन्धिकार्य :

उत्तरकाल में ‘सन्धि’ नाम वाली कई रचनाएँ मिलती हैं। इनका समय यद्यपि १३वीं से १५वीं सदी है; फिर भी शैली और भाषा की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है। श्री आर० ए० प्राहू द्वारा सन्धिनामक एल० डी० भारतीय विद्या संस्थान द्वारा प्रकाशित ‘सन्धि समुच्चय’ में लिखित २० सन्धिकार्य का संकलन है। अक्षयपारणक सन्धि, वीरजिन चारण सन्धि, गज मुकुटाल सन्धि, श्रीलक्ष्मण सन्धि, सवन्ती मुकुटाल सन्धि, मदनदेवा सन्धि, अष्टाहि सन्धि, जीवनामुखादि सन्धि,

नर्मदा सुन्दरी सन्धि, चतुरङ्गधरना सौम्य, आनन्दश्रावक सन्धि, अन्तरङ्ग सन्धि, केजी गौतम सन्धि, भावना सन्धि, शील सन्धि, उपपञ्चाल सन्धि, हेमसिलकसूरि सन्धि, तप सन्धि, अग्रहाहिमहृत्सि सन्धि और उषरस सन्धि । इनमें कर्मांक एक से पांच तक के रचयिता श्री रत्नप्रभसूरि हैं जो वादिदेव सूरि के शिष्य थे । इनका समय १३वीं सदी है । स्वयं वादिदेव सूरि ने प्राकृत में त्रैमिनाचचरित्र और पार्ष्वनाथ-चरित्र की रचना की । इनमें से पहला ४६०० श्लोक प्रमाण है ।

कथासङ्घ ६ से लेकर १०वीं सन्धि के रचयिता आर्यामिकाचञ्च के जिनप्रभ सूरि हैं । मूलतः ये गुजरात के निवासी थे । इनकी रचनाएँ प्राकृत, अपभ्रंश और गुजराती में मिलती हैं । ११वीं 'आराधनाव्य सन्धि' के रचयिता श्री वितयचन्द्र सूरि १३वीं सदी के बहुभाषाविद् विद्वान् थे । इनका 'त्रैमिनाच उषरस' प्रकाशित है ।

गुर्जर-काव्य :

स्वर्गीय सौ० डी० बलाल द्वारा सम्पादित प्राचीन गुर्जर-काव्यसंग्रह (भाष्य-वाङ्मय और ऐटल सीरीज, एम० एस० सि० विशालय, बड़ोदा) भी एक महत्त्वपूर्ण काव्य-संग्रह है । इनके दो खण्ड हैं—सकलखण्ड और पद्य-खण्ड । पद्य-खण्ड में जैन-पुराणपुराण-महापुराणों तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों पर विभिन्न संक्षिप्त (जैसे राजसू, अनुवादिका, छप्पय, फल, रास, दूहा, मण्डाना, अक्षय्य आदि) में छोटी-छोटी रचनाएँ भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा रचित हैं । ऐतिहासिकता की दृष्टि से प्रशस्त इस प्रकार है—

रामिहि ए रामह जो रामु सिरिभेजयसेरिण सूरि निम्भिविठ ए ।

नेमि जिणु तुखइ तामु अम्भिक णरइ मरिण रलि ए ।

त्रैमिनाच अनुवादिका में 'राजसू' के विषय का वर्णन है । यह बारहमासा मौसो में भणित है । श्री अम्भदेव सूरि द्वारा रचित 'समररास' में संघर्षत समरसिंह का रास है । कवि का कहना है कि जो इस रास को पढ़ता है, सुखता है और कहता है वह वैद्य बैठा है । तीर्थयात्रा करता है । 'सिरिभूजिभद्रकाच' में स्थूलभद्र मुनि की स्तुति है । इन रचनाओं की भाषा में गुजराती का निश्चय रूप द्रष्टव्य है ।

श्रावणिए सरयणिए कडुयं भेहु गज्जइ

विरह रि भिजभइ देहु ।

विज्जु भइक्कइ एक्कसि जेव

नेमिहि विणु सणि केम ॥

'उषरसमाल कथासङ्घ छप्पय' का अर्थ है, छप्पय छंद में रचित 'उषरसमाल

कथानक'। अलोक्य संग्रह का महत्त्वपूर्ण अंग गद्यखंड है। संस्कृत से प्रभावित होते हुए भी १२वीं सदी के भाषा गद्य के नमूने इसमें सुरक्षित हैं। गद्य सरल और सहज है। ये गद्य विविध तादृश्यों से संगृहीत हैं। 'सवभार-व्याख्यान' में एमोकार मंत्र का सुन्दर श्रौती में विवेचन है।

नमो अरिहंतार्यं । माहरउ नमस्कार अरिहंत हउ ।
किसा जि अरिहंत । रागद्वेषहोपिआ अरि वयरी बेहि हणिया
अथवा चतुषष्टि इद्रसंबंधिनी पूजा महिमा अरिहृद्-
तीह अरिहंत भगवंत माहरउ नमस्कार हउ ।

पृथ्वीनन्दचरित्र में राजतमा का वर्णन इस प्रकार है—

राजसभा किसी छद्म । जोरिय राजसभा कुकुन बलि छटा
दोधि छद्म । विविध मुत्ता फन्दि चतुष्क पूरिया छद्म ।
कपूरतरणा शंस आलिध्या छद्म । कुम्भागर ज बाधितरणा
परिमल महामहद् छंद मोतीतरणी सिर्दि लहलहद् छद्म । इत्यादि ।

गद्यखंडों के निम्नलिखित लक्षण हैं :

आराधना, भक्तिभार सर्वतोर्षेयमस्कार, स्तवन, नवकार-व्याख्यान, अतिथार-
पृथ्वीनन्दचरित्र, अरतरपट्टाचरी, बटवदादि ।

ऐतिहासिक जैवकाव्यसंग्रह के नाम से श्री अमरचन्द्र नाहटा और अंबरलाल नाहटा द्वारा संपादित संग्रह १९२० में प्रकाशित हुआ था। इसमें जैन श्वेताम्बर धर्माचार्यों के द्वािबुद्ध जीवन आदि प्राक्तिक के रूप में उल्लिखित हैं। रचनाओं के शीर्षक इस प्रकार हैं—ऐतिहासिक रासतंत्रह, ऐतिहासिक सत्सङ्गामाता। आलोच्य संग्रह में संगृहीत काव्य श्वेताम्बरों के यत्न से संबंधित है। ऐतिहासिक महत्त्व के कारण होते हुए भी ये काव्य 'अपभ्रंश' की युगसीमा में नहीं आते।

जिनदत्तसूरि :

अपभ्रंश काव्यजयो में जिनदत्तसूरि रचित तीन रचनाएं हैं, चर्चरी उपदेश, रसायनराम और कालस्वरुणकुलकम् । जिनदत्तसूरि को और भी रचनाएं हैं, परन्तु अपभ्रंश में उक्त तीन ही रचनाएं हैं। इनका जन्म संवत् ११३२ में गुजरात के धधलक नगर में हुआ, पिता का नाम वासुदेव और माता का नाम देवी । संवत् ११४१ में शिक्षा ली । शिक्षा का नाम सोपदेशाचार्य था। सं० १२११ में अजयमेरु युद्ध में स्वर्णवास हुआ। वे अपने समय के क्रांतिकारी और बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने चैत्यगृहों में प्रचलित स्तुति की रुढ़ियों और कुरीतियों का

निर्देश किया। चर्चरी में अपने गुरु जिगत्सुमसूरि की स्तुति है। यह नृस्य और योग के द्वारा गाई जाती है। इसकी रचना बांग्लादेश के श्री व्याघ्रपुर के श्रीनाथतन में हुई। उन्होंने जिनबल्लभश्रीर को कासिदास से श्री ब्रह्म कवि बताया है। उपसंहार करता हुआ कवि कहता है—

इयं जुग पथरह सूत्रिहि सिरिजिगत्सुमहृद ।
 नाय समय परमस्थु बहुजसु बुल्लहृद ।
 तमुगुण-शुद्ध बहुभाषिणसु सिरिजिगत्सुवरा गुरु ।
 करइ सु निरुवसु पामइ वृत्त जिगत्सुत गुरु ॥

उपदेशरत्नामरुत में श्रीनाथर के साथ, मानास्य सदाचार का उल्लेख है। 'क'वत्सवकुकुलक' में व्याख्यात्मक और नैतिक सूत्रों का कथन है। मनुष्य जीवन की मार्पंकता धर्माचरण में बताई गई है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार प्रकृत-काव्य में वस्तु वर्णन के दो प्रकार हैं—(१) अविज्ञत वस्तु-वर्णन (२) पश्य द्वारा ज्ञाप व्यवञ्चना। संस्कृत तमोक्षक चित्रनाय के अनुसार भी वस्तु वर्णन दो प्रकार से सम्भव है—

(१) सामाजिक वर्णन (युद्ध, विवाह, रथ्यंवर, उत्सव, जलझोड़ा, बाण, गज, नृत्य, वसंतश्रीड़ा स्तवादि। (२) प्राकृतिक वस्तु वर्णन (संध्या, प्रभात, तिहास, श्वेतु, वन, पर्वत, नदी, समुद्र आदि का चित्रण)। रामचन्द्र ने अपनी काव्यमीमांसा में इन तथ्यों का विचार विस्तार से किया है। शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट भावव्यञ्जना का विशेष महत्त्व है क्योंकि उसमें तत्कालीन स्थितियों, मानवी विचारों और धारणाओं की प्रतिक्रियाओं का पता चलता है। प्रकृति से संबंधित तथ्यों का विश्लेषण प्रकृतिचित्रण के अन्तर्गत है। वस्तुवर्णन के अन्तर्गत सबसे पहले देश, जनपद, नगर आदि का वर्णन आता है। सगम न्त वर्णन करते हुए कवि कहता है—

जहि पकककलमे कमलिणी गिसगरा । अलहृत तरुणि धेरव विसरणा ।
जहि सुवपतिड सुपरिट्टियाउ । रां वरासिः-मरभय कंठभाउ ॥
जहि उच्चवुराड' पवराहयाड' । कंपति रां पीलरा-भयगयाड' ॥

'जहाँ पके हुए घण्ट्य के सेवों में कमलिनी सुव की किरणों को न पाकर
बूझा की तरह उदास है। जहाँ बँठी हुई गुफा की पंक्ति ऐसी लगती है, मानों
वनलक्ष्मी की मरकतगण्डियों की माला हों। पवन से ब्राह्मण हस्तुवन ऐसे जान पड़ते हैं
मानों वे मेरे जाने के डर से कांप रहे हों।'

गोपाल बस्ती का वर्णन :

जहाँ भँवों का बुझ हो रहा है, उपभों में उत्सव हो रहे हैं, मयने के कारण
मयानी का शब्द हो रहा है, बछड़े पुँछ उठाए हुए चलन हो रहे हैं, गोपाल धीरे
गोकुल झीड़ा कर रहे हैं।

गोपालों की छेड़छाड़ :

'हो हो हलि गोविली मई! जि रमइ ।

मंचाणु रा तुह कामगि सप्तइ ॥

'हे गोपी मुझसे रमए करो, मयानी बुझारी कामगि शास्त नहीं करेगी ।'

रास का उल्लेख :

‘जहि वैतु तगलु कीला-पयासु । मंडलिय लोच कियति रासु ॥
काहलिय-वस-सद् सुगति । रा करइ भद्रकम्मु वि सिव धुरगति ॥

चक्रवर्ती भरत की दिग्बिजय के प्रसंग में किरात-भीलों का वर्णन करते हुए पुरुषवंत कहते हैं—

‘कसरत से उनके शरीर के जोड़ पन्के घोर स्तूत से, कठोर प्रचंडतर उनका कुलधन था । दंत त्रिल घोर मजबूत । चमकदार पंखों के वस्त्र, गजमय में तराशोर मूर्तों की मालाएँ । रक्तिम घोर कठोर चेहरा । लोचे प्रहारों से मृषों को घातून करने वाले । हाथी बांतों से लजे हुए धर । शीतलियों के मुखरूपी कमल रास के लंपट, बच्चों को कंधों पर उठाए हुए मजल मेघों की तरह प्रयाग ।’

विभिन्न, स्वयंबर घोर युद्ध का विमंजण भेजने के प्रसंग में विभिन्न जनपदों और देशों के नामों का उल्लेख है । बरतार हाट के वर्णन में यथायं दृष्टि है ।

किष्किधा के बाजार का चित्र :

कहीं चंदन से शोभित शोषण के भांड हैं, कहीं सुगंधित द्रव्य रासुह; कहीं भोजन बनाती हुई स्त्रियों की नृतियों की सन्भजन आवाज, कहीं पर वेश्याएँ; कहीं नृपा, नाचघर और तमाशा; कहीं संनोलियों और मालियों की जुकानें । कहीं व्याकरण का अध्ययन । कहीं नवक घोर तेल से मिला घी ।

विवाह का प्रचुर घोर रोचक वर्णन है । यह श्रेष्ठवर्ग के विवाहों का वर्णन है । अष्टमनाम के विवाह में अनेक दानों का संरूप बनाया गया । मणिरत्नों की सजावट, तरह तरह के माद्य, धवलमंजरा गीतों का गान, वरवात्रा, चूँपट जलवाई, कर स्वर्ण, हीम, विद्या, नाटक योगला, इन्द्र का अभिनय, गंगन छुड़वाई, सुहागरात ।

बंधनई और कमला के विवाह में सुश्रुतियों के हास-परिहास के साथ कामुक वेष्टाओं का चित्रण है ।

भोजन का वर्णन प्राह्मदान या विवाहिक प्रसंग में आता है (१०७० २-२३६)

स्वयम्बर का वर्णन उल्लेखनीय है—

स्वयंबर के तीन प्रकार थे । (१) कल्या स्वयं यत्न कर लेती । (२) स्वयंबर में भरण । (३) विवाह के उन्मीदवारों में से किसी एक का कन्या परीक्षा द्वारा चयन । आलोच्य युग और साहित्य में युद्ध का एक कारण स्वयम्बर रहा है । ‘गजवर्णन’ करना, अथर्वनाम कवियों की विशेष श्रिय है । जल-स्तीर्णाएँ और वसंत-कीर्णाएँ शूद्रा

के वर्णों की संग है। साहित्य में नारी के विविध रूपों का विवरण मिलता है। चन्द्रनन्दा के विवाह-प्रस्ताव पर लक्ष्मणा कहने हैं कि जिसकी बांध और छाती प्रांग हो, हाथ, अंगुली, नेत्र लंबे हों, नाक घोर भाव उन्नत हो, ऐसी स्त्री तीन बन्धों की पाँ हीनी है, काक्यंके समान स्वर घोर दौरी धामो की प्राप्ति कम होती है, हंस और धीमा के समान स्वर वाली और मधुमर्षी महाभय के रंगवाली बहुपुत्रा होती है। जिसने हाथ में कमल, मछली आदि के चिह्न हैं वह सात लक्षण होती है। जिसके शरीर पर शंख, चक्र आदि उभरे हों, जिसके दांत अग्रनन्द के समान हों, वह अकर्मों की पत्नी होती है। सामुद्रिक शास्त्र के विचार से चंद्रनन्दा, मुख्य और रुद्र है, ऐसे में विवाह नहीं करना (प० व २.१२२)। रामरा सीता की देखकर स्त्रियों को धार भेद करता है—भद्रा, मंदा, लता और हंसो। फिर वह शिव विद्याधर आदि की स्त्रियों को गिनता है। तापती गोपी और भीली होती हैं, विद्याधरी को मदिता और फूल पत्र है, यज्ञिणी को घन का लालच होता है। जिपाधिनी तामसिक और सुमनस्य होती है। महापुराण में स्त्रियों के शीर भेद गिनाए हैं, जैसे, सारसी, गुगी, रिङ्गुणी, धृतराष्ट्री, महिणी, खरी, इत्यादि (२.४०६)। देव से प्राधर पर भी स्त्रियों के भेदों का उल्लेख है। जैसे मातृविनी दुश्चिन्त सुख देती है, वाराणसी की जनमासिनी बहुत तेज होती है। ब्राह्मी की स्त्री गजधामिनी होती है, सिद्धदेव की महिला सुन्दर भीलों से युक्त रहती है। कौसल देव की स्त्री मायविनी होती है, सिंहकी स्त्री रति के गुण से पैर जाती है। ब्रह्मदेव की महिला गन्ध और वंशुद सह सकती है। प्राग्नी अधिक रति से भरती है। कलिंग की नारी को उपकार से पाया जा सकता है। सोराष्ट्री बुद्धि से श्रेष्ठ रहती है। गुजरातिन अपने काम में दक्ष रहती है। महाराष्ट्र की महिला धूर्त रहती है, पाटलिपुत्र की महिला लीला-प्रदर्शन से खुश रहती है। हिमालय की स्त्री ज्ञानवी है। पौरियात्र की स्त्री भ्रष्टा व्यवहार करती है। मध्यदेश की महिला कलाविद् होती है (म० पु० २.४०)। नारी के रूप चित्रण से आलोच्य काव्य समृद्ध है। वर्णन दोनों प्रकार का है। गणेशिवर्युं और शिखनखवर्युं। पद्मश्री के रूपचित्रण के प्रयोग में कवि कहता है, उसके बाल त्रपण और अंजन की तरह काले, भाल पाँचवीं के पाँच के समान और नेत्र नील कमल की तरह थे। उसका मुख लीला कमल का उपहास करने वाला। होठ कुंदरु और शंख से होड़ करता है। स्तनमण्डू टूटी हुई कीड़ा की तरह, हाथ कल्पलता के डल की तरह। रक्त कमल की तरह पैर, शीर, तब आधिकारण की तरह। पद्मनाभती का सिखनख वर्णन देखिए—

अनार के दामों की तरह चमकती हुए दाँत, नाक की उन्नति से प्रसन्न लाल लाल होठ, मुख पर के बाल ऐसे लम्बे हैं जैसे केशकी कुसुम पर अमर संभरा रहे हैं। नोदम चित्रण में प्रौढ़ और सशक्त उपमाओं का प्रयोग है, जैसे उसका संधिबंध

राजा की संवसावा की तरह गूढ़, व्याकरणात्मी तरह समस्त और अपभ्रंश काव्य की तरह संधि से युक्त भा, विश की संवसरा की रोकने वाले उसके स्तम्भपुरत मङ्ग और कवियों द्वारा कल्पित कनककलज कहाँ ? जिस अवलोकन से कुमायियों देवता हैं, वह मुर्तों के पास कहाँ ? फिर भी लोग उन्हें मृगतयनी क्यों कहते हैं ? उसके भारी नितम्ब का क्या वर्णन किया जाय जिससे त्रिभुवन लभू हो गया । लोक के उपमाओं का भी प्रयोग है, जैसे, उसकी रोमराजि कीटियों की कवार की तरह भी (पंच २०१३१) कामधेय के अकतार पा प्रतिशम सुन्दर व्यक्ति के वर्णन के अन्तर्ग में अपभ्रंश कवि तीसरे पाठ की संज्ञना के माध्यम से वर्णन करते हैं ।

अपभ्रंशकाव्य में उक्तिमूलक भाव-व्यञ्जना अधिक है । गौरवा के भाव की अभिव्यक्ति के लिए कवीकियों से काम लिया जाता है । रावण कहता है—ती जननीं माग बुका सकता हूँ । दिवाशों को चुरा-चुर कर सकता हूँ हवा को बांध सकता हूँ । समुद्र को सोल सकता हूँ । आकाश और पाताल एक कर सकता हूँ; परन्तु प्रेत ग्रहण नहीं कर सकता । (पंच १२४७)

लडकश के विद्योम में जनमाला का कथन है :

'क्या मैं उक्तिरानी श्राव में प्रवेश करूँ या भीषण रण या समुद्र में ? क्या विष श्रावों का साप की कुचलूँ या अपने फिर पर शारा ललचाऊँ ? क्या विशा लोच जाऊँ या संवास ग्रहण कर लूँ ? किसकी लरण में जाऊँ ?' (पंच २०११) दुःखी का होना बुरा माना गया है । पयभी का पिता कहता है—

'जिसके कन्या नहीं होती, उसके कुल पवित्र है, यही सुख का निवास है । जिसके कन्या नहीं है वह तर कुलीन है, वह कभी भी किसी से दीन नहीं बोलता । जिसके कन्या नहीं है, दुर्गंध का निधान होने हुए भी कौन उसके मान का अण्डन कर सकता है ? जिसके कन्या नहीं है भले ही वह दूषित आवरणवाता हो, उसकी भोति लोक में अकलंकमान से छूमती है ।' जिसके कन्या नहीं है, वह घर बहुर स्वजन थीर परिवन में महान् होता है ।' स्वयंभू कहते हैं कि कन्या पदाई होती है :

'हे परवेश्वर ! इसमें अभातिभाव क्यों ? क्योंकि सब कन्याएँ दूसरों के लिये होती हैं । नदियाँ गहाड़ों से निकलकर समुद्र के लिए जाती हैं, मोतियों को मालाएँ हाथों के हारों पर नंदा होती हैं लेकिन शोभा बढ़ाती हैं किसी दूसरे आदमी को । शाराएँ मेथों से जल लेकर कान्ठियों को सींचती हैं । महासरोवर में जन्म लेकर भी कमलिनियों सूँघने से घिलतः हैं । इसमें श्रीकंड का बोध नहीं है । मुम्हारी कन्या ने ही जनता स्वयं बरण किया है ।'

भविष्यत अपनी पत्नी की समझाता है—हे सुन्दरि ! तुम विषाद मत करो,

जो भी मनुष्य जीवन में जन्म लेता है, उसका सुख संयोग विधोष से नष्ट हो जाता है। फिर उसका शुभ कर्म उत्पन्न होता है। विनाश के साथ ऋद्धि चली जाती है और अचानक मृत्यु प्रा जाती है। यौवन शरारत रूपी राक्षसी के द्वारा खा लिया जाता है। इतना ही लाभ ही जो मनुष्य जीवित रहता है (म०क० २३)।

आत्मनश्चिता प्रदीपित करता हुमा हनुमाव पिता से कहता है—'हे देव ! आप सूर्य के तेज के पित्रवाने हैं, मैं भी तुम्हारा छोटा-सा किरण-समूह हूँ। आप भुवन में श्रेष्ठ सम्भवा हैं, मैं आपकी चांगनी का छोटा-सा पर हूँ। आप मानवरूपी सरोवर की श्रेष्ठ त्रय हैं, मैं भी आपका अलकण हूँ।' स्वयम्भू के अनुसार सात और बहू का फलदा अनाविच्छिन्न हैं। गन्त्री आनन्द पवनजय को समझाता हुआ कहता है—'बिना परीक्षा के काम नहीं भरना चाहिए। सासें बहुत बुरा करनेवाली होती हैं। वे महासती का भी अनुपकार करने से नहीं चूकती। दुष्ट सासें स्वभाव से बहुओं के प्रति भुया आवरण करने वाली होती हैं। सासों और बहुओं का बैर अनावि निवृद्ध होता है।

मानोन्म चरितकान्दों में संबन्धशैली सुन्दर है। राक्षस सीता से कहता है—'क्या मैं लोभाय और भोग से हीन हूँ ? क्या सोन्दर्य और रस में हीन हूँ ? क्या सम्मान, शान और रस में हीन हूँ ?' (ब. व. २-१६३)

सीता का उत्तर है—हे राक्षस ! यह जो तुम्हारा राज्य है वह मेरे लिए तुम्हें के समान हलका है। उस स्वर्ग से क्या जहां चरित्र की हत्या हो।

एत जे राक्षस रज्जु तुम्हारउ तं महू तिरा-समारा हलप्रारउ
सन्गेरावि काइ जहि चरितहो सण्डराउ ?

निर्वेच को प्राप्त बाहुबलि सीतारिण सुधों की स्वयंता सिद्ध करते हैं :

जो मणुयत्तणु भोर रासद तेण समानु हीणु को सीसह
पीयड कसराइ लोहिड सुककड तक्के विक्कड सो मारिणकड ।

जो मनुष्यत्व को भोग में नष्ट करता है, उसके समान हीन कौन कहा जाता है ? यह पीने, काने, लोहित और सफेद रस, शास्त्र में ज्ञेयता है। धन की प्रशंसा में स्वयम्भू कहते हैं—

अत्थु विवडत्तु अत्थु गुरासंतउ अत्थुविहीणु भमद मग्गत्तउ
अत्थु अरांगु अत्थु जगे सुहउ अत्थुविहूणु यीणु राव बुहउ
अत्थु सहचिच्छउ भु जउ रज्जु अत्थु विहूरो कि पि रा कज्जु ।

अर्थ विदग्ध है, अर्थ गुरावात् है, अर्थहीन व्यक्ति मांगता हुआ भ्रमता है।

अर्थ कामदेव है, अर्थ जग में सुन्दर है, अर्थरहित व्यक्ति वीन और दुर्भग है। अर्थ स्नेहछा से राज्य का भोग करता है, अर्थविहीन के द्वारा कुछ भी काम नहीं होता। (२७।११ प० ४०)

स्वाभिमान व्यक्ति की गरिमा का प्रहरी है—

वक्कल शिवसणु कंदर मंदर वप्रहल भोगणु वर तं सुन्दर ।

वर दालिदु सरीरहु दंडणु एः पुरिसहु अहिमाणु विहंडणु ॥

छान के बस्त्र, गुफा में निवास, शनकरों का भोजन, (वर) अच्छा और सुन्दर है, दारिद्र्य और शरीर का क्षय अच्छा; परन्तु मनुष्य के अभिमान का खण्डन ठीक नहीं। चाकरो सबसे कुरी ?

मोयें जहु भहु खंतिरु कायरु अरुजवु पसु पंडियरु पजाविरु,

मदुर परंपिरु चाङ्गमारु केम विं गुणिए ए ह्योइ सेवारु ।

मौन रहने पर हुभट पूर्व कहलाता है, शान्त रहने पर कायर, सीधा होने पर वीर। सेवारत व्यक्ति में कोई भी गुण नहीं होता। (म० पु० १६-२)

जीवन और प्रकृति के सम्बन्ध का आधार सभय है, क्योंकि दोनों समय सापेक्ष हैं। समय की प्रतिक्रियाएँ जहाँ मानव-हृदय में भाव-तरङ्ग उठाती हैं वहीं वे प्रकृति के दृश्यों को रचना करती हैं। संस्कृत-समीक्षक दण्डो ने प्राकृतिक दृश्यों को काव्य में महत्त्व दिया है। इसी प्रकार 'अभिशेखर का कहना है कि मनुष्य की चित्तवृत्तियों का चतुर्विध से बोधा सम्बन्ध है। काव्य में प्रकृति-चित्रण की विधाएँ कई हो सकती हैं; परन्तु मुख्यतः तीन विधाएँ हैं। (१) विगुह यथातथ्य प्रकृति-चित्रण, (२) उदीपन, (३) धारोपित। अष्टप्रसंग में ये तीनों विधाएँ मिलती हैं। विशुद्ध या यथातथ्य प्रकृतिचित्रण में प्रकृति तब स्वतन्त्र चित्रण होता है, जो गूढ-भूमि का काम देता है। राग जब शब्दक वचन में प्रवेश करते हैं तो इसकी प्रतिबिम्ब इस प्रकार होती है—

'कहीं पर सैकड़ों पक्षी उड़ गए, मानों षटवी के प्राण उड़ गए हों। कहीं पर हिरन भयभीत हैं, वगैरे प्रकार, जिस प्रकार संसार में प्रवृत्त लोग भयभीत होते हैं। कहीं पर तरह-तरह को वृक्ष पंक्तियाँ हैं जो मानो धरती कृषी कुलजघ्नी को रोमराजियाँ हो।'

यद्यपि यह प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण है; परन्तु अलङ्कृत शैली में यहाँ विधवातकी गर मानव व्यक्तित्व का आरोप है, इस आरोप के आधार पर ही उक्त बातें घटित होती हैं। जनकीदा की गूढभूमि देःरूप में प्रकृति इस प्रकार वर्णित है—

'हवा के चलने पर लीला करने में श्रेष्ठ मोर आसवुस को शाखा पर नाचता है। अपने हगार पंख हिलता हुआ गगन शोभित है। बीच चूमनी हुई हंसों के जिह्व हंस ने चीन दे दी। फूलों के आसोद में मातक वह केतकी रूपी कागिनी से जा लष।' (ज० ह०)

जन-कीदा की तरह बसन्त-कीदा में मामन्त-गमाज की लोकप्रिय शीदा थी—

वज्जइ बीणा पिज्जइ पारां पियमाणुस चित्त साहिरां,
गिज्जइ मट्टरं सत्तरसालं धंढपेम्म परारइ असरालं,
परिमल-एउरं गोसियरामं अज्जइ कुर्णल-गाल्लियदामं। (म० पु० २१३९९)

धीशा बजाई जा रही है, पानी पिया जा रहा है। श्रिय मट्टियों के चित्त स्नाधीन है, सतस्वर बाजा मधुर मत्त गान हो रहा है, प्रचुर दूध प्रेम का प्रसार हो

रहा है, उसीान को पुष्ट करने वाली बिनो हुई जूरी की माताएँ बांधी जा रही हैं ।

शब्दक-महादनी नृत्यांगना जनकर बीसवें शीर्षक ५ मुनि तुलत का संगण गान कर रही है मयना बहुष विम्हाऽ के मया, गानो बहु गजपवों के संचार से बाधनी है, निर्कर रूपी मृदंग के धारकालन मय, मद्रों के स्वर में विष्णु लय, मधुकर-बनितारों के गीत-कलरव शीर अभिनव पल्लवों के हाथों के संचालन तथा सिद्ध की चर्मना से होने वाले कलमभ से बहु मुनि सुवत नाथ का कलकल पाठ कर रही हैं । (प० न० १०।३५)

शक्तिर कवियों ने गीतम शौर, पावस, गिगिर और नदन्त के इन्द्र का चित्रण दस प्रकार किया है जैसे वहा धो सापन्त राजाओं का इन्द्र-पुष्ट शुल हो रहा हो—

‘जब पावस राजा करता तो शीतम राजा ने धुजसामुह विस्तारित किया । वह मेष समूह से जा लडा । पावस ने अपनी बरलीरूपी सखियों के प्रहारों से उसे नष्ट कर दिया । जब विनाय धूल-समूह उल्ले मूह भागा तो उषणकाल मारी-मारी कहता शौर धक-धक करता हुआ रोडा । हत श्रम हस करता हुआ पहुँचा । उतने अपनी बमबली हुई ज्वालण शौर विनयारियां छोड़ीं । धूमामसि के अवधमड को उडाकर, धोठ चंचल वाडल रूपी खड्ग निकालकर पावस राजा ने देखा कि गीतम मेषरूपी नहागज को नष्ट कर रहा है ।’

पुण्यदन्त श्लेष के माध्यम से ज्वाल में लीन श्रवम जिन शौर गिरि में, विरागारागभेतना को विम्हप्रतिबिम्ब भास से देखते हैं—

गिरि सोहृ चूपमहु-आशवेहि । जिणु सोहृ इद्धहि आसवेहि ।

जिणु सोहृ विजालिय-सिजभरेहि । जिणु सोहृ रम्भेहि सिजभरेहि ।

गिरि गिरों हुए मधु-आसवों से शोभित है, जब कि जिन भवदड मालव से शोभित हैं । गिरि भरते हुए निर्करों से शोभित है, जिनवर रम्य निर्कराओं से शोभित हैं । पुण्यदन्त सीता के जीवन की गुलना वन से करते हैं—

वणु दीसह शृञ्चिवश-शीलगणु

सीयहि जोध्वणु मयगालु ।

वणु दीसह सिगम्मल भरियसह

सीयहि जोध्वणु सिज महुसरसह ।

वन में नीलकण्ठ (मयूर) नाच रहे हैं, सीता का जीवन मय से भर रहा है, वन में निर्मल सरोवर भरे हुए हैं, सीता का जीवन श्रत्यन्त मधुर स्वर वाला है ।

स्वयंभू प्रकृति के व्यापारों को तुलना मानवी व्यापारों से करते हैं—

यद्दुर रवेवि खग्य एां सञ्जरा
 एां एाचनति मोर खलदुञ्जरा ।
 एां पूरति सरित् अक्कदं
 एां कइ किलकिलति आखदें । (प. प. २।२८)

तुलसी इसका वर्णन निम्नलिखित रूपों में करते हैं—

दादुरधुनि चहुँ दिसा सुहार्द । वेद पड़हि जनु बटु समुहार्द ॥
 नव पल्लव भए विटप अनेका । साधक मन जस मिले विवेका ॥
 (किष्किशाकाण्ड १४)

पञ्चमचरित में राम, सीता के शत्रुओं के उपमानवादि अन्य जन्तुओं से पूछते हैं—

हो कुंजर कामिणिए गइ नमए ।
 कहें कहि मि बिटठ जह भिंगरायए ॥
 शिष्य-पंडितवेए वेगारियस ।
 जाराइ सीयए इककारियर । ॥

कामिनी की गति के समान गति वाले कुंजर ! बताओ तुमने कहीं पर मृग-नयनी को देखा है, अपनी ही प्रतिध्वनि से बंदिता राम जानते हैं कि वे सीता के द्वारा पुकारे गए हैं ।

यह प्रसंग 'मगस' में दस रूप में वर्णित है—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी । तुम देखी सीता मृगनयनी ॥

कवि अंत में कहता है—

यहि विधि खोजल बिलपत स्वामी ।
 मनहुँ महाबिरही अति कामी ।
 पूरन कामु रामु कृत्तरासी ।
 मनुज चरित कर अज अभिनासी ।

स्वयंभू के राम का अपनी प्रतिध्वनि सुनकर प्रबन्धित होना और तुलसी के राम का इस प्रकार बिलाप करना कि जैसे वे श्रेष्ठ कामी हों, एक ही विधति की दो प्रतिप्रियाएँ हैं ।

जब मनुष्य की भावधेतना और प्रकृति के दुग्म समय की दो प्रतिप्रियाएँ हैं, तो यह मनुष्य के लिए स्वाभाविक ही है, कि वह प्रकृति में अपनी धनुषुतियों

की श्रद्धा देखे, या प्रकृति के दृश्य उसके मन को प्रभावित करें। नन्दनवन में पतझड़ देखकर राजा श्रेयांस का मन विरक्ति से भर उठता है, संसार और जीवन की शराभंगुरता उन्हें चढ़ीभ करती है। प्रकृति के बदलते दृश्य मनुष्य को चेतानवी देने रहते हैं, पर वह उन पर ध्यान नहीं आता—'कोयल कल कल शब्द में मृगतो है, मानो बसंत राजा का नगाड़ा बज रहा है, मधुकर मधुपान कर मुनगुनाता हुआ कहता है, मनुष्य अपने आपमें नहीं चेतता, प्रह देखकर राजा अपने मन में तोचता है कि हमारा वन (जीवन रूपी वन) दूसरी तरह का दिखाई देता है। समय के साथ यह कंठीला, अकुशित, पतलवित होकर शुष्प पंक्तिओं से भर उठता है, फलित होकर फल की पंक्तिओं से झुकता है, तमस्त वीथव की यही परिणति है। तन्दनवन धीरे जीवन रूपी वन में यही अन्तर है कि एक में हर वर्ष नसल भ्राता है जबकि दूसरे में ऐसा नहीं होता। शराभंगुरता का यह बोध राजा को संन्यस्त के लिए प्रेरित करता है, जब कि रहस्यवादी कवि को यह दृश्य देखकर ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति होती है। श्रमभंग कवि अपनी ऐतिक भावना का प्रकृति पर आरोप करता है। सोता सपहरण पर अपनी प्रतिभ्रम प्रकृति, दस रूप में व्यक्त करती है— 'बृष से बिरे हुए नाल जल किसलनों के कहने वन रोता दे कि हे रावण ! तू पर-भुवती क्यों लाया ? क्या अपनी प्राणाय' उठाकर कहता है कि तारी रत्न का गरण भा पड़ोषा ।'

रावण कि आणिय परजुवद । तय-भुय सिण्ह सुएहि रुवद ।।
 वगु राणद करइ साहुद्धरणु । हा पञ्जउ गारि-रयस-मरणु ।।
 अंयउ लोहिय-पल्लव-ललिउ । एणं णिगुव-अण्णायसिहि जलिउ ।।

उद्यान या वन के वर्णन प्रसंग में वृक्षों के नाम बिनाने की परम्परा सभ्यता काव्य में रही है जो हिन्दी प्रबन्धकार्यों में भी मिलती है, जैसे पदम चरित में उल्लेख है—

कम्पूर-कंकोल-एललबंगेहि ।
 महु माह्वी माहुलिनी-वेडंगेहि ।।
 मरिय ल जीरुच्छ-कुंभुम-कुडंगेहि ।
 राव त्रिलय-वउलेहि अंयय पियगेहि ।। (प. अ १।३)

वायसी के पदमावत का प्रवृत्तण है—

कटहर डार पीउ सन पाके । बजहर सो अनूप अति ताके ।।
 खिरनो पाकि खांड असि मीठी । जामुन पाक मंवर असि मीठी ।।

श्वयंभू के राम जब विस्वीर्य वन में प्रवेष्ट करते हैं तो उन्हें विनाश बट-वृक्ष उपाध्याय के रूप में दिखाई देता है जो त्रिहृष रूपी शिष्यों को बारहबड़ी सिखा रहा था और वे सीख रहे थे— कौशा क का कह रहा था, और वाउली कि की,

वन सुग्री कु कू, मयूर के कं, प्रिय माधुमिका को की प्रौर चातक कं कः ।

(पं० च० १।२८)

पद्मनवत में तिहलदीप के उमरक के पत्नी दार्शनिक भाषा में बोलते हैं—
मांडुक पक्षी कहता है—तू ही एक है, कौटोहा कहता है तुम्हीं ही, कौथल कुट्ट कुट्ट
कहती है प्रौर भिन्नराज अनेक भाषाओं में बोलता है, हारिद अपनी हार का निवेदन
करता है । अन्त में जायसी यह कहते हैं—

जावत पैंली जगत के, भनिः बँटे अमराड' ।

आपनि आपनि भाषा, लेहिं दई कर नाउ' । (सि० खं १)

किसी सप्रिय घटना के सन्दर्भ में ये कवि संध्या का बीभत्स वर्णन करते हैं ।
राम को वनवास की पहली संध्या, 'नलर हुई संध्या इस प्रकार दिशाई दी मानों
सिन्धूर से अर्द्धवत् सज्जटा हो । मूर (मूर और मूर्य) के मंभ प्रौर रक्तधारा के
चचित वह निजाचरी के समान अःपंध से मान लही । संध्या समाप्त हुई और रात्रि
आ पड़नी, मानों वह सोए हुए जप की निमत रही हो ।' (पं० च १२.३)

प्रभातकालीन सूर्य बिम्ब को देखकर पुष्पवंत उदरंशास्त्री की भक्षो लका
बोते हैं : 'मानो समुद्र की वाडवाग्नि हो, मानो दिशाक्षरी निजाचरी के मुख का
कौर हो, मानो लसी का धधर बिम्ब हो, मानो निजाक्षरी वधु का लाल पदमार्ग
हो, मानो दिन रूपी मूष का अंकुर फूट पड़ा हो, मानो विश्व रूपी पिटारे में प्रवाल
रख धिख गया हो ।'

एं वाडवसिग्-राह-सायरागु । एं अिगिगिसिगिरि-मुहमास-गामु ॥

एं ताहि जि केरज अहर-बिम्बु । एं गिगिसि वहुवहि-पयमगु तंबु ॥

एं वासर-विडवंकुरु विशित्तु । एं जाग करंडि पवलज गिहिहित्तु ॥

(१६.४ म. पु.)

संध्या के बाद सूरज डूबने का दृश्य देखिए :

'इतने में सूरज खिसक गया मानों आकाश रूपी कामिनी का शिरोवलि
खिसक गया हो । जैसे निम्न से कति सेःतीवित्त, अन्त को प्रास अटपत्त सारत्त,
ज्वालाओं से ललत, वीस, दिन की यह कष्टकर वीपक दिया हो कि प्रवेश मत करो ।
मानो चारों प्रहर अभिकांड होते हुए आकाश रूपी गज का रक्त से आदं धाव हो ।
मानो दिग्गज की हृदिनी दिशा रूपी रथीने प्रवाल का पड़ा घाटण कर पंक दिया
हो । मानो मधुली के समान आश्री-धाली समुद्र की जल लक्ष्मी से सिन्धूर का
पिटारा बिखाया हो ।' (२३.१६ म. पु.)

संध्याराग प्रौर तप के डंठ-मुद्र का दृश्य शत प्रकार अंकित है :

संभाराय-जलणु जो भ्रमियउ । सो त्रम-जल-कल्लोहिहि समियउ ।
 संभाराय-घुसिणु जं संकिउ । तं तमोहमयणाहें ठंकिउ ।
 संभाराय विडवि जो फुल्लियउ । सोऽतमत्वेरमवडं पेत्तियउ ।

संभाराय स्त्री जो प्राग धूम रही थी, अन्धकार रूपी जन की लहरों ने उसे शान्त कर दिया । संभाराय स्त्री जिस शिशु की प्राणिका की जा रही थी उसे तम-गणुह के सिद्ध ने आश्चर्यचकित कर लिया । जो संभाराय रूपी वृक्ष बिना हुआ था, उसे अन्धकार के मजराज ने दौंढ शान्त । (२भा१६ म० पु०)

विसड राजकल्लहि यत्तयत्तिल छोलइ । इहुहारु व ससितेउ गिहालइ ।
 रथायारु थियउ अंधारइ । दुद्धसंक गयत्तइ मज्जारइ ।
 रइ-पायैय-विन्दु तेणुज्जुल । विट्टभुमगहि एं मुत्ताहत्तु ।
 मारें पंडरु सप्पु वियपिपवि । मुद्धे कट्टवि रा गहिउ भड्डिक्कवि ।

चांदनी भरौकों से प्रवेश करती है । सानतल पर आन्दोलित होती है । अन्धमा का तेज मधु के हार के समान दिखाई देता है । अन्धरे में वह रंध (क्षेप) के आकार के समान दिखाई देती है और बिल्ली के लिए दूध की थंका उत्पन्न करती है । उस (चांदनी) से उज्ज्वल रत्त के पक्षों की वृद्ध समिष्टी के द्वारा धर प्रकार देखी गई जैसे मोती हो, मूख मधुर ने सफेद मांग समझकर किसी प्रकार उसे भ्रमणकर लिया कर नहीं ।

नमोदा अपने पति समुद्र से मिलने में लिए अविस्तारिका के रूप में जा रही है । समुद्र के पास जाते हुए नमोदा ने जैसे गुरन्त अपने प्रसाधन बद्ध कर लिए । धन-धन करता हुआ बलधंवात नृपुओं की भंकार है, सुन्दर कागितवाले किनारे शोद्धने के अरु है, स्थलित और मुग्धा हुआ जन करवनी है, उठते हुए सुन्दर चारुत, उत्तरी निबल्लि-तरमें है, ह-विषों में कुम्भास्थल, स्तन हैं । आन्दोलित-फेन समुद्र, स्तनों का हार है । (प० च० १२।१५)

हेमन्त और वसन्त के दुग्ध-बुद्ध या चित्र रवयम्भू ने इस प्रकार अक्षिप्त किया है—

'फागुन के दूत हेमन्त को निकाला दिया गया कि जिसने विरहीजनों को किसी प्रकार मारा भर नहीं । जिसने अस्वतिशयो प्रजा को नष्ट-अष्ट कर दिया, उसके फलों पत्तों को वृद्ध के अहंकार को चूर-चूर कर दिया, विरिबर के समुद्र को जिसने छुए थे भर दिया, बनों और नगरों के समुद्र को वस्त कर दिया । पलायन करने हुए नवियों के प्रवाही और युक्तों को जिसने बरुण की घन श्रृङ्खलाओं से जकड़ दिया, जिसने दम्भ-समुद्र को वाष्पों में पीड़ित कर दिया, जिसने प्रणामंठपों को नष्ट कर दिया, जिसके शब्द में केवल पत्ताच की बुद्धि है ऐसे उस फागुनमास

का मुख मँला कर दिया गया ।” (१।१।११५० च०)

भ्रातृतायी शत्रु पर विजय प्राप्त कर प्रवेश करते हुए लोक-रञ्जक राजा वसन्त का प्रकृति इन उपकरणों से स्वागत करती है—

सुप्पहाय-दहि-अंस भ्रमणाय ।
कोमल-कमल किररा दल छणाय ।
जयहरे पद् सारिउ रद्दसन्ते ।
ठावद् मंगल कलसु गसन्ते ।

वसन्त राजा वसन्त लक्ष्मी के पर में ठाट-बाट से प्रवेश करते हैं ।

डीला तीरणवारे पईहरे ।
पद्दट्ट वसंतु वसन्त-तेरीहरे ।
सररह-वास-हरेहि रणणेरु ।
आवासिउ महुररि भंते उरु ।
कोदल कामिणीक उरुजाणेहि ।
सुयसामन्त लयाहर-रप्रणेहि । (१०७० २।१४)

सामन्त युग में दो राजाओं में होर्न वाली भिन्नता और विजेता के मानवार स्वागत का प्रकृति के माध्यम से यह प्रतीत वर्णन है ।

सूर्योदय का उत्प्रेषण अलङ्कार में क्रिया देखिए—

तम्बु करोहउ रहिह रिगुसाडें ।
चित्तउ एत्तु सखिह-कवाडें ।
कुं कुम लीकु व मण्णउ घरिणह ।
रत्तु बुवकर कन्दर-हरेणह ।
मिलियउ सोहइ कंकल्लिदसि ।
मिलियइ सोहइ कंकल्लिदलि ।
मिलियउ सोहइ रत्तह मययलि ।
मिलियउ सोहइ रभणीकरयलि ॥

लाल किरण समूह को निघाणर नेःक्ते, सुहिरणियों ने अञ्चल केणर, गुफा में रहने वाली हिरनी ने लाल बुबकिर संगम। वह किरण-समूह शशोक के पत्तों से मिलकर शोभित है, लाल कमलों में मिलकर शोभित है, रमणियों के करतल में मिलकर शोभित है । अन्त में कवि कहता है—

राज मुञ्चति जि सुगण्यं हृतत ।

अरहंतु व रवि उष्णस्य पत्तत । (२७।१७)

सूर्य अहंत की तरह राग (रागभेदात्/रागिभा) छोड़ता हुआ, सुर (सुरा म्भान) से मुक्त होता हुआ उच्चति को प्राप्त होता है । यहाँ सूर्य किरण की तापिता, राग-भेदात् की प्रतीक है ।

राग-भेदात् भी, सूर्य की किरणों की तापिता की तरह कई रूप ग्रहण करती है ।

एतत्प्राप्त पदार्थों अपने दुःखों हृत्प का साक्षात् समूर्त्ता प्रकृति में प्रकट देखती है । पदार्थों के शरीर की कालि की तरह गलित समूह आकाश में टूट रहा है, इन्द्रिय मुख की तरह सम्भकार समूह भवत ही रहता है, मोक्ष की तरह सूर्य की किरण प्रसारित ही रहते हैं । (५० सि० च० ३।२)

अपनी भावना को दूसरों पर आरोपित करने की प्रवृत्ति भी आलोच्य काय में है । जैन मन्दिर में कपड़े हुए वृक्ष राज की ऐसे जान पड़ते हैं, जैसे व जिनेंद्र की शरण में आ गये हों । तन्देवरात्मक में विद्योभिनी तन्विका कहती है कि क्या उस देव में (जहाँ उष्णता प्रिय क्या है) विजयी नहीं चमकती ? रात्रि में निर्मल तन्मस को चाँदनी नहीं चमकती अथवा मोतियों की जुगने वाले हुए कण्ठन नहीं करते ?

किह तहि देसि राहु फुरत जुह सिद्धि सिम्मल अदह ।

अह कलरत रा कुण्ठति हंस फल रेखि रविदह । (तन्देवरात्मक)

हिन्दी कवि पूर कहते हैं—

किधी धन सरजरा नहि उन देरनि ।

किधी हरि हरणि अन्न हृति बरजे शत्रु खाय सेसनि ।

पुण्यदाता के श्रुतार्थ वसन्त में कामदेव कुसुमों के शरन का संघात करता है, तन्विकों का नाश करता है । तन्देवरात्मक की विद्योभिनी कहती है कि सहजियों मिलकर विश्व मील जाती हैं—

भिलि सहियहि वेउ विरन्ति गिण्त्त । (२।९)

जयसों की नागमयी कहती है—

सखि भूमक बावें अङ्ग भोरी हीं तुराचं बिजुरो गोरी जोरी ।

जुगने का मुख देखकर, मनुष्य का मुख और बड़ जाता है । कालिदास के देव कथन की कि 'मेष-दर्शन से प्रणवी लीनों का चित्त विकलित नहीं रहता', पुण्यदाता यह द्वापार प्रदान करते हैं—

वियसति अचेयता तरुचि जहि ।

तहि एरु कि एणः वियसत । (३१२८)

जिस वस्तु में अचेतन कहे जाने वाले वृक्ष खिल उठते हैं, उसमें क्या मनुष्य नहीं खिलता ?

स्वतन्त्र रूप में प्रकृति-चित्रण परंपरा: सालंबा श्वे में प्रकृति-चित्रण ही है । प्रकृति स्वतन्त्र है वा यह ईश्वर का आभास है, यह दार्शनिक प्रश्न है ? प्रकृति पर चेतन सत्ता का आरोप किया जाए या नहीं इस विवाद में त पढ़ते हुए भी यह निश्चित है कि समय प्रकृति और मानव-चेतना को समान रूप से प्रभावित करता है, यह प्रभाव केंद्र पर पड़ता है जो प्रकृति का अङ्ग है । अग्रघण कवियों के प्रकृति-चित्रण में मनुष्यता और कल्पना का मिश्रण है । प्रकृति उनके मन को गहन रूप से धारणित करती है, प्रकृति के बदलते दृश्य उसे अभिभूत करते हैं । वह प्रकृति में मानव-व्यक्तित्व का आरोप करता है, जैसे उठते हुए पक्षियों की विघ्नाटवी के उड़ते हुए आँसू में छपना, ग्रीष्म-पायस और हेमंत-वसंत का लड्डुबुद, उमड़े हुए तुर्र का रतिराग, विघ्नाटवी का लटकी बनना, ल-वनवन और जीवमयन की समता-विषमता, तर्माग का साज शृङ्गार आदि तब इस बात को स्पष्ट करते हैं कि अग्रघण कवि बहुत-बहुत ही प्रकृति का चित्रण करते हैं । प्रकृति उनकी कविता का अनिवार्य अंग है । आलोच्य साहित्य में प्रकृति चित्रण की सभी विधाय मिलती हैं । बारहमासा वागी प्रकृतिवर्णनप्रकृति का उदाहरण नहीं है । गृष्मपूर्णि और अश्लेषा शैली में प्रकृति-वर्णन की सुव्यथा है । प्रकृति पर आकाश्यों के आरोप की प्रकृति भी सालोका साहित्य में है । उदीपन वा अलंकार रूप में प्रकृतिचित्रण, वस्तुतः प्रकृति का चित्रण नहीं है । हिन्दी के एक आचार्य ने लिखा है— 'प्रकृति-प्रेम की साधकता देने के लिए दो बातें जरूरी हैं : एक, प्रकृति को मानवीय रूप देना; दो, उसे ईश्वर का अंग-मानना । मेरे विचार से एक का समकक्ष व्याख्यान है और दूसरे का चरुत्ववाद है । मूलतः इनका समाहार या दीपितवाद में ही जाता है । साहित्यिक दृष्टि से प्रकृति-प्रेम की साधकता के लिए उस पर दार्शनिक चर्चा लड़ाना तर्कसंगत नहीं । मूल्य और प्रकृति दोनों समद की ओर में बड़े हुए हैं ।



* यह अनुवर्णन-शैली अग्रघण प्रबन्ध-काव्यों की प्रिय शैली है ।

छंद और शैली :

संप्रसंग साहित्य में विषय की विशेषता छंद और शैली का महत्त्व अधिक है क्योंकि उसमें न्यायपन है। जिस तरह अनुष्टुप् संस्कृत और गाथा प्राकृत का धारणा स्वरूप है उसी तरह बोद्धा संप्रसंग का। जैसे अनुष्टुप् ऋग्वेद में भी प्रयुक्त है; परंतु वह संस्कृत कविता का प्रमुख छंद बन गया। 'ना निगाय प्रसिद्धां स्वभगवः शाश्वती नमाः' में यद्यपि छंद पुराना है; परंतु अनुष्टुप् छंद यथार्थिक नहीं है। यह विशुद्ध भारतीय अनुष्टुप् छंद है। स्वयंभू-छंद में (यों स्वयंभू काव्य की रचना है क्योंकि उसमें प्रथम उद्घुषा उदाहरण छंदों की रचनाओं के हैं) दुवहृत् और दोहा की जातीय छंद माना गया है, 'दुवहृत्' के मूल में (विगाय १४, सम १२ भाषाएँ) 'दि-यदवा' शब्द है, यदंत् दो पदों वाला। उदा दुवहृत् में विषय समचरणों में १३, १४ भाषाएँ और अनुष्टुप् छंद में १२ और १४ भाषाएँ होती हैं। 'दिव्यो दोहा' में विषय-सम चरणों में क्रमशः १३ और ११ भाषाएँ होती हैं। इसका उल्लेख स्वयंभू छंद में नहीं है। स्वयंभू ने इस जात का विशेष रूप से उल्लेख किया है कि जब प्राकृत रचना उत्साह के क्षण में बड़ी जाती है तो उसे 'वदनक' कहते हैं। इसी प्रकार दुवहृत् में उत्साहादि को लेकर भी जाने वाली रचना, संप्रसंग में पहिली कही जाती है। स्वयंभू ने यापानास्य (संप्रसंग काव्य) में प्रयुक्त कई प्रकार के जातीय छंदों पर विचार किया है।

पदत्रिपा/कड़वक/संधि :

स्वयंभू के अनुसार छटुणिया सात प्रकार की हैं, घाटा तीन प्रकार का। पदत्रिपा और गीतियां अनेक प्रकार की हैं।

पदत्रिपा की परिभाषा इस प्रकार है :

पदत्रिपा पुणु जेद करेति । ते सोदहृत्तत्तप पद घरेति ।

बिहिं पत्रहिं जमउ ते सिग्निमजति । कडवअ अट्टहिं लहिं रअति ।

(१५/०)

जो लोग पदत्रिपा की रचना करते हैं, वे सोनहू भाषाओं के एक पद की रचना करते हैं, दो पदों के समक निमण्डि करते हैं और घाट वगैरों के एक कड़वक की रचना करते हैं। सबसे पहले चतुर्मुख ने इसका प्रयोग किया। वह जरूरी नहीं कि प्रत्येक समक का चरण १६ भाषाओं वाला ही या एक कड़वक में घाट समक ही हों। वे कम-बहु भी हो सकते हैं, स्वयंभू की रचनाएँ इसके प्रमाण हैं; परन्तु समक के चरणों में तुक होना जरूरी है; कड़वक के पहले चत्ता और

अंत में छद्मलिखा होता जल्दी है। (१३/५)

सन्धि के प्रादि में पता रहता है, लेकिन कड़वक के अंत में इसे छद्मलिखा करते हैं। एक निश्चित संख्या में निश्चय कड़वकों का नाम संघ है। यह पद्धतियाँ प्रथवा कड़वक शैली ही अपभ्रंश काव्यों की एकमात्र लोकप्रिय काव्य शैली है।

पता और छद्मलिखा :

अपभ्रंश छंद के मूल में द्विपदी है। संधि के प्रादि में प्रयुक्त दुर्ब, गार्हा प्रदिल्ल प्रादि पता कहलाते हैं। याचानं हेमचंद्र के अनुसार सन्धि के प्रादि और कड़वक के अंत में झुव, झुवा या झुवल होता है। चार पद्धतियों के समूह का नाम कड़वक है। झुवा, झुवक को पता भी कहते हैं। उसके तीन भेद हैं, द्विपदी, तनुपद्यो और धर्परी। कड़वक के अन्त में उपसंहार के लिए प्रयुक्त द्विपदी प्रादि ही पता वा छद्मलिखा कहे जाते हैं। हेमचंद्र के अनुसार छद्मलिखा के अर्थक पद्य में १०.५ पर वरति वाली ३१ मात्राएँ होती हैं अन्तिम दो तपू। 'प्राकृत पंचतनु' में पता का यही लक्षण दिया है। इससे सिद्ध है, कड़वक के अन्त में प्रयुक्त छद्मलिखा ही पता है। पता चलन से छंद नहीं है। वैसे कि उल्लेख है—

संधिहे आइते रद्व्य एम छद्मलिखा वि पता भण सुभेया ।

अप्याउ विविह पद्यारिअउ फताउ छद्मि विद्यारिअउ ।

इस प्रकार द्विपदी का एक भेद छद्मलिखा है। पता के रूप में श्लेष प्रचलन होने से उसे पता कहा गया।

पता की व्युत्पत्ति संस्कृत वितक से संभव है। अतक अर्थात् डाला गया। दो तपूकों के बीच में डाला गया छंद। वितक से वितस्य > पतस्य > पता। इस प्रकार पता रूप में प्रयुक्त छंद दो कड़वकों के कल्प को चिह्नित करता है। छद्मलिखा (छर्वेनिका) का भी यही अर्थ है। कड़वक के मूल में कटककृत शब्द है। कटककृत > कटशकस्य > कडपकस्य > कडवक। कडवक शैली अपभ्रंश प्रबन्धकाव्यों की प्रथम शैली है।

रासाबंध— रासाबंध के अर्थ में स्वयंभू का रहना है कि काव्य में छद्मलिखा, पद्धतियाँ और स्वयंभूरी से रासाबंध अलग-अलग के लिए अत्यन्त प्रतिराम होता है। (१५/५४)

उनके अनुसार रासाबंध में प्रस्तार की दृष्टि से सभी जानियाँ (छंदों के प्रकारों) की रचना की जाती है, वह रासाबंध गौणियों में स्थापन होता है। इस प्रकार के छंद में रासाबंध की रचना संभव है। कड़वक के अन्त या सन्धि के प्रारंभ या अन्त पर छद्मलिखा पता कहलाती है। अतः पता छद्मलिखा का अर्थ है; पता

के रूप में प्रयुक्त लघुश्लेषः ।' स्वयंभू के अनुसार यह रासाबंध गुणर है, जिसके प्रत्येक पर में २१ नाचाएँ और १८ मात्राओं में बाव यति एवं प्रतिम तीन अक्षर लघु हैं। डा. वेण्कटर का अनुमान है कि रासाकन्द और तात एक ही (पृ. २३४)। स्वयंभू के अनुसार यह रासाबंध भी कवयकों में इस प्रकार निबद्ध किया जाता है कि जिसमें बह समतल विद्यारी होता है; लेकिन उनके कथन से यह स्पष्ट नहीं है कि रासाबंध, रासक और रासक काव्य एक ही वा अलग अलग। क्या 'संदेशरासक' और 'सुखीराजरातो' को इस परिभाषा में लिया जा सकता है? अपभ्रंश में देशता की स्तुति कुल्लविय (पुष्पिका) कहलाती है। देश या जालि के नाम पर भी छंदों के नाम हैं जैसे आभीर, मरहट्ट इत्यादि। मरहट्ट में २५ मात्राएँ और १०, ८, ११ पर पर सति होती है।

जइ मित्त धण्डेसा समुरगिरीसा तह्विहु पिधरावीस ।
जइ अभिअहकंदा रिणअलहिचंहा उह्विहु भोअण बीस ।
जइ कणममुरंगा गोरिअचंगा तह्विहु डाकिण संघ ।
जा जसुहि पिआवा देव सहाभा कवहुण ही तत्तु भंग ।

अपभ्रंश में प्रयुक्त छंदों के बारे में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं। वह मात्रिक छंद है, अपभ्रंश छंद रचना का मूल द्विपदी है। विषय और प्रयोगभेद से अपभ्रंश छंद का नाम बदलता है। तुकतता कृत आवश्यक है। अपभ्रंश काव्य में प्रयुक्त मात्रिक छंदों की जगह वर्णयुक्तों का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु उद्यम में द्विपदी और तुकतता होनी चाहिए।

शक्ति :

पश्चिमांश अपभ्रंश कविता जैन कविता है। जैन दर्शन के अनुसार यह लोकपाल जनों (जीव, जड़, धर्म, अधर्म और काल) का समवाय है। इसे अचकार्य के नाम: आकाश, लोकात्मका है। उसमें परे असीमाकाश है: धर्म, अधर्म, काल और आकाश कमल: शक्ति, उद्धार, सर्वना और अचकार्य के हेतु हैं। जीव के दो भेद हैं, रागादि भावों से मुक्त जीव और विमुक्तजीव। आत्मस्वरूप की उपलब्धि ही मनुष्य का एकमात्र प्राणिम पुरुषार्थ है। जैन दर्शन के अनुसार जीव स्वयं कर्ता और मोक्ष है, इस: ईश्वर जैसी कोई स्वल्प सापेक्षीय शक्ति नहीं: कि जिसे कर्ता और निष्कारण माना जाए। आत्म-स्वरूप के साक्षात्कार के लिए राग-चेतना से मुक्त होना जरूरी है: ईश्वर को संसार का कर्ता और मोक्ष मानने वाले दर्शनों में भी माना गया है कि माया, जीव और ईश्वर के बीच भेद उत्पन्न करती है। माया के कारण जड़ और चेतना में जो गति पड़ गई है और जिसके कारण जीव अपने स्वरूप का ईश्वर को भूल गया है उसे किस प्रकार तोड़ा जा , यह एक सुलभ

यमस्या है। जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष को यह परिभाषा कि ईश्वर से श्रव्यत
अनुसंग भक्ति है, उपयुक्त नहीं है। उनके अनुसार पूज्यों के प्रति भक्तिभ्य 'अनुसंग'
ही भक्ति है। पूज्य वे, जो राग द्वेष से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हैं।
ऐसे व्यक्तियों की अनुकूलता जीवक बने प्रकट बनती है। पूज्यों में पूज्य जिनमें
के प्रति पुण्यवत्ता का निवेदन है—

हे जिनमं ! जो तुम्हारी सेवा करता है, उसे सुख होता है,
जो तुम्हारी प्रतिभूल होता है उसे दुःख मिलता है, लेकिन
आपका योगों के प्रति भयस्थ भाव है, वस्तु का स्फुट
रूप में यही स्वभाव है। (म. पु. १०१.१)

इन्द्रियों की साधकता जिनपर जो भक्ति में है जैसे—'वे ही हाथ धन्द है जो
तुम्हारी सेवा करते हैं, वे ही काम धन्य हैं जो तुम्हारी बात सुनते हैं, वे ही
मानवान् हैं जो तुम्हारा विचार करते हैं'। (म. पु. १०.७)

तं कश्चु देव जं तुज्ज्मु राज्ज

तंमणु जं तुठ प्पुयाइ स्त्रीणु

तं भणु जं तुह पवपोम-ल्लिणु । (म. पु. १०.१७)

हे देव ! वे ही काम्य हैं जो तुममें रहते हैं, वहीं धन है जो तुम्हारी पूजा में
धीमा होता है, वहीं मन है जो आपके शरणागमनों में लीन है।

श्रीः छंर में जो गई स्तुति का प्रकार यह है—

जय सयल भुवन तल

मलहरण-दत्ति राभरु

वरचरण समधरण (म. पु. १.३७)

हे समस्त भुवन का मल दूर करने वाले, श्रद्धियों के लिए शरणाग्ररूप, धींष्ट
आचरण और समस्त प्राण धारण करने वाले आपकी जय हो।

धरणेन्द्र द्वारा की गई स्तुति का यह संबंध कवि के जीवन से जुड़ा हुआ है—

विस्मुराणो शिद्धाणो दुम्माईं शिग्घराणं

पर हरवावाहो गहियपरगासधो । (म. पु. ८. ८)

नागराज धरणेन्द्र कहता है कि मैं विपुण, निर्धन, वृद्ध और निर्बल हूँ।
दूररे के घर में रहने वाला और दूररे में कोई जाने वाला। "धरणेन्द्र का यह
कथन, कवि पुण्यवत्ता का आत्मकथन है क्योंकि उस समय वह भारत के तुंगभवन में
रह रहा था और उनका शिवा भोजन कर रहा था। भौतिक पराधीनता की यह
पीड़ा कवि को बहुत कष्ट दे रही थी। स्वयंभू कहते हैं—

जयसम्बन्धीयकारणभाव

राय अग्रत-राह्यत सह्यव । (५) च. ६.११)

गमस्त जीवों के प्रति कष्टदा भाव वाले, चक्षुष अन्तः प्राकाश के रचनावाले प्राणको जय हो ।

स्वयंभू के अनुसार मानव शरीर की सम्पन्नता जिनवर की कृति में है—

ते ए सीस परिणमिउ भारउ ।

जे ए पणविउ विहुवणसाउउ ।

ते ए कण्ण तरुकोडरछाणइ

जे ना सुणाति धम्म थक्खाणइ ।

ते ए चक्खु पत्तण्णु भुवणम ।

जेहि ए विट्ठ देव गुरु आगम ।। रि. पी. च. ६.३४

वे मिर नहीं, भारस्वरूप परिणत हुए हैं कि जिन्होंने विभूवन-श्रेष्ठ को प्रणाम नहीं किया, वे कान नहीं बुझ के कीटों के क्षेत्र हैं कि जो धर्म का आशयन नहीं सुनते । वे श्रावण नहीं साक्षात् प्राप्त हैं कि जिन्होंने देवगुप्त और आगम के दर्शन नहीं किए । भविष्यदात्म या पाप्मस्वरूप में स्थित होने पर मनुष्य उस प्रशिक्षण पर पड़च जाता है जिसे कोई भी भाम दिया जा सकता है । कथि पुण्यवंत आदि-तीर्थक्षुर ऋषभनाथ की स्तुति में कहते हैं—

‘जिनके गर्भकाल में हिरण्य (स्थरी) वृष्टि हुई है
ऐसे दुर्नयों का नाश करने वाले हिरण्यगर्भ आपकी
जय हो, परम अन्ततः चतुष्टयों की शोभावाले आपकी
जय हो, संसार के अंधकार को दूर करने वाले
हे सूर्य ! आपकी जय हो, पशुओं के यज्ञ का नाश
करने वाले हे यज्ञपुरुष ! आपकी जय हो, ऋषिर्षी में-
प्रदांसित बहिष्साधर्म का भाषण धरने वाले आपकी जय
हो, विभूवनरूपी माधव के ईश आपकी जय हो,
परमार्जन का नियोजन करने वाले परमार्ज ! आपकी
जय हो, हे गोवर्द्धन केशव परमहंस आपकी जय हो ।

(म.पु. ५.१०)

स्वयंभू और पुण्यवंत की उक्त भक्तिपरक स्तुतियों का ऐतिहासिक मूलत्व है । ये कथि अभिप्राय भारत में उस समय हुए, जब कहीं वैश्वभक्ति के सम्मानांतर वेदवाच्य भक्ति का विकास हो रहा था । इतिहास में जलन होने वाली इस भक्तिकथि

गंगा को उत्तरभारत में प्रवाहित करने वाले रामानंद के प्राविर्भाव में सभी देव को । विदेशी आक्रामकों की संस्कृति से दक्षिण भारत सभी अक्षयभावि था । मेरे विचार में भक्तिजन भारतीय दर्शन और सधन व्यवस्था को दिवा प्रतिक्रिया की प्रतिभाओं परिणति है । विदेशियों की युगपैठ से उनका कोई तीखा सम्बन्ध नहीं है । अतीश्वरवादी होने हर भी स्वयंसेवी और पुण्यवत के भक्ति-उद्धारों में वे सब तत्त्व विद्यमान हैं जो ईश्वरवादी दर्शनों की शक्ति में हैं । यद्यपि वे कवि अपनी भक्ति की अहंता कहते हैं जो मुक्ति का साधनकारण नहीं है, फिर भी परंपरागत कारणों से ही । गिनतरी की अनुकूलता और प्रतिभूतता को वे मुक्त दुःख का कारण मानते हैं । वे जानते हैं कि गिनत प्रकृति से जीवन राम भेजना और वैवाचिक परिणति से मुक्त होकर आत्मस्वरूप (जो परम चैतन्यस्वरूप है) को प्राप्त करता है, उसके प्राविर्भावक तीर्थंकर ही है । गुणवत अपनी मान्य रचना का फल नहीं कहते हैं कि श्री भक्त, अहंता स्वयं ही जहां समन हुआ है वह भी वहां जाय ।”

सिरि भरहृद् अरुहृद् जहृद् गमणु पुष्पयंदु तीहि गच्छत ।

तुलसीदास कहते हैं :

अस विचार रघुवंसमनिहरतु विसम भवपीर ।

तुलसी के ये उद्गार :

मुनहृं राम अब कहीं निधिता । जहां बसतु सिव लखन समेता ।

जिन्हके अथरा समुद्र समाना कथा तुम्हारि सुमग सरि नाना ।

भरि निरंतर होहि न पूरि । तिन्ह के द्विध तुम्ह कहूं गूढ छरे ।

जानते हैं कि तुलसी की भक्ति का अन्तिम लक्ष्य 'रामनन्द' ही जाना है ।

मोई जानइ जेहि वेहु जकाई ।

जानत तुम्हहिं मुम्हच होइ जाई ।

तुलसी के अद्भुतार :

जगु पेखन तुम्ह देखनिहरे । विधि हरि सुभु नचावन हारे ।

तेउ न जानहिं भरमु तुम्हारा । धरि तुम्हहिं को जानन हारा ।

स्वयंसेवी और पुण्यवत के अनुभव विश्व एक नाटक (दृश्य) है, चैतन्य विभक्त प्रकृति है । उसे नचाने वाला भोई नहीं, वह स्वयं नाच रहा है, भेदाविज्ञान (स्वभगविक) के बिना, चैतन्य इस समस्त के अर्थ को खलन नहीं कर सकता । मनुष्य के दुःख का कारण उसकी भौतिक सामर्थ्य ही है ही; परंतु सबसे बड़ा कारण है विषमता-बोध, जो जीवनस्तर के बोध के साथ बढ़ता जाता है । 'रामचरितमानस' में राम की जिना लीलाओं का विचार है, यह उनका वास्तविक चरित नहीं है । उनका वास्तविक चरित यह है जो लीलाओं में सक्रिय होते हुए भी चलासंग है । तीर्थंकरों का चरित भी कर्मजाल से मुक्त होने पर अनासंग, शुद्ध परम चैतन्य रह जाता है । हिन्दी साहित्य में भक्ति की दो धाराएँ हैं, एक रामनन्दक और दूसरी विरगमूलक । अथवा अ कवि उस भक्ति के पक्ष में हैं जो विरक्ति को और ले जाती है ।

रस और अलंकार

'अपभ्रंश कविता' में लौकिक और आस्थीय दोनों तत्वों का मिश्रण है। रस और अलंकार, उसके अविचार्य अंग हैं। स्वर्गभू का विस्थापन है कि अलंकार रहित सुकथा वही प्रकार व्यर्थ है जैसे वाङ्मय में युक्त कथा। कथा अलंकार रहित होनी चाहिए भले ही वह अलंकार त पहिले जो, इसी प्रकार कथा भले ही अलंकार रहित और अप्रसिद्ध हो, परंतु उसका अलंकार होना जरूरी है। उसका तबसे बड़ा अलंकार, अलंकार-विहीन हीना है। दुष्पदों की सरस्वती को बंधना करते हुए, उसकी जो विभेदताएं बताते हैं, वे एक प्रकार से उसकी वाणी को विशेषताएं हैं। ये निम्नलिखित हैं, कोमल पदों से जो लीला के साथ निचरण करती हो, गंभीर और प्रसन्न हो, चंद्रलेखा की तरह कतिपयों और एक ही, अलंकारों में युक्त जो छंदपूर्वक बधती हो, जो अनेक शारदों के अर्थों को धारण करने वाली हो, जो तबके हित का सधन करती हो और सौंदर्य की धाम हो,

कमहरिसु सरसु समहसु चवति । ननिमलपयाइं लीलाइं विति ॥

गंभीर पसण्या सुवण्यादेह । कतिल्ल-कुडिल सुं चंदरेह ॥

सालंकारी छदेसु जति । बहुसत्य-कृत्य-गारव बहुनि ॥

वउभुह-मुह-वासिणो सदुओणि । ग्रीसेसहेउ सा सोह-ओणि ॥

वही काव्यवाणी सार्यक है जो अंग और अंग की आधारभूमि हो। रसानुभूति और सौंदर्यानुभूति के विषय में आधुनिक विद्वानों में मतभेद है, यद्यपि दोनों की आधारभूमि भाव है। दोनों के लिए भाषा की सर्वनात्मकता अपेक्षित है। रसकाव्यो की साधारण्यकरण-प्रक्रिया और सौंदर्यावियों की संश्लेषण प्रक्रिया, दोनों, कलात्मक सर्वज्ञ से जुड़ी हुई हैं।

जहां तक अपभ्रंश प्रबंधकाव्यों में रसबोधना का प्रश्न है, वह परंपरागत है। शारदोप-दृष्टि से शृङ्गार, वीर और शांत रस में से एक ही अंगीतर ही सकता है। यदि रस की मुख्यता का कारण यह हो कि काव्य का समापन किंवा रस में है, तो इस दृष्टि से अपभ्रंश काव्यों का समापन शांत रस में है इसलिए वही रस मुख्य है। यदि समापनवाली कमीटी को हटा दिया जाए, तो अंगों की प्रचुरता और व्यापक दृष्टि से शृङ्गार और वीररसों का अंगान महत्वपूर्ण है। शृङ्गार के दोनों रूपों (सयोग और वियोग) का निचरण अंधांधाकाव्य में निचरता से उपलब्ध है। शृङ्गार के वर्णन में वन, सरिता, अट्ट, शैलशोभा, अट्ट कीड़ा आदि बातें भी

सम्मिलित है। इन काव्यों में सामान्यतः सप्रेम का वर्णन है, परन्तु प्रेम के वैधर्म्य के भी उदाहरण मिल नहीं हैं। इनमें या तो प्रेम में धर्मिण्यो कठिनाइयों को पार कर प्रेमी या प्रेमिका दोनों अपनी प्रयत्न में सफल हो जाते हैं, या फिर धर्मधनता से उत्पन्न निराशा के कारण उनका मन सांसारिक धनभंगुरता से भर उठता है, जिसकी अतिम परिणति विरक्ति में होती है। प्रेम के कई कारण हैं, उनमें एक कारण है पूर्वंगम। उसके कई भेद हैं। 'व्यभिचरिचरित' में समुद्रवत् पथथी के रूप को देखकर प्रेम में पड़ जाता है। उदाहरणित, पुत्रों के पिता से यात करता है लेकिन विवाह के बाद संदेह के कारण समुद्रवत् उसे छोड़ देता है। चाव में दोनों का मिलन होता है। कवि धार्मिक धर्मों रचना को धर्म-कहानी कहता है फिर भी कुछ हिन्दी धार्मिकक उसे प्रभावदातक स्वयं मानते हैं, जो मिलत असंगत है। अर्थात् प्रबंधकाव्यों में प्रेम का जो मिलाप से वर्णन है, उसके दो कारण हैं, एक तो काम चेतना (अंश वृत्ति) मुख्य दो व्यापक प्रवृत्ति है जो मनुष्यतर प्राणियों में भी सक्रिय है, दूसरे जैन दृष्टिकोण से माँह की निस्सारतः स्वार्थ के लिए अर्थात् कवि उसका विशेष वर्णन करते हैं। वैश्या का मार्ग राग में से ही जाता है। यह सही है कि जैन दृष्टिकोण के अनुसार सर्वमान जीवन की प्रत्येक घटना का कारण पूर्वजन्म के कर्म का फल है, फिर भी उसके उदय में माने का स्थूल प्रत्यक्ष कारण भी होता है। 'पथथी' के संघर्ष की कहानी का कारण उस का वैधर्म्य है, इसी प्रकार 'नविसयलकहा' में कामला के विधोम का कारण, उसके पति अनरुद की, उसके प्रति अकारण विरक्ति है। पत्नी के पृच्छे पर वह कहता है- मैं नहीं जानता कि ऐसा क्यों हो रहा है। तुम चाहो तो अपने भोहर जा सकती हो। 'एतयकुमारचरित' में नायकुमार की जो मन्दा द्वारा फल भुक्तता पड़ता है, उसका मूल कारण मौतिया डाह है। कुमार की मा पृच्छीदेवी बावड़ों पर उसे बन्ध देो जाती है, इस पर, उसकी सौख्य विधातनेता उसे बधनाप करती है, इसके फलस्वरूप कुमार घर के बाहर चला जाता है। वह अतिशय यश और प्रिये अर्जित करता है, जो धूलपंचमीव्रत के अनुष्ठान का फल है। 'जसहरचरित' का मुख्य प्रतिपाद्य 'जीववलि' का विरोध है, परन्तु उसमें उस युग की तांत्रिक लालना, तरबलि प्रादि बातों का यथतय संजीव चित्रण है। पूरे अध्याय में पर्याय और अमृताती की प्रेमकथा की दूरगापी परिस्थितियाँ हैं। समृत्तरी राग यौग द्वेष की चेतनाओं में जनती रहती है। कवि बताना चाहता है कि तन्मर की सम्पत् कृतार्थों, वृष्टताओं और हिताओं के मूल में राजचेतना है। 'जवन्वामीचरित' में वह प्रतिपादित है कि भवजन और भवदेश दोनों गरीब ब्राह्मणकुमार हैं। सड़े भाई की देखा-देखी भवनेज जितनीश्रा उत्पन्न कर लेता है, लेकिन उसकी चतुस प्रेम-चेतना (काम-कुटा) उसे मयती रहनी है। नयनों का कहना तो यहाँ तक कि सातह्वार सुकण कहने में जो रस है वह तरुणियों के विद्वमण्डित अक्षरलिम्बों, रसीले दृशुर्वों, समृत्त चंद्रमा और चंद्रन

में नहीं है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की होने वाली पत्नियों का वर्णन करते हुए पुण्यवंत का कवि कहता है कि कामरूपी शालग्राम में उत्पन्न होने वाली स्त्रियाँ थीं। जुना ऋषभ के सामने आने पर दोनों के नेत्रांतर्गों से तिरछे जा लगे, जैसे मत्स्य से मत्स्य फिलत गए हों, द्विज के स्नेह से आँखें खैलती हैं जैसे वे बच्चों के चियरों में प्रवेश करना चाहती हों, चिबों से चिल इस प्रकार मिल गए जैसे गजवर तबो-जल में लीलापुर्बक मित आते हैं। (म.पु. १४/४)

नववयप्राप्त कामदेव बाहुबलि को तग-ज्वलितार्थों पर गहरी प्रतिक्रिया होती है। उन्हें देखकर 'कोई उनके वीरों का पड़ती है, कोई बिनवपुर्वक धुल्ल कहती है, कोई कहती है—शालिग्राम धो, यदि तुम मेरा प्रांगण छोड़ो, तो तुम्हें अपने पिता की बसम। कोई बचता बन्ध्याच्छत से लग जाती है, कोई अपने सोमास्य को भीष भागतो है, कोई रत्नों का द्वार वेतो है, कोई कंधन और कटिसूत्र।" तुरदास की गोविदा कहती हैं—

अखियाँ हरि के हाथ धिकानी

भृङ्ग मुसकानि मोल इन लीगहीं दल्ल मुनि मुनि पञ्चितानो ।

श्रीमती के रूप चित्रण में पुण्यवंत उपमाओं का अंबार लगा देते हैं। कुमारों कीमतों कुमारों के लिए काम की विसूचिका थी, उसके कुमकुमवृत्त वीरों का क्या वर्णन करे ? मैं उसे कामधेव की मुद्रा का मन्तार मानता हूँ। पक्षराज मणिपुर्व की कांति के समान सुन्दर वे पैर क्या नक्षत्रों की उत्कृष्ट मोहित तनी से ? उन युवती के पृष्ठों के बंध की देखकर मुविजत काम का संधान करने लगते हैं। ऐसा कौन है कि जितनी पनरूपी गैर, उनके जाँघों रूपी पाँड़ों के भीड़ा मैदान में नहीं चलने लगती ? उनकी करछनो की मुद्रता देख कर किसका पृथ्वी और तग मल्ट नहीं हुआ ? उस मुद्रा का मुखरम तिदरस है, ओ मुख रूपी स्वरा को गिट्ट करने वाला है।

(म.पु. ७/२२)

मुहरलु मुद्रहि सिद्धरलु सुहसुवन्म।सिद्धियद

“श्रीमती की अंगलता लोदय की जोड़ाभूमि है, अतन्त उसके एक एक अंग से रमण करना चाहता है।

पपावदो के सर्वय वर्णन में जायसी का कवि कहता है :

का सिगार ओहि बरनों राजा । ओहि सिगार ओहि पै छाजा ।

बुधरवार अलके विसभरी । संकर पेग न गिउपरी । (नखशिख खंड)

यदि पुण्यवंत श्रीमती की नखकांति की तुलना नक्षत्रकांति से करते हैं, तो जायसी का कहना है कि पदमावती के अनवट (विच्छिदा) नक्षत्र और ताराएँ हैं उन तक कौन पहुँच सकता है ?

घाय श्रीमती का चित्रपट हो जाकर उसे एक दिन मंदिर के कक्ष में फँसाती है, राजकुमार उसे देखकर कहते हैं—'यह कन्या, लता की तरह कोमल और अंगों से उज्वल है। नम्र से सरिता यह बाला सुन्दर है, कोमल-कोमल बालोंवाली यह जश्न विद्युत्। भय में मेरी प्रिया को। हाय नया कल ? यदि मैं इतना रमण नहीं करता तो मर जाऊँगा।

'पदमावती' में पद्मानवी रूप का अर्पण सुनकर, राजा रतन सेन की यह हास्य है :

सुनतहि राजा गर सुरकाई,

जानो सहरि सुरज की श्राई ।

श्रीमती के चित्रपट पर कवि की प्रतिक्रिया है—

पट्टइ लिहियउ हियवइ डोलहियउ ।

को तं फूसइ रिडालइ लिहियउ । (म. पु. द/१४)

जो चित्रपट में लिखा है वह श्रवण में लिखा है, जो भाव्य में लिखा है उसे कौन नष्ट कर सकता है ।

रतनसेन कहता है ।

है मोहि आस मिलैके जाँ मेर बे करतार ।

पुणरंड संभोग का खूला चित्रण करते हैं—

"वर देह को प्रकृति के साथ आलिंगन देता है, झूट जाने पर, वधु फिर आलिंगन चाहती है। वर बाल पकड़कर उसे पीचे झुकाता है, वधु नीचा मुँह करके मुँह छिपाती है। वर मृदुला से अश्रुओं को पकड़ता है। हँ हँ करके लपकधु मोड़ा हँसती है, वर अपने हाथ से वधु के स्तनशिखर छूता है, लज्जा से वधु पलक से उन्हीं बकती है, फँसाए गए यत्र की बंध धीरे धीरे ढकडुः करती है, दोनों आँधों में वर हाथ का प्रयोग करता है, छाड़ी को हटाकर पलंग पर डालता है। शक्ति होकर वधु मुख पर हाथ रखती है, वर कर्दित को देखता है, वधु उसकी आँधों को बकती है; कपोल और नल्लों से प्रिय सिद्ध जाता है, वधु रोमांचित हो उठती है। प्रिय कहता है रतिगृह में हम दोनों पत्नीवा पत्नीना हो रहे हैं, लज्जा करने में क्या ।" रतन सेन ये पदमावती कहती है—

म. पु. १४/२४

जानहुं नाहि पैज प्रिय खँधी । रिता सपथ हँ आनु न वाँधी ।

काल्ह न होइ रही महि जामा । आज करहुँ रायन संग्रामा ।

हँ रानी पदमावती मैं रजिता रसभोग ॥

तुं सरवरि कर तासीं जाँ जोगी तोहि जोग ॥

रातसेन का उत्तर है :

हौं अस जोगि जान सब कोऊ । धीर सिंगार जिते मैं दोऊ ।
उहां सामुहे रिपुदल माहां । इहां त कामकटक तुम्ह पाहां ।
उहां त ह्य चढ़ि के दल संगी । इहां त अधर अमिय रस खंडीं
उहां त खडग नरिर्दाहि मागीं । इहां त विरह तुम्हार संहारीं ।
उहां त गज पेलीं होइ केहति । इहां काम-कामवि हिय हरि ।
उहां त लूटीं कटक-संधारू । इहां त जोतीं तोर सिंगारू ।

मिलन के बाद पदमावती की स्थिति यह है :

लोन्हि लंक कंचन गढ़ टूटा, कीम्ह सिंगार घड़ा सब लूटा
स्वयंभू औरवीं और पांडवों की मुदरत केवों के संगम की गुलना मियुन संगम
से करते हैं—

मिहूणइं जिह दावह सोहसाइं मिहूणइं जिह सेल्लह हुंकारइं
मिहूणइं जिह सेउल्लियगतइं मिहूणइं जिह उस्सियाहर-उट्ठइं
(प. प. १०/६)

दोनों सैन्य मियुनों की तरह लीभाष्य का प्रदर्शन करते हैं, दोनों मियुनों की तरह हुंकार छोड़ते हैं, दोनों मियुनों की तरह पसोने से तन्त्रपय है, दोनों मियुनों की तरह अक्षर और होठ काट रहे हैं ।

जयकुमार अपनी पत्नी सुलोचना की गुलना गंगा से करता है :

‘जोमवि गंगहि सारसहं जुयलु जोमइं कंताहि धराकलस जुयलु’ ।

गंगा के सारस मुगल को देखकर कांतः में स्वयं मुगल देखता है । इस प्रकार के रूप चित्रण में उपमानों की रम्यता समाकृता है ।

गंगा के कितारे राजा पांडु की भाद्री की अशोरलता तता की तरह दिखी है यी,

कारयल कोमलदल-पल्लव इय रचशा महालवालु धराधल इव,

भृश्रीट्टल कुंभ लीधराधल । श्रीहृवण सण कसरा-केसराधल ।

उसकी हृषेलिपां कोमलदल पत्तों से । समान धीं, स्तनतल रमण करने के कालजान के तमान से । उसके अग्र फूल से और घांसे अग्र के लगन धीं, उसकी सटी हुई काली केमराशि काली नागिन के रंग की धीं ।

कुल्य प्रसंगी में अर्धभ्रम कवियों ने संस्कृत काव्य शास्त्र की रुढ़ियों को तोड़ा है । अर्धभ्रम साहित्य में प्रेम की पहल तथिका भी करती है । काम और

वियोग की अवस्थाओं को संख्या में परिचित है। भरतमुनि पूर्व-धनुराग को विप्रलम्ब का कारण नहीं मानते परन्तु विद्वन्नाथ ने पूर्वभाग को वियोग का कारण माना है। भरतमुनि ने ५-अक्षराओं की फिरो वियोग में की है, अथवा ५ अक्षर उन्हें धनुराग के अंतर्गत मानते हैं। इसलिए उन्होंने गुणव्यय और स्मृति को वशाओं में गिनती नहीं की। आलोचन साहित्य विप्रलम्ब के उदाहरणों से भरा पड़ा है।

युद्धवर्णन अथवा काव्यों की मुख्य प्रवृत्तियों में से एक है। युद्ध के दो कारण हैं—सत्ताविरतार, कथा प्राप्ति। शिरोरुक्ति और केन्द्राएँ युद्धवर्णन को प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। चक्रवर्ती भरत की धारणा भाई बाहुबलि से इसलिए ठन जाती है क्योंकि वह अपने बड़े भाई को अधोऽथा स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। बाहुबलि कहता है—“हे दूत तुम भारत से कहना कि उसका चक्रवर्त उद्योग के लिए खिंच है मेरे लिए वह कुम्हार का कक है—

चक्रकु देह तं तामु जि सारउ, महु पुणु एा कुं भारहु केरउ । (म.पु. १६/१६)
युद्ध के लिए प्रस्थान करते ही सामंत वनिताओं में प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है: एक कहती है “यदि तुम मेरा उपकार मानते हो तो हे प्रिय ! तुम देवमरणी (वीरवति) की नहीं मानना।” दूसरी कहती है: “गणित विज्ञान तैक्यों कंगत पहनने के बजाय, हाथीवाच का एक कंगत पहनना अच्छा। इसलिए हे प्रिय ! पीछे घन में प्रवेश करने, मेरे प्रेम के कारण से जाना।”

अधिकार-दंतुमम उ एक्कु जइजि तलउल्लउ सोहइ हस्वि तशवि
तं तल्लउ पोरिस-जसेरा आणंजजगु पिय महु रइवसेरा

एक कहती है कि कमंडोर को मारने में कोई लाभ नहीं—इसलिए राहु तारागण से रुठ नहीं होता। उगंरा हएरा एरिक्कत्राहु उडगराहु एर रुसइ तेरा राहु कितो मोद्धा की गयींकि है—हे प्रिय ! मेरे दुलहें दुकड़ें हो जाने पर भी मेरे हाथ को तुम पक्षी के भूष में देखोगी कि आकण्ड के मार्ग में, तम्मा, शत्रु को नहीं छोड़ने वाला और तलवार दिखाने वाला। न. पु. ६/१७
एक दूसरा सुभट कहता है—

अह धरणि-धुलिउ लइ रिउ-विहत्तु, तुह मंगलमु कज्जप विलित्तु ।

अं पेच्छहि बहुहहिरें किलिणु परिभूक दीहणाराय-भिणु ।

वच्छथलु महारउ तंजि लेहि सधुसिणु करयतु अहियाणु देहि ।

हे प्रिये ! यदि शत्रु के विपक्ष, तुम्हारे मंगलम प्राप्तियों और काजल से रिक्त, प्रचुररक्त से आर्द्र, छोड़ें, एण लम्बे तीरों से। स्थित भिन्न मेरे बल: रणल को तुम देखो तो उसे ले लेना और पहनान के रूप में केशर सहित अपना हाथ देना। संघों की आसने सानने की भिन्नता का दूषण अभिष्ट ।

उत्तररति साह्याह' चाउरंग-साह्याह' ।
 सुद्धुबद्ध सच्छराह' एकमेक-कोविकराह' ।
 कोति कोडि कोविकराह' दाराजाल-साह्याह' ।
 बूलिबाउ बूलिराह' आउहेहा-जजराह' ।
 रति रतिं पेल्लियाह' सांशियाह' रेखियाह' । (रि. ने. च. ६/३)

श्रीर और बीभत्स रतियों की योजना अथवा-कार्यों में युद्ध के प्रसंग में है या फिर किसी पात्र की अथावह स्थिति में वर्णों के प्रसंग में । हनुमान को जग्ग देने वाली अञ्जना मसुराव और वीहरांसे तुराए जाने के बाद वन में प्रवेश करती है, वहां पर एक सिंह देखकर वह भयभीत हो उठती है । सिंह का वर्णन :

कूळजरसिर रहिरारुणारुहक कीकालसित्त-केसर-पसर ।
 अह-विद्यउ दाह-फरियाव रथणु रत्तुप्यल-गुंज-सरिस-रायणु ।
 खय भापर रथ गभोर गिरु लंगूत-दंड-कण्डुदय-सिर । (प.व. ७/१६)
 उसे देखकर अञ्जना भ्रुंछित हो जाती है । जटहरचरित्र में 'मरधट' का वर्णन इस प्रकार है :

'बलावीभदं देहि देहावसायं पवित्रो अशाणं सागरां मसाणं
 कुभारे ततेण किटं रउदणं ललंतं तमालं सिवामुलक रादं ।

जहाँ तक कल्याण का प्रश्न है : विप्रलंभ और कल्याण में बहुत कम अन्तर है । एक में तयावीभाव रति का अलंवन का मोड़ें समय के लिए अभाव होता है । दूसरे में बहुत समय या इच्छा के लिए । अथवा कवि कल्याण का पर्यवसान पातरस में कर देते हैं । अथवा कवि के सामने नतको नानाजनता मूल्य करते करते धरती पर गिरकर मर जाती है । यह ईश्वरक कल्याण विरक्ति से भर उठते हैं-वे देखते हैं- न ही नानाजनता के स्तन हैं, और न न्यक्तता । जैसे किसी ने सीधे का चिचपट लिखकर मिरा दिया हो । मानो कामदेव की कति चुरा जो बई हो, मानो सीधे की सरिता मूल्य गई हो, मानो एक पल में रति की नगरी विलीन हो गई, लोगों की आँसुओं में रहने वाली कथनी जाती रही, लाइन सरोवर की वह कमसिनी कालक्रम के द्वारा लोड़ ली गई ।

वह देखते हैं कि नीलमणियों का प्रांगण बैठा ही सुना पड़ा है जैसे विजयियों से रहित मेघ हो । अथवा विजयों का से ईश्वरभूत हो उठते हैं, जिसकी परिणति नारायण में होती है । इसी तरह सपन लेना गलत है कि अथवा-साहित्य निमुक्ति मूलक है । मनुष्य की मूल चेतना जिजीविषा है, उनके मूल में राग चेतना है, काम चेतना उसी का सन्निध रूप है । जिस प्रकार जिजीविषा का अर्थ मृत्यु में है उसी प्रकार काम-चेतना का निर्वेद में । निर्वेद वेदपूर्वक ही संभव है । 'कल्याण' के ऐसे भी उदाहरण

है कि जिनकी अन्तिम परिणति मान्त में नहीं होती। जैसे अपने पुत्र के निघन पर चंद्रनखा विनाय करती है :

कंदसि रुचति सवेपथियाय शिञ्जीव जाय शिञ्चेयगियाय
पुणु कुक्कु कुक्कु संचरिय मया मुहकायर वरमडलिय रायरा
पुणु उट्टेति विहूराइ सुधुलुअल पुणु सिर पुणु पहराइ वच्छयल
पुणु कोनकइ वाहइ रइइ पुणु विसर शिञ्जालइ पुणु पडइ । (प.च.)

वेदनापूर्वक चंद्रनखा भाक वत करती है, रोती है, निर्वीच और नेतना दून्ध, फिर कडिमाई से मन को संवाचित करने काती, कातरमुच, थोड़ी थोड़ी बंद बांधें, फिर वह उठकर दोनों हाथ पीटती है फिर फिर और वक्षः स्मल । फिर पुकारती पिल्लायी रटती दिवाएँ देखती फिर पड़ती है।

रावण के निघन पर संबोवरी विनाय करती हुई कहती है—

हा भत्तार हा मया रंजया हा भञ्जलय-तिलय-रायरांजया ।
हा मुहव मुरहिय-सिरसेहर, हा रिरउ-रमणी-कर-कांगन-हर ।
हा कया-कलस विहूसया पदस-1, हा कर-फंस-जगिया-रोमंविचय ।

वासव्य के कई प्रबंध आलोच्य शक्ति में हैं । अनिराजत कथा में शृङ्गार और वासव्य की धाराएँ समांतर प्रवाहित हैं । उनमें वासव्य रस के संयोग-वियोग मूलक उदा. मिलते हैं । राम के बन्वास पर कीर्तिया का पुत्रमोह इन शब्दों में पूट पड़ता है :

हा हा काइं पुत पदं हलहर, वसरह-वत्तदीथ जग-मुंदर ।
पडं विणु की पल्लक मुवेसइ पदं किणु को भिदुएण रमेसइ ।
पडं विणु को हय गए गहुँ षडेसइ पडं विणु को अस्थारण वएसइ ।

हे लुत्तार ! (राम) तुमने महु बना कहा है विश्वसुन्दर वधरप बंध के दीपक ! तुम्हारे बिना पलङ्क पर कीन सीएया, तुम्हारे बिना कीन मंद खेजेगा ? तुम्हारे बिना कीन हःषो षोडे पर चढ़ेगा ? तुम्हारे बिना कीन सिद्धासन पर बंढेगा ? भरत की विभिनय के प्रसंग में सिधुनवी के कट पर निशा में, पुष्पवंत तारी बिरह की छाया देखने है :

जिहू रयशिहि कमलदं मउलइं तिह वि-हिगि-वयणइं मउलदं । १३/५

शृङ्गार की तरह वासव्य के भी दो पक्ष हैं, संयोग और वियोग । 'अभिसंधाकहा' इसका सुन्दर उदाहरण है । कुमार भविस हाथों हाथ पलता है ।

रुचि हृत्पु भ्रमद् जगद्विदहो चरिउसुहावहृ सुदुर्गारिदहो,
रुगारिहि सङ्गं अकि नइज्जदःकामर-गाहिशिहि विज्जिज्जद ।
अण्णोद्द पामु अण्णहि लिज्जद ॥

वह लोगों के हाथों हृत्पु भूमता है, राजा की उतका चरित अत्यंत सुखावह
सगता है । रुचिवां सुद गौर में लेती हैं थीं; कामर धारण करने वाली स्त्रियां हवा
करती हैं । बंधवद् अपनी पत्नी कवला से कहता है कि यह सामान्य बालक नहीं है,
तो यह उधार देती है कि वह अपने शरीर में जो उतारा हुआ है, इसमें तुममें कंच
हो सकता है । जब तुमारे अंत जमाने के गिरे बाहर जाता है तो पतला कहता है :

एवम् अकारण कुविय जियमें दिण्णु अण्णु दाहृ तउ सण्णं ।
अण्णुवि पण्णं देखतथ जंतहो सो मह सरणु दिव्वद पञ्जलंहा ।

एक तो तुम्हारे पिता ने फंश किया और बहुत संतान पैदाया, तुमारे दस सभ्य
तुम्हारे विदेह जाने पर भी किल की वरण में रहेंगे । (मविमदसन्हा १०७/२)
दुष्प को सुझाते हुए बसोबास कहती है :

‘हृत्पुंथं हृत्पुंथं जो अण्णदं हृत्पुं पसाण्णं’ हीराइ उण्णद ।

वाचस्पत्य सुभाजन ने अपना प्रतिविम्ब कवकर उसे सुझाते हैं :

अप-भायगिणु अवनंशति आनइ गिणपविगिणु विट्ठु वीण्णवद ॥

दुष्प की लीलाओं में संभकर बसोबास कहती है—

मेरी कोष से तुम हृत्पु नहीं राक्षसोंवा हुए हो, तुमने कोष में विल को मरोड़
दिया, तुम भाय से बच गए, वीण जैसे कड़े समाजा देखते रहे, तुम कितना सतते
हो मुझे प्राणो धर चले ?

शास्त्रीय काव्य में ‘हृत्पु’ की व्युत्पत्ति नहीं है । ‘कांतरह’ में प्रायः संगार
की निस्तारता, अण्णपुंता का रिक का लक्षण रूप में वर्णन किया जाता है ।
शांतरह वहीं सगता चाहिइ जहा मज्जं चिरिहि कीर आरुआपणा होतो है ।
अपने भ्रष्टे भाई भरत की दुरागे के बाद आहुवलि लोकक स्वार्थ के लिए को बड़े
अज्ञताओं से शोक उठता है—

हा कि किज्जइ भुवधलु मेरुउ जं जायउ सुहि-दुण्णायगारउ
रउज्जहु कारण पिउ मारिज्जइ बंधयट्ठं मि विसु संचारिज्जइ
एह इ दिव-छदु विवज्जमि एवहि पुण्णु ए पाउ समज्जमि ।

‘हृत्पु’ बना लिया जाए कि जं मेरा बाहुलज तुममें करने वाला हुआ, राजव
के लिए विला की मारर जाता है कीर भाइयों में विश का संचार दिया जाता है ।

मैं इस इच्छा-छात्र को छोड़ता हूँ और इस समय पृथ्वी और वायु कुछ भी खजित नहीं करता।” स्व. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने एक जगह लिखा है कि गुरुदास ने जो कृपा के उद्भव का वर्णन किया है, उसका कारण मथुरा का सागर के तिनट होना है। प्रश्न है कि श्रीमद्भागवतकार, स्वयंप्रु और गुरुदास ने कृपा के उद्भव का जो वर्णन किया है, उसका क्या कारण है? क्योंकि उनके समय ‘सागर’ या हो नहीं*।

अलंकार

प्रवचकाचार्यों में बहो कथा स्वीकृत है, जो पल्लवत और रत्नपेशल हो। प्रकृति, वस्तु और रस के विवरणों में अलंकारों के उदाहरण आ चुके हैं। अलंकार के लिए अलंकार को योजना बहुत कम है, उसका प्रयोग प्रसङ्ग स्थिति या भाव के बोधों को बढ़ाने के लिए है। मानसिक-स्थितियों के प्रत्यक्षोत्तरण के लिए उपमाओं की भरी जाया देना इस कविओं को विशेष प्रिय है। पति के हृत्कराने पर पद्मश्री के आशंकित मन को तुलना, आहित कथि, उस अनन्ता से करता है जो राजराज से आशंकित है: उस मंजरी से करता है, जो तुलना से आशंकित है। बाप से बरी हुई हिरनी, या महत्त्व से अंकित नागिन को जो आहत होती है वहीं आहत पद्मश्री को था। स्वयंप्रु कहते हैं कि वर्णों में शेष मयूह उसी प्रकार फैलता है जिस प्रकार गुड़ के मैदान में सूर्य, मजानों में अंबकार और बहुतायी में बुद्धि का प्रसार होता है। आहित परित्यक्ता पद्मश्री के मुख को छाया प्रभावकालीन आकाश में देखता है—उसके नेत्र की तरह तारे आसमान से टूट टूटकर गिर रहे थे, अंधकार उसके इन्द्रिय मुख की तरह लपट हो रहा था, उसके हृदय के रंजित की तरह मुणों का स्वर फल रहा था, चन्दना मुख की तरह फीका था और हृत्पुत्र नेत्रों की तरह संतुलित हो रहे थे, आकाशों की तरह विषाणु दूर दूर तपः फैलती आ रही थीं, और पूर्व जैसे उसके संताप की भाँति निकल रहा था। (५) नि. अरि. (६) पद्मचरित्र में राम को जगत तिलक उषाम' सञ्जन के हृदय के समाप्त दिखाई दिया। राज्यों के बीच विभीषण को देखकर सीता को गया जैसे "तीन के पद से चंद्रा भूष हो"। हृमान राम से कहते हैं कि जिस तरह अरिष्टुण में परिणाम से, धर्म और गुणों की बातचीत से अनुक्षण सीता हो जाता है, जगत् प्रकार सीता आशंक विदीप में करिण हो गई है। (१) अ. च. २/११५) गुरुदास में शिखर उपमाओं की प्रकृति पवित्र है। उपमा की तरह उत्प्रेक्षा भी हमें विवेक विव है। घणामान मलाई में अशुद्धी हुई धरती, स्वयंप्रु को ऐसी जान पड़ती है जैसे राजों में श्रेणी नववध हो।

* कृपा का अर्थना वैभव है, उनके वैभव से सबका वैभव है। सागर के क्षणिक वैभव से उन्हें कुछ नहीं लेना देना !

खगडड-पवनःशोणिय मेहरिण शोलाकडी रां वरकामिरि ।

आकाश की उपमा इन्द्रधनु है । नीला अपने धर में इस प्रकार विजयी जैसे शर से विभक्ति निकली हो ।

रां सद्दो शोणिय विहृति । (प. च. २/१७)

धार्मिक उपमा : जिन मंदिर के पास महाभूख ऐसे जान पड़े मानो सतार के भय से जिनपर की शरण में प्रणिष्ट हुए हों । दर मांगते दुई कीकी ऐसी अवता के शोणिय शर की शरणकी सी हृति हो । राम के द्वारा शोता के पाणिपदस्य पर लक्ष्मण की उरधोशा है—

वहदेहि धरिण करि हलहरेण रां विजयतु अवलें जलहरेण ।

हलहर ने शोता को शरण से रहस्य किया मानों खण्ड पेष में बिन्दु की धारण किया हो । काण्य से संबंधित उपमा शोणिय :

सःशरं मानवं कुशुमवं शैवति ।

सोस व सुकडहे लसु विजयति । (प. च. २/८३)

परिष्कृत कवचना के शोभाया इसप्रकार गिर रहे हैं मानों शर के खण्ड खण्ड गिर रहे हों :

दिल्लडं साहुरसाइं पारिषति ।

रां केह खण्ड खण्ड पडति । (प. च. १४७)

एकवक्ति :

जहि जलहि रांवि विमुपकर्षिहि ।

पकण्डं रांहि विमु लपण्डिहि । (प. च. ३/१२)

निदर्शन :

गण्डनु अहं मुहु तिगिरणवु,

रां बावड एरअहं-तराड पंकु ! (म. गु. २/४२६)

नीके जाता हुआ अंधकार मानो गण्ड का रास्ता दिखा रहा है । चमत्कार प्रदर्शन के लिए भी अंधकार का प्रयोग है : जैसे 'सारंग' शर के अनेक शर्षों को लेकर :

कमलगंधु पेषइ सारंगे । शः माळूरें शोसारंगे ।

समसु-लील जाकिव सारंगे । सा कि सात्तिजड सारंगे ।

शुभ्राशर का यह अक्षरशः प्रतीक शैलों का नभूतः है :

तिगा रां लुसइ हरिण पिबड ए पाणी ।

हरिण हरिणी-गिलय एःशारी ।

हरिण = मत्त, हरिणी = मान मुत्रा ।

वर्षा में रुक शैली का एक गफ्ता पुष्पदंत के महापुराण में उद्धृत है ।
दून बाहुबलि से कहता है :

परिग्रह-बलेण एतद्गु महि पिङ्गु । उत्तुंग तुंग तरंगवन्तु ॥
कारिण्यर पसारिय-चंड-सौंडु । तिसपुंडरीव डिडीर पिंडु ॥
दादण्य-पउर-गंभीर घोसु । तृगउं चौद्वह रय्याहिवासु ॥
संदर-बोहित्य-समूह-चवन्तु । पंचगमंत पःपलिवन्तु ।
तुण्भुवरि देव असिभस-रजद्वु । उत्थल्लिज सारवद-बलेसमुद्वु ॥

एकजन्मगी जल से भरती घरेर आधावा वो इकता हुआ, जैसे अश्वों की
जहरीं बाला, हारो कभी गमरीं को कैलां हूँ प्रचंड मुंशं से युक्त, तिसमें खेत
अर्थों का फल समूह है, आरेण और प्रचुं घोष से युक्त हैं, ओ हुंम और चौवह
रत्नों का निधान है, ऐसा समुद्र, हे देव तुझारे ऊपर उल्लस पड़ा है ।

अरत के लहरत की गति का अक्रीब होने पर पुष्पदंत की उपमाएं हैं :

राउ पइसइ पुरिचक्कु शिरत्तउ । मुदधरि एं अण्णाय विवन्तु ।
पर पुरिसापुंरइ सह-चित्तु व । परदासत्तगम्मि सर्वासित्तु व ।
मायागेह-शिवंअण्णि सित्तु व । तत्तदाणि पाविट्ठु चित्तु व ।
भुराय-विणीराइ दिण्णउ मत्तु व । रइरस-तुरिसइ एवउ कलत्तुव ।

निश्चय ही चक्र, गहर में प्रवेश नहीं करता, मानो आयाग से अहित धन
रचित घर में प्रवेश नहीं करता, जैसे भांगे का भय दुधरे आरधी के कनुराग में
प्रवेश नहीं करता, जैसे स्वातंत्र्य दूसरे को दासता में प्रवेश नहीं करता, जैसे
कान्ठपूरी स्नेहवधन में मिश्रण प्रवेश नहीं करता, जैसे पाषाण का चित्त पात्रदात
में प्रवेश नहीं करता, जैसे रतिरस की लंचलता में तडे पुत्रती नहीं जाती, जैसे ही बड़े चक्र
कलोधरा में प्रवेश नहीं करता ।

किना का दुदरे अर्थ में प्रयोग पुष्पदंत के लिए विशेष प्रिय है :

दिशकुदेव बाहुबलि-सारेसक । ओहु एा संघइ संघइ गुणिसक
कज्जुगा संघइ संघइ परिपक । संधिं एा इण्णइ इण्णइ संगह ।

हे देव शःहुबलि नरेश्वर प्रियम है वह स्नेह नहीं जोड़ता, जोर तर जोर जोड़ता है,
नाम नहीं बाँधता, अपना परिकर बाँधता है, संधि नहीं च हवा,

बाहुबलि द्वारा भारत को उड़ाए जाने पर, पुण्यवंत की उत्पत्ति साएँ देखिए :
 राँ मुहपरिणामें जीव भवत् । राँ सुवरा-समूहें मुकड कव्वु ।
 राँ मुणिवस्त्राहें वयवितेत् । राँ सार्वरिद-शाएरा देसु ।
 राँ वमरा-विचारें बालभाणु । रा बाएँ चंपव कुमुमरेणु ।

बाहुबलि ने भारत को इस प्रकार उठा लिया मानो पुत्र परिव्राज ने प्रथम जीव को, मानो तन्वज-समूह ने मुकडि के काष्प को, मानो मुनिवर स्वामी ने ब्रह्म शिवेश को, मानो शैलपादा ने देश को उठा लिया हो। सरस्वती के मंगलाचरत्त में नहीं गई, पुण्यवंत की रे पंक्तिवा, अनामक प्रबन्धकाणों में प्रयुक्त भाषा का चरित्र उदाहरण कर देती है, यहाँ सरस्वती से कवि का भाषण वाणी में है।

सालंकारी छंदेण जति । कृतुमन्व-अरथ-गारव वहुति ।

ये शिष्यसाएँ, पुण्यवंत की ही नहीं, समूची अनामक प्रबंध कविता को भाषा की है।

लोकोक्तियां, लोक नीतियां, मुहावरे

भारतीय भाषाओं में लोकोक्ति का प्रयोग, मुहावरों की अपेक्षा प्राचीन है। लोक को उक्ति, लोकोक्ति कहलाती है। वक्तोक्ति, स्वभावोक्ति आदि की तरह लोकोक्ति भी एक चलंकार है। मुहोःवरण-मूलतः अरबी शब्द है जिसका अर्थ है रोज़मर्रा के बोल चाल, किसी भाषा के वाक्यों का प्रयोग जो उसके बोलने वाले करते हैं और जिसका अर्थ शक्तिशाली से निम्न श्रिता है।

मुहावरा, मुहावरा का हिन्दीकरण है, वह वाक्यों का प्रयोग नहीं-बल्कि लक्षणात्मक किया है। लोकोक्ति, लोक विद्व अनुभव है जिसका प्रयोग किसी स्थिति या तथ्य के समर्थन के लिए होता है। कपोप्यता या विपदा की कमी के कारण किसी काम को पूरा न करने पर, अक्षमता का दोष दूसरे के मध्ये करने की प्रवृत्ति मनुष्य की एक सामान्य प्रवृत्ति है, यह प्रवृत्ति एक लोक-विद्वान्त के रूप में लोकोक्ति इन जाती है जैसे-नाच न साथे शयिन देहा। किसी काम को न करने की इच्छा स्पष्ट रूप से न बताने हुए दूसरे-लिए बहावा—जैसे 'न नौ गन लेल होया न राधा नाचेगी।' मुहावरे में यस्तुतः वाक्यात्मक विद्या का प्रयोग होता है जैसे—सोच विचारना, जो चुरावा, मदन खावा। इन वाक्यों में क्रमशः विचारना, चुरावा और खावा का लक्षणात्मक अर्थ है—कोश का बना करना, काम में चित नहीं लगाना, हाथ मान लेना या हानि सहन करना। इस प्रकार लोकोक्ति और मुहावरे का क्षेत्र अलग-अलग है। इसमें तबोह नहीं कि लोकोक्ति की अपेक्षा मुहावरों का प्रयोग वास्तविक भारतीय भाषा-भाषाओं में बहुलता में होता है। हालाँकि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों में लक्षणात्मक प्रयोगों के साथ लक्षणात्मक विद्या (मुहावरा) का प्रयोग भी था। संस्कृत में 'गर्व कुयो' का अर्थ है वह ही शक्तों का लुप्ता चलता है। विद्योपात्मक संरचना होने से वा. भा. अर्थशास्त्रियों में मुहावरों का प्रयोग प्रचलन

अधिक है। दूसरे सम्भ्रमता के प्रभाव और प्रभावशाली मेंशिक्ष कवन के कारण भी भाषा सुदृढता-बहुल होती चली गई। लौकिकि की तुलना में मुहावरों में एक विशेषता यह है कि उसके मूल प्रत्य को हटाया नहीं जा सकता। मोड़े को पानी विखाना भी अगह लक्ष या श्रवणोक्तन कराना नहीं होगा। आँसू खान पीना करने की अगह नेत्ररक्त पीत करना नहीं बनेगा। आस'क में लोकोक्तियों की अनेकता मुहावरों का है फिर भी है। जैसे—'परिपलट बेगालही शयू' जिससे उसका चमह पूर-पूर हो जाए। 'पह' तिरु सगिरी मयु' वह आपको तिनके के बराबर समझत है। 'अविकर महल्लि एवु कौ' यह अन्वितर हैली कर्णो करतो हो। लोकोक्ति और लोक नीति में यह अंतर है कि एक के मूल में कोई अटना या कथा होती है, दूसरी में लोक द्वारा मान्य या स्वीकृत नीति। लोकोक्ति का दूसरा नाम कहावत (कथावाणी) है।

इस दृष्टि से यह व्याख्य मतलब समूह है। जैसे (१) कालभुयंयु ज्ञानुभरु—कालकपी नाम (भुयंवे) से कोई नहीं चलता ॥२॥ सुदण्डतु जि एवु पर थककड—परंतु एक सज्जनता स्थापित रहती है ॥ (३) अहिबदूमिड एवु हा कण्णड—वराधक से दूगित राजव अन्धता नहीं लगता ॥ (४) कण्णड कडणे सज्जनु कण्णड सज्जन की कण्णड के सज्जन ही अन्वित होता है ॥ (५) भीरुहि मज्जि ॥ मज्जि हा सज्जन—कावर्णो का परजन शोभा नहीं देता ॥ (६) का राई ला सीस विष्णुविवा—राज नहीं जो अन्धता से आलोचित हो (७) परकसजोवणु सज्जन—दूसरे के अर्थम नीय शोभा नहीं जाता ॥ (८) दोसड सीस पज्जसड वत्ति—दीप से दुःख के वाली अज्वलित होती है ॥ (९) सिधमरेण सिधमणु सिधमरेणु—अपने मन से अपने मन को नियमित करना चाहिए ॥ (१०) एणड मड चाम्पियः, ओहि-गोने के लोभ से मति मारी जाती है ॥ (११) एणडि चम्मणणए वणिरकणु—प्रजा की सम्भ्रमता से रक्षा करनी चाहिए ॥ (१२) जिहू चीनवपालड मोयसड जिहू पाणव मोयड मोयसड—जिस प्रकार राजा मावों के सपथक का पालन करता है, उसी प्रकार राजा पुष्पी मण्डल का पालन करे, यह नीति धारण है; परन्तु नीति धारण ही कर्म-कर्म लोकोक्ति का रूप धारण करता है ॥ (१३) मणुविणहू मोयुयडु जि पुत्तु—मन का उद्धार करना अज्जन मुग्ध का ही भूषण है ॥ (१४) तुपीया सज्ज कि दसदणु-मवा दाकानल धी से आत होता है ॥ (१५) जयजयड ए अथाःखल हिणड—खत का हृदय अमा के भाव नहीं होता ॥ (१६) चक्कु कालवकु ति रसडड—कथा एक काल एक ही रथा करता है ॥ (१७) होरतु जि मणु, मणु मणु—सर्व मनुष्य का मण्डन है ॥ (१८) सण्ड कण्णड पाहणु मुन्वड—आपत्ति के समय चिन्तना नहीं चाहिए ॥ (१९) सणु महिण्ड के जिहू दुवकड—जीवन में जब जेय प्राप्त हो तब सहन करना चाहिए ॥ (२०) कम्मरहित जणि भण्डु हा भुंजड—अज्जन कर्महीन (निष्ठलता) होकर जब में योग नहीं करता ॥ (२१) एवु वि काड लडु चिन्ड—साध सोचते हुए मृत भी चला जाता है ॥

काव्य रूढ़ियों और कथानक-रूढ़ियाँ

१९१२ के आसपास से हिन्दी काव्य के अध्ययन में (विशेषतः शाली काव्य) 'मोटिक' की बर्तनी विशेष रूप से होती प्रहो है। हिन्दी में इसे कथानक-प्रवाह या कथानक-रूढ़ि कहते हैं। प्रसिद्ध संस्कृत कर्मोक्तक राजशेखर ने लिखा है—

पूर्वोद्धे विद्वांसः सहस्रशालं स्नाञ्ज च वैदमवगाह्य शास्त्राणि
 चाचबुद्धम, देशांतराणि हीनांतराणि च परिभ्रम्य यात् अर्थान् उपलभ्य
 प्रणीतवन्तः तेषां देशकालंतरवर्णने, सन्ध्यात्वेपि तथात्वेन उपनिबन्धः, य
 स कविसमय, कविसमयवर्षाचर्यं मूलमण्डयदिभ प्रयोग-मात्रदर्शिनः प्रयुक्तः
 कृद्भव । तत्र कश्चित् आद्यतैव अत्रत्विवाः कविरामथेनार्थैः कश्चित्
 पश्यरोगकमार्ये स्वाभार्यं घूर्तैः प्रवर्तितः* ।

प्राचीन समय में हजारों शास्त्रादी वाले मांभोपांग देते या सवगहन कर, शास्त्रों की खानकर, देशांतरों और हीनांतरों का परिभ्रमण कर जित अर्थों को प्राप्त कर विद्वानों ने उनकी रचना की, देश और काल बदलने के कारण, उनके द्वारा दूसरा रूप ग्रहण करते पर, उनका उल्लेख रूप में वर्णन करना कवि-समय है। घूर्णन की न देखते हुए केवल प्रयोग की देखने बाधों ने इस कविसमय का प्रयोग करके उसे कृद्भना दिया। कर्दी अर्थ ऐसे हैं जिन्हें घूर्णन ने अपने रथाय भाषन के लिए चला दिया।

मूल अर्थ की (चाहे वह शास्त्रगत ही; या देशांतरगत) नहीं खानकर उनका प्रयोग करना कवि समय या कवि-रूढ़ि है। लेकिन जब कोई रचनाकार अपना उपकरण दिखाने के लिए स्वार्थवश कवि समय प्रकृतित करता है तो वह कदापि अउपयुक्त है।

'काव्य रूढ़ियों और कथानक रूढ़ियों में अंतर है। सर्वत्र से सम्बन्धित जो रूढ़ियाँ बात पड़ती हैं वे काव्यरूढ़ियाँ हैं। जैसे मंगलाचरता, पूर्वचरणरा का उल्लेख, आशयानुसार, सञ्जन, घूर्णन वर्णन इत्यादि। वहीं तक कथानक रूढ़ियों का सम्बन्ध है, घूर्णन के अर्थ कथानकरूढ़ियाँ होती हैं, बाद में उनका प्रयोग रूढ़ि के रूप में होने लगता है। 'कॉकडेन' के अनुसार 'मोटिक' गृहयान में आने वाला सबसे छोटा वरध है, जो तबूने कथा चण्ड की व्यक्तता करता है। बाद में ये सजातीय कथात्मक

प्रतीक बन जाते हैं। एक विद्वान् में स्वयंभू कोच के विद्याधरकांड भी कथानक रुद्रियों का कांड माना है, जो तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि विद्याधर कांड में कथानक-रुद्रियों नहीं बल्कि इन कानियों (विद्याधर, चानर, जघन) का उल्लेख है, जिनका राम की ननयाशा और उसके बाद की घटनाओं से सम्बन्ध है। काव्य और कथानक की रुद्रियों के साथ, कुछ भोजविश्राम भी रुद्रियों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। तन्मू के तोर पर स्वयंभू के पत्राभरिठ में प्रयुक्त रुद्रियों का उल्लेख किया जाता है। ये रुद्रियां हीन-अधिक नावा में तथा अश्रय चरितकाव्यों में प्रयुक्त हैं।

काव्य रुद्रिया :

श्रुतम जिन की वनना :

रामभू याव कमल-कोमल भराहर-त्रर वह्म कन्ति सौहृत् ।

उसहस्य पाय कमल स-सुरासुर-वदिय सिरसा ।

नव-कमल की तरह कोमल, दुन्दु, खेळ, प्रभूर कानि से शोभित तथा वेचो और प्रयुक्तों के द्वारा बंदित श्रुतम के जराय कानियों को सिर से प्रणाम करो।

इसके बाद कवि स्वयंभू परम तुम्हियों और तीर्थकरों की वन्दना करते हैं। राम कथा का उद्वेगन बताते हुए कवि कहता है—

बढमारु-मुहु कुहर विरामाय रामकहाराइ एह कथाय ।

एइ राम कल्-पारि सौहृन्ति मणहरदे-हि विदुठ बहूवी । १/२ पं.

कवि अपना परिचय देता हुआ कहता है :

पडमिगि-जराहि-मन्ना संसुण् मारुणव-कव-य गुराण् ।

अहतगुणरा पडहरगो छिक्कर-सारां पविरक रतं । १/२ पं.

भारत-विषय और सज्जन-दुर्जन :

बुहवरा सथभू पई विष्णवइ । मइ सिसउ अणु राहि अकुर ।

धावरणु कथावि ना जाणिवउ । राउ विसिमुलू ववसाणिवउ ।

हवसाउ तीवणउ परिहरमि । धरि रहुतद कवु करामि ।

सामण्ण मास सुहु मावइउ । जुहु आगम बुति कवि घइउ ।

हुहु होनु सुहसिप-ववणइ । पाणिलभाया वारहरणइ ।

एहु सज्जणलोयहो किउ दिणउ । जं अहुहु पदरिसिउ अण्णराउ ।

जइ एम विरसइ कोवि कलु । गहो पत्थुत्थल्लिउ जेउ छलु । १/३ पं.

* बर्दान (पद्मकीन स्वामी) के मृत्युश्लो पर्वत से निकली हुई राम कथा कथी यह गरी कम से कमी था रही है अन्त में इसके गणधर देवो त वहीन हुए देवा ।

हे सुवर्जनी ! यह स्वयंसे प्रार लोपोंके निवेदन करता है कि मेरे सनातन कोई दूसरा छोटा लवि नहीं है, कभी भी मैंने व्याकरण का ज्ञान प्राप्त नहीं किया और न मैंने बुद्धि तथा सुधी की उपासना की । फिर भी मैं सज्जन का अपना व्यवसाय नहीं छोड़ रहा हूँ । यच्छः मे रघु वंश में काव्य करता हूँ ; वीर्य ही मैं सामान्य भाषा में कोई श्रावणभुक्ति को रचना करता हूँ । काव्य भाषा से रहित मेरे वचन सुभाषित हीं, यह जो मैंने सज्जन लोगों से विनती की है, उनके सम्मुख अगवः अज्ञान प्रकट किया है, यदि हत पर कोई दुर्जन कहता है तो तो मैं उसके भी छल से हाथ जोड़ता हूँ ।

अधिकतर कथालोक कविधियों का उद्देश्य, चमत्कार या आश्चर्यमयता के संयोजन के लिए अप्राकृत या अतिप्राकृत परभावों का संयोजन करना है । कथालोक कविधियों के विकास में पौराणिक मान्यताओं की भी बहुत बड़ी भूमिका है । उदाहरण के लिए पंच पौराणिक मान्यता के अनुसार प्रत्येक पुरुष का स्वयं शौर्य और शौर्य शौर्य के प्रतीक में कुछ होता है । पौराणिकता का लोकोपचार चमत्कार में स्पष्ट और शीघ्र सम्बन्ध होने से कुछ शक्ति कथः का अर्थ मत जाती है, जैसे दोष-कथों के गर्भ और जन के मध्य होने वाले चमत्कार, जैन मुनियों का आहार का समय पांच प्राणियों का प्रकट होना, लोकोपचार पुरुषों के जीवन में चमत्कार परभावों पर्यटन होना, मारावणों प्रतिमारावणों में अज्ञातपुरुष शक्ति और सामर्थ्य का होना, पूर्वजन्मों का जन्म, तपस्या करने समय जैन मुनियों पर अवयव, देवी चमत्कार से उनकी रक्षा होना, देवी शक्ति का साधुओं का होना, युष् का महिमा बताने के लिए देवी तरण का समावेश, शान्ति मय शौर्य शक्ति के लिए अति प्रकृत तत्व की योग्यता । ये पौराणिक कविधियों सभी जैन चरित कान्तों में पाई जाती है । युष् कथा के साथ कथितव्य अन्तर समय कथाएँ शक्ति तत्त्व जोड़ दिए जाते हैं जिनके द्वारा चरितकार या की उपदेश देना चाहता है या फिर तत्कालीन स्थिति का चित्रण करना चाहता है ।

लोकोपचार और लोकोपस्थान के रूप में कई बातों का मेल है । उस समय भारतीय समाज दो स्तरों में विभक्त था - राजसमाज, जिसमें सत्ता - पुरुष और असाक्ष समाज तथा जगत् सम्बद्ध लोग । लिखित पुरुषों के शक्ति की प्रथः की । दिग्गज के बाद विजेता राजा की आन्तरिक अज्ञानों की जाती थी । प्रथम चक्रवर्ती भारत के जाने पर अयोध्या बुद्धुत नी नरह सज उठी । केसर का छिड़काव हुए और उत्तम, अयोध्या के दलधियों के शौर्य द्वार और कपूर की रसोती । (स. गु.) पुषी का जन्म सुरा माता जाता था, गुण के लिए मतीनी करने की प्रथा आम थी, जैन गुरुओं को पुत्र की चाह में स्वर्ण प्रतिमा बनवाते थे । छोटे बच्चों का फल टालने के लिए जोर शक्ति दी जाती थी । शक्ति-परशुशक्ति का दिग्गज अज्ञान प्रकट था; परन्तु यह उक्त युष् को सभी भाषाओं के साहित्य की सामान्य प्रवृत्ति थी ।

गङ्गुल धीर अणुकुल इस प्रकार है—

अणुकुल : साँव का रास्ता काटना, स्त्री का साँव और झाड़वी का बाणों नेत्र फड़कना, स्त्री का बाल खोलकर रोना, रक्त स्नान, छरती का लम्पन, धर और रुई-वर का भोटपोट होना, प्रथमय में महु-मिर्ची का शरकरना, झाकाश में घड़ का नाचना, कीए का विरस बोलना, सिवार भा रोना, नाक के धाएँ भाय में हवा का निकलना, झाकाश में नये गड़ दिखाई पड़ना, सिवार का लंगड़ाकर चलना, स्त्री का गरबट में रोना, बघाकों का टूटना, स्वयं में राजखर का मन्त दिखाई देना, रिशाओं का चलना दुपः दिखना ।

सकुल इस प्रकार है—

धर्मरा, छद्म, दिगम्बर मुनि, गवेत हल, अमर, यश्व, चामर, रानज्जार धारण को हुई स्त्री, बही का भड़ा लिए हुए मु-र कुमारी, विधुँ म साय फनुकूल पवन, कीए का मधुर बोलना, धाएँ सज्ज या भुटा का फड़कना, मृग का बाएँ भागना, स्त्री की बाईं और पुरुष की बाईं साँख फड़कना ।

लोक विश्वास के रूप में प्रिय वेः साकभन की चुनना के लिए कीए को उड़ःने का प्रचलन था । यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाचों में सायवा और उतकी हिसक-पुजा का प्रचल प्रचार था । कई अणुकुल औरत कःर्वी को कवाओं के मूल में हिसक क्रिदाःव को रोचना ही है । अडिवा को उपासना, यथा पूजा तथा तःन-मथ्य की सायोच्य साहित्य में अस्मृत चर्चा है ।

मुक्तक काव्य

संस्कृत साहित्य-तमीलक लिखनाथ के अनुसार—बाह्य सम्बन्धों और उप-कारणों से रहित स्वयंसेवक रूपका मुक्तक काव्य है। विषय के विचार से मुक्तक के दो भेद हैं—आध्यात्मिक मुक्तक और लौकिक मुक्तक; यद्युक्तिरूपता से दृष्टि से मुक्तक के पांच भेद हैं—(१) श्लोक (इतिहास से शून्य) (२) कित्त (विश्रुत अर्थ यत्ना) (३) कपोल्य (शान्ति कथा से युक्त) (४) लीलाध्यानक पू (संभावित घटना से युक्त) (५) आध्यात्मिक (इतिहास की यत्ना से युक्त)। अध्यात्म में मुख्य रूप से मुक्तक काव्य लोगों में उपलब्ध है। आध्यात्मिक लोगों में आत्मज्ञान-परमात्मा, उपासक-उपासक, उपासना प्रवृत्ति के लक्षित आत्मज्ञान-परमात्मा के सम्बन्ध में सामान्य प्रयोगों द्वारा आत्मज्ञान-वृत्तियों का प्रकाशन है। अतः इन लोगों में जनों और प्रीतियों के आध्यात्म सम्बन्धी विचार ही जैन आध्यात्म को पाठों में विभक्त है। (१) आचार-मुक्तक (२) विशुद्ध आध्यात्मिक। उदाहरण के लिए 'आत्मवचन वेदा' में ध्यान (जैन गुरुत्व) के आचार का विवेचन है। लीलाध्यान का कहना है 'अनुभवियुक्तक काव्य' की प्रतिकृता की कपोली है, इसको अल्प से पदधान नहीं होती।

गुरुधर्मु को आचरइ वैभगु सुदुहु कोड ।

को लावउ कि सावयह अणु सिदि मणि होइ ।

साहे उदाहरण ही या श्लोक को भी हम प्रयोग आचरण करता है, वही ध्यानक है, नहीं तो क्या आचरणों के लिए पर कोई शक्ति होता है। अर्थात् आचरण से ध्यान आचरण की कोई पदधान नहीं है। इन मुक्तक कवियों का कहना है कि सांसारिक मुक्तक और वैभव के मूल में गण, केतना है। इसको छोड़ने में, सब कुछ स्वतः छूट जाता है।

इति विमुक्तकं मण्डलं त्रैशु मुक्तकं अगुराज ।

यदि अनुग्रह श्लोक जाता है तो कारे जंगल स्वतः छूट जाते हैं। यत्ना काव्यक वह है जो श्लोक की तरह दूसरों को छापा करता है। येन पुत्रा, गुरु उपासना, पाद-पुष्प तथा ध्यान पर इन श्लोकों में सब दिया गया है, लेकिन विचारों और आध्यात्मिक अनुभवों के उद्घाटन के विचार से आध्यात्मिक मुक्तक बेजोड़ हैं। जैन आध्यात्मिक कवियों में जोड़तु और मुनि रामसिंह का स्थान अथर्व है। जैन कवियों के इतिहास में आचार्य कुंदकुंद अनुभव-सूत्रक अध्यात्म के प्रयत्नक हैं। इनका जन्म अनुमानतः ई० पू० दूसरी सदी में हुआ था। उनकी शैली और विचार-धारा का दूसरी प्रभाव पड़ता है। आध्यात्मिक अनुभवों का जैना उद्घाटन, स्वच्छ

प्रकाशन कुंडकुंद-आरती में है, वैयाकरण विरल है। जोड़ु (योगीन्द्र) की दो रचनाएँ हैं—योगसार और परमात्म ग्रन्थ। उन्होंने वैदिक दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग किया है। उनके दोहों में ब्रह्म शब्द बहुत बार प्रयुक्त है; किन्तु वह उपनिषदों के ब्रह्म के अर्थ में न होकर 'आत्मा' या ज्ञान का वाचक है। दृश्य-विषय और उनके संबंध में वैतथ्य के सुक्ष्म संक्षेप का मानवी भाषा में निष्पेक्षण करना असाध्य और असम्भव है, इसीलिए दार्शनिकों की व्यवहारमय, निष्पेक्षमय, पराविद्या, अपराविद्या, पारमाथिक सत्ता, प्रातिभासिक सत्ता आदि की जल्पना करनी पड़ी। विषय की बात न करते हुए, जोड़ु देह और उसमें रहने वाले जीव्य की बात करते हुए कहते हैं—'जिनके शरीर में रहने परः इन्द्रिय-समूह रहता है, और जिसके नहीं रहने पर जबड़ जाता है, वही आत्मा है। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि में देहस्थ आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है।' जो इस रहस्य को जान लेता है उसे तीर्थ जाने की आवश्यकता नहीं है। एक विमल आत्मा की खोजकर उसे किसी दूसरे देव की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।

अणुयि देव मा चिन्ति तित्तुं अत्मा विमल मुएवि ।

देव न तो देवकुल में है, न शिवा में, न लिय में और न चित्र में, अक्षय निर्जन भागमय शिव समक्षित में निष्कल करता है। चित्त की समता ही उतका अविच्छेद और गह्वार है, आदमी प्रतीकों में उसकी अनुभूति असम्भव है। जब मन परमात्मा में, और परमात्मा मन में मिलकर एकाकार हो जाते हैं तो पूजा करने और पुजाया बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

विष्णुवि समरभि दृवाहं पूज्य चक्रावतं करस ।

इन्द्रिय सुख को चाह और तीर्थयात्रा ऐसी ललकार है जो एक स्थान में नहीं रह सकती। तुम इन्द्रियों के विषयों में सुधी होते ही और बार-बार तीर्थों की जाते हो। श्रवणा योगो वह है जो बले हुए को दमार्इता है, और उजड़े हुए को बसाता है। वही कबीर का घर पूजा तमागा है। शिव और शक्ति के बारे में जोड़ु कहते हैं—

सिबु विगु सत्ति के वाबरइ, त्रिबु पुगु सत्ति विहीणु ।

शिव के बिना शक्ति और शक्ति के बिना शिव व्यापार करते में असमर्थ है। यहाँ शिव मुद्र वैतथ्य है, और शक्ति इन्द्रिय इन्द्रियन। मुनि सम्पन्न कहते हैं :

'हे योगी तू नक्तिया मत तोड़, कुर्वों पर हाथ मत बड़ा, जिस शिव के लिए तू उन्हें तोड़ रहा है उसे इन पर चढ़ा दे'।

पत्तिय मा तोडि ओइया कुलरेंह वि ह्शु म बाहि
आरु कारण तोडिसि तुष्टुं सी शेषु एत्थु चक्राहि ।

सुदामानुव्रति होने पर साधक को सर्वत्र प्राप्तता की अनुभूति होती है—

‘अग्गइं पच्छइं दह्विहहि ः नहि जोवउं तं हि सोहं’

द्वार के द्वारों में ‘जित देखो कि नू’। कर्मबद्ध प्राण्य अनुभूति है, और उससे मुक्त निवृत्त। रामसिंह इस स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि दोनों एक साथ रहते हुए भी एक दूसरे से दूर रहते हैं—

हउं सगुणी पिउ शिगुणसुदः शिखलकखणु एणिसुं ।

एक्वहिं अंगि वसंतवहं चिण्डिउ रा अंगहिं अंनु ।।

सरहपाद कहते हैं—

पासे पासे प्रमत्ते अचछद सरइ भरइद तसु अरिणी अेच्छउ ।

तुम पास भ्रमण करते हुए रहते हो फिर भी उसकी गृहीणी को नहीं चाहते । कबीर का कहना है—

सो साईं तन में बसै अंमयोभ जाये तासु ।

राजरंग में डूबी दुनिया ने अज्ञातमनःविषों को हृदया पासक कहा है । रामसिंह कहते हैं :

गहलउ नहलउ जणु गराइ गहलउ म कीरि कोहु ।।

लीन पागल वाशक कहता है— हे प्रथम फल मत कर । कबीर प्रथम दिशानी प्राप्ति में अहने हैं हे सुधा पगली चुप रह, प्रथम की लज्जा के मत मार—

रहु रहु सुगंध गहेलई प्रेम न लाखूं मार ।

वे अह भी कहते हैं—

माहै पाती माहि जल भाहि पूजणहार ।

सरह मनुव्रति गून्ध साधरण की व्यर्थ समझते हैं—

जो रागवासाहं होउ मुक्ति तो सुणह सियालह ।

रवि नरह रहते से मुक्ति होती है, तो कुलो और तिवारों को मुक्ति हेःी चाहिए । रवि विच्छेद लेते से मोक्ष होता है तो मोरों और चगरी गायों का होता चाहिए—

विच्छिद्रहथे दिहु मोखल तो मोरह चमरह ।

उनके प्रदुसार पित्त की समरकता में सहस्र उपाया सम्भव है । नैरपम-भावना की शबर दाता के प्रतीक से सम्बोधित करते हुए सरह कहते हैं—एक शबर दाता ऊँचे-ऊँचे पर्वत पर रहती है, उसके स्थिर पर मोर पंख हैं और बले में बुआ पाता । शिव घर में है जो प्रेम में मलमाया हो रहा है । की शबर दू हस्ता-मुला पत्र कर, तेरी चपटी पावनी तद्वत् सुखरी है । यहाँ साधक शबर है, नैरपम-भावना शबरी है । सरह के प्रदुसार शिव चेतन । वह है और व्यक्तित्व चेतना प्रकृति

विज्ञान। यह ज्ञान विज्ञान दृश्य-अदृश्य क्षेत्र में संवर्धित है, जैसे समुद्र लहरों में। वेतना लहरी लहरों का विभववेतना के समुद्र में तिरोहित होना ही वैराग्य-भाव की प्राप्ति करना है। विश्व विज्ञान (प्रलय तत्त्व) के संवर्धित होने का कोई कारण नहीं है। वह स्वच्छता से भूय रहा है, ज्ञानय तत्त्व परिमितत्व द्विष्टद्विष्ट प्रगच्छच्छद्विष्ट। विश्व दार्शनिक ज्ञानधाराओं के बावजूद ये कवि बाह्य आत्मधर के अज्ञान अनुभूति पर चौर देते हैं। निरुत्साहःसुख के बीच प्रणय सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उनमें निरहानुभूति की तीव्रता के प्रणय, पुरुषार्थ का अनुभव है, और आध्यात्मिक उपायना में स्वाम रुद्धियों की तीव्रता का साहस। जहाँ तक भक्ति का सम्बन्ध है, तरह का जैसे कवियों से कवीर की तुलना करना ठीक नहीं, उसके दोनों कवि प्रणयः अतीवप्रणयों और अतीवप्रणयों है, कवीर ईश्वरप्राप्ति है। कवीर जैसे विज्ञान प्रणय कवि की सहजवादिनी में होने का प्रणय ही ही उठता। ईश्वर के प्रति प्रणय का दृष्टिकोण आध्यात्मिक है, दूसरे के अर्थ है, जो आध्यात्म सम्बन्ध की कल्पना करते हैं। सिद्ध, अर्थ नहीं है। जैसे और सिद्धों में संन्यास पर और विद्या है, कवीर ऐसा नहीं करते। ईश्वर-प्रणय का एक और यह कहना है कि प्रणय की के ज्ञानय के अन्वय-भाव, अन्वय-भाव की जीवितधारा (हृदयधारा) आध्यात्मिक परिवर्तित ही नहीं और उलने तत्त्व-प्रणय का रूप ले लिया। दूसरी ओर उलने यह भी कहना है कि उलने (सन्त-प्रणय से) आध्यात्म की परिमित वेतना का कोई सम्बन्ध नहीं। उन दोनों में सम्बन्ध है या नहीं यह ज्ञान प्रणय है; परन्तु कौ, ज्ञानय के जो लक्ष्य विष्ट है, वे अलग परस्पर विरोधी है। जैसे, उलने तत्त्व है कि प्रणय की धर्म वेतना और हिन्दू सन्त प्रणय में प्रणय सम्बन्ध नहीं है कि प्रणय में जैसे धर्म नहीं था और त ही प्रणय में प्रणय का ही-विष्ट निष्ठा गया, ये दोनों ही तत्त्व प्रणय है, तत्त्व प्रणय जैसे धर्म का अर्थ है और उलने प्रणय का ही-विष्ट निष्ठा गया है। इसके अन्वय यह उलने नहीं है कि सन्त-साहित्य उलने प्रणयित ही। भारतीय इतिहास का युग युग सामन्तवाद की स्थापना का युग है। पौराणिक साहित्य की बीच इसी काल में रखी गई। दोषकर्तों और अन्वयों के चमत्कारी रूप इसी युग की प्रेरणा है। इस युग में भारतीय साध्यात्मिकता प्रकृति के अन्वय-भाव तत्त्व-प्रणय तत्त्व-प्रणय-प्रणयों में निहित गई। उसके धर्मों और प्रणयों का। सन्त-प्रणय ने उल साध्यात्म की जड़ और युक्त बना दिया। इसके विज्ञान साध्यात्मिक अनुभूति-प्रणयों को अन्वय लहर उठी, जिसकी प्रतिक्रिया तत्त्व-प्रणयों में हुई। यह प्रणय कवि है कि हिन्दू का भक्ति साध्यात्म ज्ञानय जड़ की प्रतिक्रिया का परिणाम था या प्रकृति की जीवित की वेतनी प्रतिक्रिया। भक्ति-साध्यात्म भी ऐसा साध्यात्म था जो वर्तमान समाज-व्यवस्था की बिना किसी प्रकार की भक्ति प्रणय, प्रणय धर्म और प्रणयों के लिए साध्यात्मिकता के अन्वय-भाव रहा था। सिद्धों और जैसे आध्यात्मिक-धर्मों के विचारों

में कई बातों की समानता है, जो युग की परिस्थितियों के प्रभाव के कारण है। साइबर की जगह अनुभूति, आरसीयता की जगह आत्म-संवेदन, स्वप्नार आदि ऐसी प्रकृतियाँ हैं जो दोनों में समान हैं। लेकिन एक लड़िका की समाज में प्रत्येक आत्मतुल्य विचार भी रुझा होकर नहीं बढ़ेगा जो जगह देता है, समाज की व्यापक प्रति देने के अभाव यह स्वयं एक सम्प्रदाय का रूप ग्रहण कर लेता है। इस देश में हर धार्मिक आन्दोलन की यही परिणति हुई।

लौकिक रोहा काण्य का मुख्य लक्ष्य शीघ्र, अनुहार और नीति है। यह युग स्वदेशी सामन्तवाद का युग था जिसमें ज्ञान-ज्ञान पर पर मिटने की सुखीरता थी; परन्तु उसमें राजनीतिक सुभ-सुभ का अभाव था। आलोच्य युग के साहित्य में वे सभी प्रकृतियाँ हैं, जो किसी भी भारतीय भाषा और साहित्य के युग में मिलती हैं।

शीघ्र के कुछ उद्गार ठेठ हैं और कुछ मल्लूत। जो शीघ्र युद्ध के मैदान में एक दूसरे को लतकार कर रहते हैं—जहाँ लड़क्य है, यहाँ वे जीते हैं, वे ही के तलवारें हैं, यही मनश्चिता जायो : जाएगी, कि दोनों में से जो लज्जा नहीं मोड़ता। एक वीराना अपनी मर्जी से इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त करती है कि उसका पति युद्ध में मारा गया, यदि वह मर्य होकर पर जाता तो श्चेनियों द्वारा मेरी हेला उड़ाई जाती। दूसरी वीराना इस बात में घममान का अनुभव करती है कि उसके पति की तुलना सिंह से भी की जाती है, सिंह बरक्षित मर्जी की मारता है जब कि उसका प्रिय रक्षित हाथियों की मारता है। एक वीर बाला युद्ध के मैदान में प्रिय से तलवार के स्थान पर कटार लेने के निरु अरित करती है, जिससे आपाधिकों का अभाव अणाल मिश्र सके। शिमी की चिन्ता है—यदि भद्र सेना मर्य हुई है, तो मेरे पति के कारण : वीर यदि मेरी सेवा भक्त हुई तो उसके मारे जाने पर। एक रक्षा-संग्रह का अन्तः निश्च है—अति पैरों से जा मर्जी ही और फिर लटार का ह्वा करों से, फिर भी उसका ह्वा कटार पर है, मैं प्रिय की बलिहारी करती हूँ। एक श्चकीवी कहता है युद्ध के अणाल से पीड़ित इस देश में हम लोग मर्य हो गए हैं, हे शिष्ये ! उन देश को जहाँ लड़क्य का अवनय मिल सके। बिना युद्ध के हग नहीं लीटेंगे।

अभ-विशाहित जहि लहहूँ प्रिय तहि देसहि जाहूँ ।

रगु-शुदिभक्तहूँ भग्नाइ किगु लुपभे न बलाहूँ ।

इस पर डॉ॰ नामवर की प्रतिक्रिया है—कहा है ऐसी शीघ्रतें जिन्हें युद्ध के बिना जीवत उखात लकता है ? शीघ्रतें ती सामान्यतः मनाया करती हैं कि किसी तरह प्रिय लड़ाई-भिड़ाई के कामों से छुट्टी पाकर आएँ तो उसे आंचन तले डक कर रखें और लुज-शाति पूर्वक कुछ दिन विशार। सचमुच यह प्रांचन कितना बड़ा दोष कि जो प्रिय को डक लेता होना ? सब जानते हैं कि सामन्तों के पास

नियमित सेनाएँ बना हीती थीं। बुद्धजैवी जातियाँ इस तार्क में रहनी थीं कि लड़ाई हो और उन्हें प्राथमिकता का साधन मिले। जैन मुनियों की अन्वेषण प्रधान सूक्तियों के बीच—उत्साह और श्रम से भरे हुए दून काव्य को देखकर डॉ. नामवर का अनुमान है कि ये उद्धार, व्यापीर, गॉप, गुर्जर आदि बुद्ध विषय जातियों के उद्धार हैं। इससे लगता है कि उन्होंने अन्वेषण चरित काव्यों को देखा ही नहीं। दूसरे उक्त जातियों, शङ्कू जातियाँ नहीं, पशु-पालन करने वाली जातियाँ थीं। कुछ समय के लिए ये अन्वेषण भारत के राजनीतिक मंच पर धाती हैं; परन्तु इससे उन्हें साधुधर्म नहीं माना जा सकता। पुरुषदन्त और स्वर्णभू के काव्यों में युद्धों के वर्णन की भरमार है। जैन मुनियों ने बहुत कम अन्वेषण काव्य लिखा है, संस्कृत-प्राकृत में उनकी प्रबन्ध-रचनाएँ हैं, उनमें गंधी रसों की अभिव्यक्ति है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि जैन मुनियों ने केवल नीति और उपदेश पर लिखा।

सामन्त-गुप्त के अगुसार यह धरती होने का फल (स्वर्णं पुष्प) भी जिसके उपयोग करने वाले तीन लोभ से शूरवीर, इगधित और वे जो जानते थे कि इनका भोग किस प्रकार किया जाता है। एक सामन्त कव्या ऐसे पति की कामना करती है जो निरंकुश हाथियों से हँसते-हँसते लड़कर। परत नहीं वह कदा साज हीतो को तथा मानती ?

शुभारी लोगों में नायिका के सौन्दर्य का प्रभावशाली वर्णन है। लोगों की परिच्छिन्न नायिकाएँ सामन्त बहुते हैं, कुछ साधारण वर्ण की भी हैं। एक दोहे में सुन्दरी को शत्रुकी विधवाठ बताया गया है कि यह गाँठ जिसके गले नहीं लगती, वह भारा जाता है। 'किन्हीं के सुखमाय के विचारे बाल ऐसे लगते हैं कि भादमा और राहु में युद्ध छिट गया हो'। 'एक को स्वर्णिम देह लता को देखकर, कनेर लता, नगर छोड़कर बनबस ले जाती है।' 'किन्हीं नायिका के लावण्य और मारक शक्ति को देखकर लक्ता है कि उसको रक्षा करने वाला विधाता दूसरा है'। एक भी चपनी बेटी से कहती है—'कैसे तू तिरछी निगाहों से मत देख, क्योंकि तू जितना तिरछा देखती है, कामंडि उनना ही अपने शोर पैन कर रहा है। मुटावे के कारण एक नायिका के सख्त इतने प्रेमी हैं, उन दोनों का अंतर इनका सकार है कि उनमें गंध नहीं समाता। एक भी अन्ननं बेटी से कहती है कि—'तू नजर देही मत कर, क्योंकि मलिनता भी तरह उत्तकी लोक भीतर छुटकर बोधी मार करती है।' प्रेमियों के विचार में कहा गया है कि 'वे परिनिमित्त-जन्म कतिनाई की नहीं देखते, मंडीदे की तरह वे निरकारण, अग्नि परीक्षा और धाँसे से पीटा जाना, सब कुछ महत्त्व का भेदते हैं।' किन्हीं नायिका के विवाह पर संतुष्टता का आनन्द और योग्य से प्रकृत्या वाच ऐसा भास्कर होता है कि अगुप्त रस का पान कर, नियम से शेष पर सुहर लगा दी हो। 'श्रीगी प्रेमिका एक दूसरे

कुछ सम्बन्धितियों में नाँत-बन्धन होते हैं—'जहाँ लोग छोटे लोगों के दण्ड-
राशो का बुरा नहीं मानते। एसी बातों पर बैठकर फल खाते हैं, उन्हें पोंड देने हैं,
किर भी महाबुद्ध इनका बुरा नहीं मानते।' एक दोहे में महाबुद्ध को संवोधित
करके कहा गया है कि 'हे बुद्ध यदि तुम जनों को छोड़ दोगे, तो इसमें उनका कुछ
नहीं बिगड़ना, लेकिन तुम्हारी यदि छाया होगी, तो इन्होंने पत्तों के।' एक और
दोहे का भाव है, 'बुद्ध लोग बिगने ही बुराबल जाय, वे जब भी चाहे पहुँचाए न
तो अपने ही लोगों पर। महाद की कोटी में बिनी दुई बट्टन, दुवारी बट्टनों को
भी चूर-चूर करती है।' एक दोहाकार का अनुभव है कि 'गुणों के साधनी को
कीति मिलती है, मन से नहीं। हाथी साखों में खरीया जाता है, परन्तु बिह को कीटी
में भी नहीं पूछा जाता।' 'लोग महाबुद्ध के फल ले लेते हैं और बट्ट पत्तें छोड़
देते हैं, सब भी महाबुद्ध उन्हें धारण करते हैं।' 'जो अपने दोष और दुवरे के गुण
प्रकट करता है, कलिदुग्ग में दुर्लभ, ऐसे श्वेतिक को मैं बलिहारी जाता हूँ।' 'अमुद
स्त्रियों को ऊपर धारण करता है और स्त्रियों को तल में डाल देता है; तल में भी
अच्छे पुण्यों को प्रपञ्चा करता है, और स्त्रियों का सम्पात करता है।' 'जब तक
कोयल में कार्य को गति बिगम होती है, तब तक दुवरी को बात छोड़िए; जो सज्जन
है, वह भी बिकारा काटता है।' 'मान सन्निहत होने पर, यदि अरीर नहीं, तो देश
छोड़ ही देना चाहिए, ऐसी बट्ट मत धूमों कि जहाँ दुवैत अनुविना उठकर संनैत
करे।' 'इस दुविधा में बिलने पाँवों हैं, अपने ही सज्जन है; जितनी नविषा है उतने
पोंड, और बिलने पण्ड हैं, तबसे कीटन। ईसा। तुम प्रकथीय कने करते हो।
विघाता ने ऐसे लोग बिगने ही बनाए हैं, जो पूरी तरह तिरकीर है। जो कुटिल हैं
वे उम हैं, और जो कोषे हैं, वे बिल हैं।' 'अपने दो विषयों भयं होवो है, इका से
उपडी। यदि प्राण भी उच्छा करने लगे तो नहीं कहाँ ने अएली ?'

अपभ्रंश में इतिवनात्मक दोहे भी मुक्त के रूप में मिलते हैं। धारणःरेभ
सुख परमार की दुर्भंग पर एक कवि कहता है—'भुज्ज। सुहं गरीर बट्ट कर
भर जाना था, राध का डेर ही जाना था, डारो से बाधे गए तुम उनी तरह पुण्यो
ही अंशे—बट्टर।'।

मुक्त अर्थों अर्थको पूष्णानवनी से, जो खोड होने से उदाह है, रणता
है—'तुम बिली जीवन के लिए बिगता मत कर्ने, लरकर के बिलने लण्ड होत है,
वह उनी ही कोडो होनी है।' जिना बिन लण्डुय और एक गरीर बाव, बावडा
ईसा तुम उम बिग पां बिगम में पडकर बिलनी है कि, मैं बिग मूड को तुम
पिछाऊँ। हे बिगतार पनेत, तुमने अरत मनमें कीत लो ईवरा धारण तब उनी
है कि संसार के बारे जाने पर तुमने (दुष्प्रसन्न)र) फल भी बिश्वर नहीं बिगता है
दुक कवा-दण्ड इम प्रकार है—

'समगु दुग्गागु भण्णत्तो एउ भट्टु मुल्लु कंथल रयणु
 कोस कोसि पइ' खालि खित्तक वेसंत्तरि परिभन्निवि
 मई' महत्तेण दुक्खेरा पत्तउ ।
 'कोस भण्णत्त महात्तुरिस तुण्णं कवल कोसि
 जं दुल्लह संजम-स'गु' हारिसांत्तरा मुत्थेसि ।

जब श्रीमणु (जैन बुधि) द्वारा वेपल्ल से लया गया कोसली कवल कोसा
 वेपया पीक देती है, वो बड़े दुःखी होकर रहता है, यह बहुसूत्र कवल है कोस,
 तुमने वाली से क्यों पीक लिया, वेपल्ल में परिजमणु कर मेन इस महात्तु कवल
 को बड़े कष्ट से प्राप्त किया है। कोसा कहती है—हे महात्तु, तुम कवल को
 पिन्ना से करते हो, परन्तु संजम ना जो दुर्लभ-वस्तु हरे रहे हो इसकी पिन्ना
 नहीं करते ।

ये बड़गार, सस्के सब भीतिक है, यह पाला नहीं है। इनमें ये अधिकतर
 स्वर संज्ञक और आहत साहित्य में द्रष्टव्य है। ये स्वर अर्थक युग को मुक्त और
 प्रबल कविता में समान रूप से प्राप्त है, फिर भी इनकी अविमा और कथ्य से
 प्रति प्लेच में स्थापन है ।

खड़ी बोली = खाना पानी, मेरा तेरा, जाता हूँ, ने, को, में, पर, के, लिए ।
 कौरवी = खाणा पाणी, मरा तरा, जाई है, जाता है, मैं, तू, तौ, मैं, तू ।
 हरियाणवी = खाणा पाणी, मरा तरा जाई हई

स्पष्ट है कि हरियाणवी की तरह कौन्सी खड़ी बोली के विषय है, वह उसका आधार नहीं भत सकती । उसे आधार मान लेते पर, कई प्रश्न खड़े होने हैं । जैसे कौरवी और हरियाणवी के विकास का ऐतिहासिक आधार क्या है ? 'भाषाएँ' नामक ऐतिहासिक खोज से विद्योत्पत्ति है या प्रलय अथवा ? वे दोनों के कारण है जिससे कौरवी से खड़ी बोली (हिन्दी) का विकास संभव हुआ ? 'हिन्दी क मेरा, तेरा चादि सर्वनाम स्वयंभू और पुष्पक कर्षिणी की आकाश में मिलते हैं । वे रूप, मंडी बोली (खड़ी बोली और हिन्दी में कोई अन्तर नहीं है) में जहाँ से खड़ी बोली-हिन्दी है, जबकि कौन्सी और हरियाणवी में उनके क्षेत्रीय रूप प्रयुक्त हैं । कौरवी की खड़ी बोली की आधारभूत बोली मानते जालों की बात दबि मान ली जाए, तो विकास की प्रक्रिया यह होगी - मेरा तेरा > मेर तेर > मेरा तरा : क्या यह मानना ठीक होगा ? मेरा तेरा से मेर तेर और मेर डबने मेरा तेरा खरी का विकास मानना, प्राचीन प्राकृतिक करना है । खड़ी बोली के मेरा तेरा, कौन्सी के मेर तेर से विभक्तित हुए, परन्तु प्रज के गोरी तोरो-प्री-रुवती के और तेर का विकास किसी माना जाए ? क्योंकि इनकी आधारभूत बोली कौरवी नहीं है ।

खड़ी बोली की व्युत्पत्ति :

'खड़ी बोली' नाम के मूल में खड़ा तथ्य है । 'खड़ा' के अर्थ में प्रथम अर्थी खरि बीजियों में 'खड़ा' शब्द प्रयुक्त है । अवस्थानी नामा समूह, गुजराती और मैथिली भाषा में इसके लिए 'खना' शब्द प्रयुक्त है । खड़ा और खंड दोनों संस्कृत 'खान' से विभक्तित हैं । 'खना' का प्राकृत में ड्र होता है और 'ख' भी । जैसे खण्ड का खण्ड । खण्ड से आकारगत प्रकृतिक खण्ड > खड़ा बनता है । 'खड़ा' हरियाणवी, कौरवी और पञ्जाबी में स्वानांश-स्वपरस्व भेद क साथ प्रयुक्त है । सर्वप्रथम हरियाणवी प्राचीन बृहत् सप्तमवर्ष का एक नाम है । महाकुलसभ्य में कुल-जांतिष और कुल प्रवेश सम्भक्तित से । समूह क्षेत्र में गाँवों की विजय के बाद महाकुल-सभ्य कहा गया । बुध्दिष्टर ने, राजा कलिंसी (सिंह) के नाम पर पञ्जाब नाम 'हृदयसभ्य' रक्त दिया । हृदयसभ्य से हृदयसभ्य > हृदयनाथ > हरियाणवी बना । पुनश्च ने लिखा है—'(समलिय परिवर्तित हरियाणुड २०/१० म. यु.) समष्टि बुध्दिष्टर ने अस्वलिखितभाव से 'हरियाणा' का परिपावन किया । सर्वप्रथम हरियाणवी कुलजांतिष तथा संघित है । पंजाबी का क्षेत्र हरियाणवी से तथा हुआ है । हरियाणवी और कौरवी एक दूसरे के निकट हैं, जब पञ्जाबी और कौरवी का अन्तर्गत आधार

शक्ति से भी खड़ी (स्थापित) थी, अपने प्रादेशिक आधार पर। खड़ी बोली के खड़े होने का आधार दूसरा था। इसी प्रकार बोली ही हिन्दी सङ्घ-प्राकृत से मिल न खानी हो; परन्तु उसका कोई न कोई गतिशील प्राकृत आधार रहा होगा, जिसके बिना पर उसने अपना विकास किया। बांग्ला (हीरेयाणवी) और खड़ी बोली एक ही धारा (वस्तुतः एक ही आकारान्त प्रकृति) की बोलियाँ हैं; परन्तु पंजाबी नहीं, हालाँकि उसकी प्रकृति आकारान्त है। एक ही ज़ारा की भाषा बनाने के लिए, पंजाबी में दूसरे समान भाषिक तत्त्व 'बाहिए' को उद्योग नहीं है। हिन्दी और बांग्ला में है; यदि आकारान्त प्रकृति को छोड़ दिया जाए तो हिन्दी भी बहुत ही प्रांते पूर्वी-पश्चिमी हिन्दी बोली समूह में मिलती है, तभी उन्हें एक समूह में रखा गया। जहाँ तक प्रकृति-वितरण का सम्बन्ध है भाषा समूह तीन वर्गों में विभक्तित है— (१) आकारान्त—पंजाबी-हरियाणवी खड़ी बोली (२) आकारान्त—राजस्थानी भाषा समूह, ब्रज, कन्नौची और बुन्देली (३) आकारान्त—पूर्वी हिन्दी, बाजपुरी और बिहारी।

ग्रामीण और साहित्यिक :

हिन्दी साहित्य-लोच के अनुसार (पृ. २४९) 'बोली बोली रूप का प्रयोग दिल्ली में १६ वीं शताब्दी के समुदाय की बोली के लिए होता है, १६ वीं शताब्दी के बोली को रघु, राजुन साहित्यिक ने 'कीरवी' कहा है जिसकी प्रमुख भूमि है— गढ़ारतपुर, गुजफरतपुर और मेरठ के सम्पूर्ण क्षेत्र जिनके और सुलतन गढ़ार की निकटवर्ती तहसील (कीरवी और राजुनाया हिन्दी, राजगि प्रसिद्ध ग्रन्थ, १९६०)। निम्नलिखित ही यह ग्रामीण बोली कीरवी है, किन्तु समय हरियाणवी और कौन्सी एक थीं जब भी उनमें काफी समानता है; लेकिन जिस तरह हरियाणवी और खड़ी बोली एक नहीं, उसी प्रकार कौन्सी और खड़ी बोली भी एक नहीं। उसका क्षेत्रीय आधार व्यापक था। यह आधार अपभ्रंश है। कान्हवी सबी के संस्कृत समीक्षक राजशेखर के अनुसार महत्त्व टकक (पंजाब) और राजानक के कवि अपभ्रंश का प्रयोग करते आने से (अपभ्रंश प्रयोगाः सन्त महत्त्व टककसाधनकारच) दूसरे शब्दों में पंजाब से लेकर खालिबर तक कविता के क्षेत्र में अपभ्रंश का बोलबाला था। राजशेखर के कवन का अभिप्राय यह नहीं है कि दूसरे प्रदेशों में अपभ्रंश का प्रयोग नहीं था; परन्तु वहाँ कविता की भाषा दूसरी थी। उसके अनुसार महत्त्व टकक के कवि सर्वभाषा कवि थे, इसमें एक भाषा अपभ्रंश भी थी। उनके महत्त्व टकक की भाषा नहीं है जो गुरुमूर्ति में है,—[अपभ्रंश हिमाचल और विजयचल के बीच, विनयन (अम्बाला पर शानकर) से लेकर पंजाब तक]। खड़ी बोली इसी व्यापक आधार पर विकसित भाषा है। उसके विकास की छूटी मरठ जिले की बागवत तहसील में गाढ़ा होक नहीं। यह कहना भी नहीं है कि यह दिल्ली के आधार

कम सीमित थी, बल्कि हिन्दी अपने ऐतिहासिक के क्षेत्र के विनाय राजस्थानी और बिहारी भाषा समूह के क्षेत्रों और जोड़ता में वर्तमान तक के ऊपरी काँटे तक समाधी जाती थी।

प्राचीन साहित्य क्यों नहीं ?

यह एक ठोका साधनात्मक है कि यदि सड़ी बोली व्यापक भी तो इसका प्राचीन साहित्य नहीं नहीं मिलता ? श्री. रामचर की कल्पना है, एक और कबली का विकास उत्तरी अन्तर्भूमि में हुआ, इसलिए वे सभी बहु-वर्ग और उसे संस्कृत की परम्परा प्राप्त भी और वह संस्कृत-प्रकार का साक्ष्य भी। इसके विपरीत सड़ी बोली साध-साध उत्पन्न होने पर भी इतिहास विज्ञान कई तर्कों उसे सातुभूमि छोड़ कर अधिकांश भाषा और वह विदेशियों के हाथ पड़ गई। तिसरी वर्ग के प्रकार का साक्ष्य बन गई तथा अन्तःसाध्य से कुछ नकार और त्वरार में बंध गई, बन्तुतः उनकी कल्पना में एक भी तर्क नहीं है। एक तो डॉ. रामचर ने यह नहीं बताया कि बोली बोली की सातुभूमि क्या थी ? दूसरे उनके अधिकांश ज्ञान का अर्थ यह नहीं है कि वह अपनी मूल भूमि में प्राप्त हो गयी। यह तभी संभव था कि जब हिन्दी बोली की पूरी प्राचीनता तथा तत्काल हो गया होगा। तत्काल होने पर भी क्या उदाहरण है कि उनके उदाहरण भी लोग प्राप्त, उनकी भाषा नहीं अपनी जहाँ क्यों नहीं जमाती ? परन्तु प्राचीन इतिहास में ऐसा कुछ नहीं हुआ। बोली बोली कोई हिन्दू कन्या भी थी नहीं कि जिसका अपने सातुभूमि से अपभ्रंश कर लिया गया और फिर वह अपनी सातुभूमि नहीं लौट सकी। यह जरूरी नहीं है कि सड़ी बोली बोली सड़ी हुई भाषा आए बिना काव्यसाध हो। मध्ययुग में विचार-हीनता की स्थिति थी। साधनात्मक विचार के लिए प्रादेशिक भाषाएँ थीं बाकि उच्च वर्ग के लोगों के लिए संस्कृत मध्यम। साधनात्मक व्यवहार भी बोली होने से, प्राचीन काल पर उनकी पकड़ बहुत कम लोगों की थी। हमने साहित्य-न मिलने का प्रमुख कारण यही है। जहाँ तक संशय से सभी बोली के विकास का प्रश्न है। सड़ी बोली के उद्भव सभी की पूर्ण शक्यता है, जो उच्चतर प्रकृति के समाज में उत्पन्न से उपलब्ध है। कुछ विद्वानों का यह मत ठीक नहीं कि साधनात्मक व्यवहार में उद्भव दोनों में सड़ी बोली के मूल तत्त्व मिलने हैं किन्तु भी अपने सड़ी बोली का विकास सामना ठीक नहीं क्योंकि एक तो संशय-संयोगात्मक भाषा है, अतः कि सड़ी बोली विचार-हीनता, हमने साधनात्मक के साक्ष्य वर्तमान में उदाहरण प्राप्त नहीं। जब कि सड़ी बोली में साधनात्मक है, अतः है। इसका कारण यह है कि संयोगात्मक होते हुए भी साधनात्मक विचार-हीनता की ओर बढ़ रही थीं, अतः सड़ी बोली ही नहीं, उसकी नीतिवही और साधनात्मक भाषाएँ अस्तित्व में आईं। हिन्दी में वर्तमान काल

की किया में 'त' के सुरक्षित रहने का रहस्य, उसका अपभ्रंश की इकाय निया से विवक्षित होता है, जिसमें 'त' का स्तोत्र नहीं होता। अपभ्रंश से खड़ी बोली के विकास का धर्म यह नहीं है कि उसमें उसकी समूची संरचना टूटी जाए बल्कि योज रूप में उन प्रवृत्तियों की श्रेय की जाने चाहिए कि जो परलक्षित होकर नहीं भाषा के रूप में विकसित होती हैं। खड़ी बोली की मूल पहचान लयकी शाकारांत प्रकृति है, जो अपभ्रंश में स्पष्ट बन के थी। यह ज्ञाता या युवा है कि उस प्रकृति का विकास संस्कृत की विश्वाम्ना प्रकृति से किस प्रकार हुआ ? अपभ्रंश में उकारांत प्रकृति होते हुए भी जिया आकारांत हैं जैसे कि 'सुरवत परिवाराय के मुर वर आए।' 'अपभ्रंश में एकवचन और बहुवचन के रूप हैं वेसु देव आये, देवा पायेवा, द्विवी के रूप होने देव आया, देव आए। तदुभय शब्दों में हीमा लड़का आया/लड़के आए। परस्य लयके वर कथ होये — लड़के ने/लड़के के। स्त्रीलिंग में वाचिका आई/वाचिकाएं आईं, परस्य लयके वर रूप होते हैं—वाचिका ने, वाचिकाओं ने। तत्पत्र और वाचकावक रचोक्ति शब्दों में 'सोला' में 'मयरा' में आदि नामों में विकार नहीं होते। 'लड़के' जाते हैं — 'ए' बहुवचन का बोधक है; विकृत लड़के ने में 'ए' विकारी रूप है। 'वाचिकाएं' और लड़कियाँ के 'ए', या बहुवचन है; परसु वाचिकाओं ने लड़कियों ने, में 'ओं' दोर यों विकारी रूप है। इन्हें हिंदी में भ्रम के कारण विकारी वाचक कहा जाता है जब कि ये विकारी रूप हैं। 'कारण' से विकारी होता है और न विकारी। विकारी कथ विपक्षित का बजा हुआ रूप है। विभक्ति और विश्वी रूप में यह शब्द है कि विभक्ति प्रातिपदिक का शब्द नव जाती है जबकि विकारी रूप के कारण इसमें बहुत बड़ा विकार होता है। हिंदी की आकारांत प्रकृति किया की और इयत्त जिया प्रतीपदिक की प्रकृति को निर्धारित करती है। जयका जाता है, ये 'लड़का' के अनुपात जाता है रूप ठीक है, परसु बालक जाता है, में भी जाता है। द्विती स्त्रीलिंग के बहुवचन में अनुनासिकावकरी मानती है, लड़की लड़कियाँ। पुल्लिंग लयम में किया बचत बताती है, बालक जाता है, बालक जाते हैं, दोनों उदाहरणों में ज्ञापक अर्थपर्यन्त है। पुल्लिंग तदुभय में 'ए' बहुवचनवाचक है, लड़के आते हैं। परस्य के साथ एकवचन में 'ए' विकारी रूप है, लड़के ने, बालक ने, लड़की ने, बाला ने, बारा ने। बहुवचन में 'ओं' हो जाता है। ओं को अनुप्रासि चिह्नानों ने संपन्न वंशो बहुवचन 'आम्' से मानी है। धरे विचार में परस्य के साथ बहुवचन में रूप हीमा चाहिए ए लड़के ने/लड़के ने, बाला ने/बालाएं ने, परसु दो ए का एक साथ उच्चारण करने में सुखदुख नहीं था, इतः अनापयोग्यता के नियम से ए 'ओं' में बदल गया। लड़के ने/लड़के ने यह व्याख्या अधिक संकेतित है।

'कारण' बताने के लिए हिंदी में अन्धा ने को रो, के लिए से, में वर और का के को आते हैं। डॉ. नमवरत्न के प्रायुक्त हिंदी का विशेष परस्य मानते हैं।

एक ही वाङ्मयिक हिन्दी शब्द भंगपूर्ण है, दूसरे परतम परसर्ग है, वह सामान्य विशेष नहीं होता। पदमात्र के 'राज' इहा मत्त कृत्तु पुधा' में राज' विकारी रूप नहीं, विभक्ति रूप है। 'सुए' कहा हम ई'असभूते' में सुए' करण का एकवचन है, दोनों में ए' और एं—संस्कृत करण के एकवचन की विभक्ति 'एन' से प्रसारित है। हिन्दी 'ने' कर्त्तृवाचक का परसर्ग न होकर कर्मवाचक का परसर्ग है। इसका विकास संस्कृत एन से हुआ—एन>नए>ने। राम ने भोजन किया (रामेण भोजनं कृतं) सामान्यभूत ने कर्मवाचक ने कर्त्तृत्वं या प्रथीक अर्थक गन्तर पर ही होने लगा था। कीर्तिलता में प्रयुक्त वेन्दे वेन्दे उदाहरण यम के विकसित हैं। 'ने' परसर्ग संज्ञा धीरे-सन्नाप दोनों के लिए समान रूप से प्रयोग में आता है। अपभ्रंश में इसके उदाहरण मिलते हैं—

रभंतेरा रमत रमतें

भक्षित धरित ममंतु बरांतें

को—दृष्ट के अनुसार को का विकास कहाया हुता से हुआ, डॉ. मलयदीपन नर्म के अनुसार 'केरक' से। डॉ. रामवर ने तादर्थ्य प्रत्यय 'केहि' से को का विकास माना है। केहि से 'को' का विकास संभव है, पञ्चु केहि के पूर्व वट्टी का प्रयोग जरूरी था। हिन्दी में कर्म के लिए को के प्रतिरिक्त, ए (मुझे), ते (राम से उतने कहा)। मुझे उते जिसे किते मादि में प्रयुक्त 'ए'—संभवतः केहि का विकास है, जैसे वसने केहि>वसंदि>वसेद' जिसे किसे इत्यादि। लेकिन केहि से को का विकास विचार की अपेक्षा रक्षता है। एक बात स्पष्ट है कि केहि, केरक और कृत तीनों संघदान या तादर्थ्य के प्रत्यय हैं, तसु केहि = उतने लिए, तुम्ह केरक = तुम्हारा, मम कूते = मेरे लिए। अपभ्रंश में कर्ता को तरह कर्म को विभक्ति का लोप था। द्विकर्मक क्रियाओं के पहले कर्म में विभक्ति लगती है—'उते पुस्तक वो'। अपभ्रंश में संप्रदान के लिए प्रत्यय से विभक्ति नहीं है। कर्ते की विभक्ति के लोप को प्रक्षुण्ण है, मत्तः उतका विनियम होने लगा। संभव है कर्म के लिये केहि या कृत का प्रयोग होने लगा हो। केहि>केड'>कडह'>कडम स्तो कू' को। कृत से को का विकास सरल है। कहना क्रिया के लिए कर्म में 'से' परसर्ग आता है। 'से' का विकास संस्कृत 'स्य' (वट्टी) से हुआ। वट्टी लामक विभक्ति थी। उतका किसी भी विभक्ति से विनियम संभव है। अपभ्रंश में (संस्कृत में भी) कर्म के लिए वट्टी का प्रयोग था, जैसे—घण्टा हो नहिइ ताग = उत ततः घण्ट से कहा। अपभ्रंश की को म्भु ही विभक्तियों संस्कृत 'स्य' से विकसित हैं। कर्म में प्रयुक्त 'से' (राम ने कहा) रूप का विकास है। स्य>स्य>सु>सो>से, अथवा स्य>तए>तइ>ते। से (करण) कर्म के प्रतिरिक्त करण (वाचक हाथ से जाता है) अनुकूलता (मुझे नहीं पता जागगा) अवायान (किड़ से भला बिरता है)। उपपर विभक्ति सह य-स्य ने 'से' का विकास मानना उचित नहीं। रामेण नर्म तीता मच्छुदि का

अपभ्रंश		हिन्दी	
एक बचन	बहु बचन	एक बचन	बहु बचन
कहाँ-हुँ	अम्हें अम्हड़	मैं	हम
कर्म मत्	अम्हें अम्हड़	मुझे	हम हमें
करशा मद्	अम्हेंहि	मुझसे	हमसे
अपादान-अमृगन्तु	अम्हें	मुझसे	हमसे
पगडी	"	मेरा	हमारा
अधिकारशा-मद्	अम्हानु	मुझमें	हममें
		मुझ पर	हम पर

अपभ्रंश के उदाहरणों से स्पष्ट है हिन्दी 'मैं' अपभ्रंश मद्, हम अम्हें; मुझ, मज्जु से विकसित है। इस प्रकार हिन्दी सर्वनामों का विकास अपभ्रंश सर्वनामों से हुआ। हिन्दी तक अपभ्रंश सव्य (सर्व) का विकास है। अपभ्रंश सर्वनामों में पाडी विभक्ति के इतिहासिक दूसरे रूप भी ठेठ से थे : जैसे देया तेरा, —'नेरइ करि तेरइ सुय कोइय' —मेरे हाथ में तुम्हारी कस्य दे दो। मेरा मेरा लक्षणवाचक गयतामों का विकास अपभ्रंश में बहुत पहले ही हुआ था। शायद पुराने और 'निर्देशवाचक' सर्वनामों के रूप इस प्रकार हैं। 'रह' और 'अह' कर्माः अपभ्रंश एहु और उहु (एहु > एहु = लृट्कारदेश, एहु = प रु/ति, यह, उहु एहु = प श्रु/ति बहु) किस (कथ्य > कथन > किम) जिस (यस्त् > जस्त > जिस) उस (सपुष्पः प्रसुष्य > सजस्त् > उस्त > समः किन्ह > कैपात् > कैहात् > किहात् किन्ह। योत् > येहात् > जिहात् > जिन्ह; एषात् > इहान् > इहः। को > रा > यो > जे। सो > सा > मेरे। एषु बचन में रूप हैं इमने उसने बहुबचन में इहोनि उम्होनि रूप होते हैं। कौन का विकास बकस > कउत्त > कौन के रूप में हुआ। दूसरा रूप काइ (राजस्थानी और मालवी में सुरक्षित है। गुणवाचक विशेषण ऐसा = ईदुण् > अहमो अस्त > एत् > ऐसा। जैसा > सा दुण् > आइसो > जैस > जैसा। जैसा > तादुण् > ताइसो > तैस > तैसा। कैसा = कइदुण् > कइसो कैत = कैसा। परिणामवाचक-जितना = यावत् > यावान् > जेतुन जितन > जितना। इतना = एतावत् > एतावात् > एतुन > इतन इतना। जितना इतना = तावत् > तावात् > तैतव > तितन > इतना। जैतुत् और तैतुत् रूप भी होते हैं, परंतु अपभ्रंश और हिन्दी में 'जा' वाले रूप सुरक्षित हैं। स्थानवाचक सर्वनाम — हिन्दी के यहाँ बहाँ कहाँ जहाँ-तहाँ रूपों का विकास सरलतः यव तव भुव, मय से न होकर, अधिकरण के एक रूपन के रूपों (सस्मिन् करिण्त् साहि) से हुआ। अपभ्रंश में यीनों रूप प्रयुक्त हैं। जहि संवरति बहु बीहृणद् — जहाँ पहुँच से जोरन विचरण करते हैं। विकास की दिक्का होगी — यस्मिन् > जोस्त्त् > जहिन्त् जति > जत्। कस्मिन्त् > कस्मिन्त् > कहिन्त् > कहि > कहाँ।

हिन्दी समय वाचक सव्यमों के विकास की प्रक्रिया इस प्रकार है : कव = कदा >

कथा > कठ > कण > कव । अब = पथ > कथा > जठ > जय । तव = तदा > तमा
> तव = तव ।

हिन्दी क्रिया का विकास भारतीय भाषा भाषा की संवैधानिक स्थिति के विकेन्द्रीकरण से हुआ । संस्कृत में क्रिया के दो रूप ही विद्यमान क्रिया पठति । कूर्वत क्रिया जैसे पठत् स्थिति । कूर्वत क्रिया विशेषण की तरह प्रयुक्त होने से, कर्ता का अनुकरण करती है । बालकः कतः और आश्रितः पथा का अर्थ है—बालक पथा और आश्रितः पथी । सामान्यभूत में रूप होमा—तै कर्हिज = उमगे थहा । गदं आश्रितं = येने जाता । यह सही है कि सपथन विद्यमान क्रिया में 'ति' विभक्ति के 'त' का लोप होकर 'अरद्' (कौटि) होता है । परन्तु कृत क्रिया में 'पलज करम्ति, उपरि ए' क्रिया (प्रलय करती हुई, ऊपर आती हुई) में 'त' सुरक्षित है । हिन्दी क्रिया जाता है, जाता है, इसी कूर्वत स्थिति से विकसित हुई । सपथन क्रिया की तरह 'हिन्दी क्रिया' में एकपथन और बहुपथन, ही हीं हैं । कूर्वत क्रिया में 'क्रिया' केवल सपथी स्थिति बताती है, बालक का बोध गहाक क्रिया से होता है । हिन्दी की तरह 'त' कर्ता की वन कुंवेकथी और पूर्वी हिन्दी में सुरक्षित है ।

हिन्दी धातुओं का विकास सपथन/अपथन प्रक्रिया में से हुआ है (१) तत्कम, जो संस्कृत धातुओं से सीधा सम्बन्ध रखती है (२) सम्बन्ध धातुएं—संस्कृत की प्रत्यययुक्त धातुओं से विकसित होने वाली धातुएं जैसे उठना देना । (३) विकल्प धातुएं = संस्कृत की सामान्य धातुओं से विकसित धातुएं कु = कर = करना, धृ = धर = धरना । (४) अनुकरणमूलक धातुएं = ध्वनि के अनुकरण से विकसित हुए शब्द धातुएं । झलझलइ, कनकनइ, रलरलइ । (५) शैली धातुएं—लोक-ध्वनियों से विकसित धातुएं—देवी धातुएं हैं । हिन्दी क्रिया संयुक्त क्रिया न होकर विकृत क्रिया है । उनमें उत्तम शीत काल के प्रत्यय अलग प्रलय होते हैं । महापक क्रिया और मुक्त क्रिया का विशेषण उनके प्रयोग पर निर्भर करता है । सामान्यतः हिन्दी में विनाल्लिखित महापक क्रियाएं हैं :

ई = प्रति > अतइ > जर्त > यर्त > है । है = संति प्रति > हंइ > हं = है । हो = प्रति > अर्हि > यर्हि > अर्हि > हो । वस्तुतः हो होना चाहिए । परन्तु हुए जाने ही उन्वयण करने में कृत् रूप नहीं है अतः हुए जाने ही, में है ही का रूप में बल गया । है = अर्हिमि > अर्हिमि > अर्हिमि > अर्हिमि = अर्हिमि > है । प्रति से हुआ रूप अर्हिमि भी जाता है, उसमें विकसित 'हे' का प्रसार दूसरी प्राकृतिक भारतीय भाषाओं में है । मा वे गो—वर्षिकमान से लिए, 'मा वे गो' का प्रयोग पड़ी बोली की विशेषता है जिसका विकास 'गत' में व होकर विशिष्ट के रूप में हुआ । होइय का एक तीन 'काल' का बोधक था, होमा, होता है, हो । 'व' का 'भ' से विनिमय होता है जैसे भाजना/भाजना, भीजन/भीजना । इस प्रवृत्ति से होइय > होय > होय । पूर्वी हिन्दी में 'व' वाले रूप हैं, जो तथा प्रत्यय का बोध हुआ रूप है

चाहिए के लिए मराठी में पाहिले रूप है। चाहिए किसी काम को करने की प्रवि-
 वायता का सूचक है। मराठी पाहिले का विकास संस्कृत पृष्ट से संभावित है।
 मृदितव्य > पाहिसव > पाहिएव (अपञ्ज में तव्य के स्थान पर इपञ्ज और
 एवञ्ज प्रत्यय होते हैं)। पाहिएज्ज > पाहिएः > पाहिले। परन्तु हिन्दी चाहिए की
 व्युत्पत्ति संदिग्ध है। इच्छ से वस्तु व्यत्यय द्वारा वह का विकास संभव है। (इच्छ >
 चह > चहइ > चह)। पंजाबी में चाहिया रूप प्रयुक्त है। जो भी हो इस बारे में
 सनी अनुसंधान की जरूरत है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी छानु के विकास की प्रकृष्टि
 संस्कृत-अपञ्ज छाणु रचना है। हिन्दी किवा संयुक्त न होकर विकृत किया है।
 हउं बलि किञ्जउं कवुं वाच्य है। डॉ० नामकर ने खु के कारण उसे कर्मवाच्य
 मान लिया। हउं बलि किञ्जउं—में बलिहारी जाना है—या करता है।

हिन्दी पूर्वकालिक कियार का 'कर' का छानु से विकसित है, करि (कर + इ)
 से कर रह गया। खाना पीना जाना आदि का विकास छरा प्रत्यय के कारण हुआ।

ग्रियर्सन की हिन्दोस्तानी :

'हिन्दोस्तान' को फारसी शब्द मानते हुए, ग्रियर्सन ने अर्थ दिया है—
 हिन्दोस्थान अथवा हिन्दुस्थान का देश— जो पंजाब से लेकर बंगाल तथा हिमालय और
 हिन्द के बीच स्थित है। प्राचीन मध्ययुग की यही सीमा है; परन्तु प्राचीन मध्ययुग
 की तुलना में हिन्दोस्तान की पूर्वी सीमा कुछ अधिक है। यूरोप के पवित्र
 हिन्दोस्तान की भाषा को हिन्दोस्तानी कहते हैं; परन्तु ग्रियर्सन के अनुसार—
 हिन्दोस्तानी के अलावा तीन भाषाएँ और हैं, 'सिन्धारी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी'।
 मेरा मत है कि हिन्दोस्तानी का सामान्य अर्थ भारतीय है। भाषा के अर्थ में
 हिन्दोस्तानी का अर्थ—हिन्दी और उसका बोली-समूह। चूंकि दूसरी प्रादेशिक
 भाषाओं के अपने क्षेत्रीय नाम हैं। बोलियों के भी जनपदीय नाम हैं (जैसे—बज,
 कसौली इत्यादि), अतः हिन्दोस्तानी का एक अर्थ होना हिन्दी। डॉ० ग्रियर्सन
 हिन्दोस्तानी शब्द को सही मानते हैं, हिन्दुस्तानी को नहीं। उनके अनुसार हिन्दो
 प्राचीन हिन्दी का प्रतिनिधि है। हिन्दी, प्राचीन हेंदव का प्राथमिक फारसी रूप
 है। हेंदव का अर्थ, डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार 'अतः सिन्धु' है यानी सात नदियों का
 देश; परन्तु अब वहाँ पाँच नदियाँ हैं। सरस्वती और घग्घर के लोप के कारण।
 १७५७ में मिलाकाइस्ट ने इसे हिन्दुस्तानी कहा था। हेंदव से हिन्दी का विकास
 विचारणीय है। हेंदव संस्कृत सैधव (सिन्धु के अर्थ) से विकसित है, अतः सिन्धु।
 अतः सिन्धु से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। हिन्दी या हिन्दी की व्युत्पत्ति हीनी—सैधव >
 हेंदव > हिन्दव > हिन्दव > हिन्दी। हिन्दी, हमारी व्युत्पत्ति में हिन्दव के हिन्दव >

के महाप्राणी प्राकृत में और महारष्ट्री प्राकृत के श्रीसौमी प्राकृत में और उनके संस्कृत में। यह प्राकृत के समयान्तर संस्कृत उच्च परिवर्षित की माध्यम यह सौमी ही और प्राकृतों के बीच सम्पर्क भाषा का काम कर सकती है, तब अक्षरों में भी विकलाकार के लिये समूह तत्पर भाषा की नई विकसित वीथियों के बीच होते और सम्पर्क की भाषा क्यों नहीं हो सकती? यही बोली भी व्यापकता का मुख्य कारण उसका ऐतिहासिक आधारों विकसित होता है। यह ऐतिहासिक आधार अक्षरों है। इसके प्रमाण के रूप में अक्षरों और छोटी बोली की रचना प्रक्रिया में व्याकरणिक समानता दिखाई गई है। अक्षरों विकसित करने और छोटी बोली के परिवर्षणों (ने, की, से, के लिए, ता, के, ली, में, पर) के विकासक्रम के उदाहरण देना तभी सम्भव है कि जब दोनों की बीच भाषाओं के विभिन्न रूप उपलब्ध हों। निश्चय ही यह सम्भाव्य सीमासमयसाध्य बात है; पर अक्षरों और द्वितीय के प्रस्तुत पुनरात्मक अक्षरों के सम्पर्क में यह साधन्यक नहीं। यह रचना विषय है, जो अक्षरों बोली की विस्तृत विकासप्रक्रिया का अनुमीलन में सम्भव रहता है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा : संस्कृत 'पुन' के परिवर्षित विकास ए. एं, इन, एण है, अक्षरों बोली में 'इन' से अक्षरव्यत्यय के द्वारा विवक्षित 'ने' को सुरक्षित रखा। 'ने' सुरक्षा और रक्षा की में भी है; परन्तु उनका प्रयोग परिनिष्ठित नहीं है। यहाँ यह भी समझ में रहना चाहिए कि अक्षरों से छोटी बोली या बोली बोली के विकास का अध्ययन करते समय संस्कृत की भूमिका को छोड़ना नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का तथा परिनिष्ठित अक्षरों और द्वितीय की रचना प्रक्रिया में उपलब्धसमान आधार को ध्यान करना है। मेरा विचार है कि अक्षरों का उच्च, द्वितीय दुर्गम सांस्कृतिक प्रादेशिक भाषा या बोली की तुलना में, छोटी बोली में अनुप्राण से सुरक्षित है। यह एक छोटी बोली के बोधोपे आधार का सम्बन्ध है, यह एक साकारण्य प्रकृत वाली अक्षरों (जबला हुआ नु मादिशा) से विकसित हुई, जो पंचाक्ष से केवल कुटुम्बपर तक प्रवर्धित थी, जैसा कि पंचाक्षी, द्वितीयकी और तीसरी दो साकारण्य प्रकृति से स्पष्ट है। उदाहरण और दोकारण्य के समान, साकारण्य प्रकृति अक्षरों में व्यापक भी जो स्वयंसे पुनरात्म्य की अक्षरों में भी प्रकृत का में दिखती है। अतः छोटी बोली का बोधोपे आधार नहीं है, जो द्वितीय, द्वितीयकी और तीसरी का है; परन्तु उनका विकास बोधोपे प्रभावों के आधार पर न होकर अक्षरों के परिनिष्ठित ऐतिहासिक आधार पर हुआ। अक्षरों स्पष्ट रूप से प्राकृत प्रभावगत है, यद्यपि तीसरी और द्वितीयकी (द्वितीय की उच्च समान है) उपलब्ध के परिवर्षित विकास को सुविधा करती है। इनके सामान्य वर्णानुसार प्रकृत के 'ति' विभक्ति के 'त' का लोप है, जैसे, (बहु) जाता है का इयं अक्षरों: जातं है, जातं से, रूप प्रवर्धित है, जो अक्षरों अक्षरों के लुप्तक है। द्वितीय के 'जात'

और दूसरे आर्थिक तत्वों का प्रभाव पड़े। यदि बनीदुलार हिन्दोस्तानी विद्युत् रूप से स्थानीय भाषा होगी, तो उसका प्रचार विवेकाशैली के द्वारा संभव नहीं था। दुबान में घुसने से पूर्व, बिजिया किन्ध घोर संज्ञा में बस चुके थे, उन्होंने वहाँ की बोलियों का प्रचार नहीं करी किया? इसका दूसरा कारण यह था कि भारतीय भाषा-शास्त्रज्ञों का वैश्वी से क्षेत्रीय आधार पर विभोधात्मकता की विज्ञा में विकसित हो रही थी। उनके बीच की कड़ी के रूप में खड़ी बोली का भी रूप पड़ा जा रहा था। उनके मद्देनारे वे लोग के जिनके बारे में कहा गया है कि जिस प्रकार तत्त्व को बसनी से जाना जाता है, उसी प्रकार और लोगों के भाषा को पचना भी। इस विस्मयपूर्ण के रूप फल का उत्तर मिल जाता है कि मूलभूतकों के खड़ी बोली को अपना ले या तो कहिए कि वे खड़ी बोली को जते थे, या बोलने लगे। अतिरिक्त पुराने ग्रन्थों में मुसलमानों के साथ युद्ध प्रसंगों तथा मुसलमान और नाथ लोगों दोनों के बीच से जो खड़ी बोली का स्पष्टता प्रेषणा गया है, उसका ऐतिहासिक कारण भी यही है। यह तथ्य अब काफी स्पष्ट हो चुका है। और अखण्ड के संदर्भ में परदा का टुका है। जहाँ तक अखण्ड का और खड़ी बोली के व्याकरणिक सम्बन्धों का प्रश्न है, स्पष्ट ही वे उसको परिवर्णों की दूरी बोलियों में भी निश्चित किए जा सकते हैं, क्योंकि उनका जोत एक है, इसीलिए वे एक समूह में हैं। जिन की समाप्ता ने इस प्रतिष्ठता को और बढ़ा दिया। अखण्ड का व्याकरणिक सम्बन्ध खड़ी बोली या उसके समूह से ही नहीं, पंजाबी, भूतनाली, मराठी, बंगाली आदि भाषाओं के साथ भी निश्चित किया जा सकता है। जिस अखण्ड से हिन्दी (खड़ी बोली) के व्याकरणिक सम्बन्ध अब यहाँ विचार किया गया है, वह परिनिष्ठित अखण्ड ही है। 'विचारधर और साहित्य' उन्हीं में निश्चित है। आचार्य हेमचन्द्र के मूल्य के समस्तुत्पन्न का प्रश्न इसलिए नहीं उठता, क्योंकि लोगों के व्याकरणिक सम्बन्धों के विच्छेद का आधार उन्हीं का व्याकरण है।



मूल्यांकन (२) साहित्य

१. युग और स्वरूप : आलोच्य साहित्य का समय ७०० के १२०० तक और उसके बाद दो ती बर्षों का अधिकांश (सबहुत्वात्) मानता हर दृष्टि से सर्वसंगत है। साहित्य के जाल-विभाजन की एतदात्र कमीती भाषा है। स्पष्ट है कि लोगों साहित्यों की भाषा हिन्दी नहीं है। राजनीतिक दृष्टि से यह वैश्वीय सत्ता के विधरण का युग है। जिस समय भारतीय साम्राज्य कल्पों बुद्धों में शक्ति का आश्रय कर रहे थे, तभी ब्रिटीश हुकों का विजयिता चुक रहे

गया जो मुहम्मद बिन कासिम से लेकर १२वीं सदी के अन्त में मुहम्मद अली
 तक चला। यमिन भारतीय साम्राज्य पृथ्वीराज चौहान की हार के पश्चात्
 भारत के राजनीतिक इतिहास में अन्य पैदा हो गया। भारतीय सभ्यता में दक्षिण
 भारत में ही दो वैश्विक भक्ति की धाराओं का भी जनन हुआ। जिसका
 आलोच्य भाव्य में प्रथम प्रवर्धन सम्भव नहीं है; फिर भी ब्रह्म-भक्ति के जो
 स्वर उदमें हैं, वे उसके सभ्यता में सहायक हैं। भारतीय साहित्य, पुरुषार्थ-मूलक
 सभ्यता और उसकी प्रवृत्तियों का काव्य है, यह किसी एक रस, कल्पना
 या वृत्ति द्वारा परभावित काव्य नहीं है। उसमें लोककाव्य और शास्त्रीय
 काव्य दोनों के संस्कार और प्रवृत्तियाँ हैं। अर्ध-पुस्तकी या धार्मिक प्रेरणा से
 रचित काव्यों में आश्चर्यजनक या धर्म-चेतना का पुनः अधिक है; लेकिन कुछ
 अतिरिक्त, प्रेम और जीवन की दूसरी समस्याओं को लेकर भी चले हैं।
 संसार में पर्यवसान होने वाले आधुनिक काव्यों में शूद्राचार, और गांधी रसों की
 पूर्ण व्यंग्य-भक्ति है। प्रेमकाव्य और प्रभावकाव्य में अन्तर है, यद्यपि उन्हें पुरुष
 प्रभावकाव्य का पूर्ण रूप नहीं कहा जा सकता। कुछ सारी कल्पना
 और आलोच्य भाव्य की ऐसी विशेषता है जिसमें परवर्ती शिष्टो भाव्य को
 पराजित किया। रामचरितमानस और पद्मनाभ्य वही कौनों के पूरे विकास
 हैं। इनमें का विशिष्ट प्रयोग कल्पना काव्य को दूसरी विशेषता है। शिवजी
 पर आधारित भाविक छन्दों की एक कल्पना शैली में रचित छन्दों को भी
 तुलना शैली में रचित किया गया है। 'विनाह करिब' में ब्रह्म-छन्द का प्रयोग
 किया गया है, वह पूरे को पर शैली का पूर्ण रूप है। अथर्वण में अष्ट-काव्य
 काव्य है, यही एक अर्थव्यक्त या अर्थव्यक्त एक ही अर्थव्यक्त उपलब्ध
 है। यह अर्थव्यक्त प्रेम की प्रतिश्रवणों की सुधारण रचना है। अस्तुतः
 नायिका का यही सन्देश (संकेत) है कि वह जीविका के लिए प्रवास पर गए
 शिव के प्रति प्रेमलिप्त है। यह जो मुख्य संकेत है, उसके संश्लेषण के पहले
 ही उपका प्रति आ जाता है। तब ही प्रवास को विशेषता यह है कि वह विमुक्त
 लौकिक भाव्य है जो उपलब्ध रस के पाठकों के लिए रचित है। शेष प्रवृत्तियाँ
 संकेत प्रवृत्त काव्यों के अन्तर्गत हैं। अथर्वण अर्थव्यक्तियों के अनुसार जो
 काव्य आधुनिक उपलब्धियों का महापुरुषों का मुख्य भाव्य करते हैं, वे
 महापुरुष काव्य हैं और जो लौकिक उपलब्धियों से युक्त महापुरुषों का वर्णन
 करते हैं, वे उपलब्ध काव्य हैं। इस दृष्टि से अथर्वण अर्थव्यक्त काव्य महापुरुष
 काव्य है। रामचरितमानस और पद्मनाभ्य भी अर्थव्यक्त उपलब्ध काव्य हैं। पद्मनाभ्य
 को विशेष अर्थव्यक्त है, फिर भी उसके अर्थव्यक्त से वह महापुरुष काव्य है। पुरुषोत्तम
 रामों जैसे काव्यों को महापुरुष काव्य के अर्थ 'उपलब्ध काव्य' माना जा सकता है।
 'अर्थव्यक्त' के अर्थव्यक्तों से अर्थव्यक्त है कि अर्थव्यक्त शैली के आविष्कार के पूर्व

अपभ्रंश में ऐसी साहाय्य वृद्धि प्रकल्पित थी, जो धरा से रहित थी। यह अर्थवच नहीं कि संस्कृत और प्राकृत की विविध छन्दों वाली प्रबंध-काव्य शैली ही अपभ्रंश में रसायन्य कहलाई हो।

- २ अंतिम उद्देश्य : लोकजागृ होने के साथ अपभ्रंश परम्परागत भाषा साहित्य से जुड़ा हुआ था। अपभ्रंश चरितकाव्यों का अंतिम उद्देश्य साहाय्य (साहित्य) की प्राप्ति है, न कि केवल 'लोकतृप्त (इन्द्रिय तृप्त) की। यह सोचना प्रसंगिक है कि नारी के प्रति, अपभ्रंश चरितों का दृष्टिकोण अतिकारी था। साहित्य के प्रति सभी सामाजिक वर्गों का स्वर उन्नत है? वास्तविक भी लोग की तरह, स्वयं को सोचा भी (दार्शनिक अन्वेषणों की भिन्नता के बावजूद) नारी जीवन के संघर्षों का साक्षात्कार तृप्त शोचनी है। अपभ्रंश कवि जिन सामाजिक प्रति में विश्वास करते हैं, पट्टनीतिक प्रति है—सामान्य प्रवृत्तियों से प्रभावित अधिक से अधिक विद्युति। अपभ्रंश काव्य में उपलब्ध वस्तु वस्तु के आधारभूत रूप है—कामधारा, स्वाद, आत्म, और अर्थव्यवस्था। अपने समय की राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की विरासत की शोधा इतिहास, गुणवत्ता में समर्थ कथित है, यह युग के राजाओं की वस्तु तक पहुँचने में नहीं सफल। किन्तु रक्षा के माध्यम से, किसी एक की मुक्ति का समाधान खोजी व्यक्त। समझ रहे हैं और इस प्रकार वे मनुष्य के विवेक-स्वाभिमान और गरिमा को विनाशित दे देते हैं। कवि के अनुसार इस दुविधा में राजा का ही ही साक्षात्कार होर है। इस दुविधा में विपशाया (सर्पिण) साधनी को और भी निश्चिन्ता बन दिया जाता है। यारभी के द्वारा साधनी के धर्म का अपभ्रंश किया जाता है।

जीवन का अन्तिम अर्थ निर्दिष्ट होत हुए भी, ये कवि प्रकृति की अन्वेषिकता को अन्वीक्षण नहीं करते। जीवन की अन्वेषणपूर्वता के साथ वे मनुष्य को भी अन्वेषणमय मानते हैं। 'मृत्यु' का अन्वेषण केवल, जैसा अन्वेषण ही कहते हैं, इस तरह जीवन मृत जाता है, उसी प्रकार मरण नहीं मृतता हो देता नहीं है, यानी जिन तरह विद्युत् की सहायता होती है, उसे प्रकाश मृत्यु भी। मनुष्य की उत्पत्ति का अर्थ जीवन है। इसके विपरीत साधनी का कहना है कि—'जो दे उभा अन्वेष, रहा न कोई' जो जीवन हुआ, वह मृत। दुविधा में कोई नहीं मृतता। दोनों दृष्टिकोणों में अन्तर है।

- ३ चरित-काव्यों का स्वरूप : कथानिर्देश, अन्वेषण, प्रकृति-विवरण, रस, काव्यरस, संघर्ष आदि काव्य तत्वों के संयोजन में साधनी काव्य, परम्परागत काव्यों का अनुकरण करता है। यदि हमें कोई मनीषा है तो वह कवियों की अपनी विशेषता

है, व कि दृश की कितनी गई प्रवृत्ति का जवान । संस्कृत और प्रकृत काव्यों को तरह-आजंश काव्यों में कवय कीर अमानक की कृष्टियाँ हैं। जब कवि स्वयं अपने अनुभव या साक्षात्कार के बिना, केवल प्रयोग देखकर वर्णन करता है तो यह कृष्टि है। वे सारी कृष्टियाँ पूर्ववर्ती काव्यों की तरह अत्योच्च काव्य में की हैं; लेकिन अपवाद कवि पाद्वे हैं कि काव्य ती-रवैतुमि के साथ कव्यप्रवृत्ति भी हो। साहित्य-वर्णनों में मुख्य रूप से अनुप्रास और कीर रस हैं, यद्यपि उनकी परिष्कारिता अल्प रस में है। अनुप्रास का साधारण सामान्यता है। इसके दोनो पक्षों का वर्णन है जिसमें सामयिक और मनोवैतानिक वृत्त-शुद्धि का समावेश है। रसि के दृश में राग-वैतान है। नायिका के रूप-स्वभावा की प्रवृत्ति सबसे अधिक है। पुष्पकज के अनुप्रास 'श्रीमती' का मुख्यकी रस निदरस है जो पुष्पकजी स्वर्ण गिह करने वाला है। 'पवनावन' ने पशुनावन की विधापने लट्टे प्रेम की जकीर अकक गले में पड़ना चाहती है। पावन नायिका का प्रेम, प्रवृत्त का रूप धारता का लेता है। जिसका प्रानास कीरव-पावशरी की वेदाको की अिहृष्ट में पाया जा-सकता है। 'मिहृष्ट' जिह दावड मोहृष्टद मिहृष्टद 'मिहृ भक्तव प्रुकारक' । शीरी के जोहों की तरह श्रीमाय प्रदर्शित करते हैं। पवनावन में रसनवेन कृष्टता है--'श्री अक जीमि जान सब कोई, कीर निरि में दोऊ।' साहित्य-काव्य में जीवन ही नहीं, वैतानाकार की प्रेम प्रवृत्ति के रसो का वर्णन है। 'कीर' रस मुख्यतः सुदबन्ध उल्लास तक सीमित है। इसके दो प्रकार हैं, काना की प्राप्ति या काना का विस्तार। पतिवर्ती की प्रतिक्रियाएँ कीर कर्वाकियाँ आदि कालो का विस्तार और प्रवृत्ता से वर्णन है। इन काव्यों में निर्द को आशा रस के लिए आवश्यक है। जीवन को प्रवृत्तियों में से विवस्थित होता है। अर्थात् कवय, मदानक और जीवका रस के भी उदाहरण हैं। अथ पुष्पा पाण तो वे सारे रस एक ही राग-वैताना की विविध प्रतिक्रियाएँ हैं। श्रुति मनुष्य वेताना का पूर्ण रूप है कीर जगमें कान-वैताना के रूप में राग-वैताना का पूर्ण विकास है। याअंश सर्वाह्वय का प्रत्यक्ष मित्य लक्षक श्रीलो पर साक्षरिण है। कवयक का साधारण द्विपवी है। इसे पदत्रिया अरु भी कहते हैं। याअंश में प्रयोग-कीर से अल्प का नाम कवय जाता है। याअंश-पावश, प्रवृत्ति-विचयु के विचार से समृद्ध है। यशु तक पति का प्रभव है, साहित्य-साहित्य से पति का जो स्वल्प मित्यता है वह भारतीय कवय कीर वाना की विधा-प्रतिक्रिया की अर्थात्पर परिशुक्ति है। वेतान विदेशी काना की प्रतिक्रिया से ही उल्लास कीर सम्भव नहीं। अति का प्राथम्यन वा जो ईश्वर है वा पूर्ण मुक्त प्रथम। श्रुति वन-प्राप्त के अनुप्रास प्रत्येक जीव स्वयं मोहता कीर कर्ता है। अति के द्वारा ईश्वर की प्रमजता उसी लिए वर्णन है। विवेक की अति चित्त की निर्मलता ने सहायक है, जो आशा की रसक

उपलब्धि के लिए आवश्यक है। अतः जिन उपायना में शक्ति का रूपना एक स्थान और महत्त्व है, वही कारण है कि जिन शक्ति में वे सब तरफ मिलते हैं जो ईश्वरवादी दार्शनिकों की शक्ति में सम्भव है। तीर्थङ्कर दार्शनिक मुख्य हैं क्योंकि वे नाम-शक्ति से मुक्त होने का मार्ग स्वयं के आचरण से प्रयत्न करते हैं।

४. **मुक्तक-काव्य** : परवर्ति-काव्य में समाज सामग्री कई 'रचनाएँ' हैं जो सम्भवतः लोक श्रुती पर आधारित हैं। इसके प्रतिरिक्त अपर्याप्त दुष्कर्म, दोहों में भी निश्चय है। आध्यात्मिक श्रेष्ठों में आध्यात्मिक अनुभूतियों की उदात्तता है। इनमें तिर्यों और जैनों के दोहो हैं। सरहपाव का यदि यह कहना है कि जब तक अनुभव का चित्त चञ्चल है, वह सामस्यका को नहीं पा सकता, पाव रहने वाले बुद्धिशी (शास्त्र) भी उसे नहीं धारण, तो जोड़-नु का कहना है कि एक ही शरीर में रहते हुए अज्ञ के अज्ञ नहीं मिलता—'एकहि अंगि, बसंतपहं मिलिउ ल अगहि अनु ।' शरीर रहते है—'तो कहे' राम के वरि श्रवण में आण लामु'। सरहपाव नेरल्प भावना शरीर शरीरों के लिए पावत है। जन्मशुद्धक, कर्मदुक्त शास्त्रा को प्रिय और स्वयं को विपक्षी मानते हैं। शरीर विगुंसा राम को बहुरिया है, जगती रतनकेन और पदमावती के प्रतीकों में प्रियतम शरीरों को सम्भला करते हैं। अनुभव शक्ति में एक बार-बार के प्रति नामा सम्भरों की सम्भला करते हैं। इनसे मानना पड़ता है कि कालौतिक शरीरों की भिन्नता के कारण ही समाज मुहम तरफ को पाव की हीन कावना भारतीय विचार और काव्य में मदीव रही है। सरह का कहना है कि सम्भव न तारा जब का शाला पर उसे कोई नहीं ला सका। आइनु के अनुकार योगी यह है जो बंध को उलाने और उलाने को बसाए। यही शरीर का परफूक समाज है। सरह कहते हैं कि जिन की अतन्त्रजता ही अनुभव (सम्भला) है। मुनि रामविहारे बहू प्रतीकों में शरीर की सत्ता नहीं मानते। उन सबसे दूर, वह शाला के भीतर है। शरीर अहं ही मुकने पर यह दूर लकी उसी की देखते है—'जिन देखी तित लू'। रामविहारे कहते हैं—'हे शरीर! तू मुन और लकी लय जोड़, लुम्हारे वैकता की उलाने पर लड़ा है। शरीर का कहना है—'पाटी, जल और मुकने वाला हीनो शरीर के भीतर है।' सरह का कहना है कि शरीर को रहते है मुक्ति मिलती है तो वह कुली, शिवाजी की भिन्नती चाहिए। वे अनुभूतिवादी कवि शिवाजी की शरीर के आचरण के देकर नहीं है, वशों वह आत्मा का ईश्वर की अनुभूति में सहायक हो।

५. **ऐहिक मुक्तक** : ऐहिक दोहा काव्य का विषय शूद्राण, वीर, नीति है, जो सामस्यभाव की अनुभूति पर अंकित है। इनका विषय और शक्तिव्यक्ति का स्वर प्रत्यक्षकाव्यों के विषय और शक्तिव्यक्ति से भिन्न नहीं है। उन युव में

मानवान भूमि और सुन्दरी के लिए तलवार का स्थान से बाहर आ जाना स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य था। सामान्य लोग धामने-सागने बढ़कर फैलना करने में विश्वास रखते थे। एकदनाओं की बीराङ्गताओं की तरह ही, बाँट काश्यों की बीराङ्गताओं के भी स्वरूप हैं। अतः डॉ० नामवर का यह कहना ठीक नहीं कि जैन मुनियों की शांति प्रधान कृतियों के बीच उत्साह और धर्म से भरे हुए काव्य की देखकर साफ माखूम होता है कि ये शांति प्रधान गुणों वाले युद्ध प्रिय जातियों के अनुकूल हूयोजनकार हैं। एक तो सभी प्रकृत-काव्य जैन मुनियों द्वारा रचित नहीं है। भयंभू, दुष्यन्त, धाहिल, छतपाल जैन मुनि नहीं, जैन गृहस्थ थे। दूसरे उनके कालों में आचार प्रधान कृतियाँ ही नहीं, बल्कि सभी प्रकार की कृतियाँ हैं। आभोर गोम कीर गुजर युद्ध प्रिय जातियों नहीं थी। दोषालन और तेली उनका मुख्य व्यवसाय था।

६ नामकरण : हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने ७ से १४, या १० से १४वीं शताब्दी के साहित्य को हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध करते हुए उल्लेख जो नाम दिया है, परन्तु भाषा की दृष्टि से यह अपभ्रंश और अवहट्ट का साहित्य है, हिन्दी का नहीं। अतः उसके इतिहास, गौरवादा काल, प्रारम्भिक काल, चरमकाल, रासोकाव्य इति नाम आशय है। 'मिडलसायलमन्थन' उपरुक्त नाम ही सजता था, परन्तु इस नाम में एक तो जैन अपभ्रंश साहित्य का प्रतिनिधित्व नहीं है, दूसरे यह नाम समाजव्यवस्था पर आधारित है, जो उसके समय तक नहीं। अपभ्रंश सम्पूर्ण भाषा है, उसी ही समर्थ जितनी दूसरी भाषाएँ समर्थ हैं। अतः साहित्य को भी उसी के नाम से पृथक्करण अधिक तर्क संगत है। यह साहित्य समग्र भाषा प्रवृत्तियों का साहित्य है, अतः किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर उसका नामकरण करना ठीक नहीं।

७ प्रवृत्ति और प्रणयारा : जिस समय सा. रामचन्द्र गुप्त ने संप्रदायिक बताने हुए अपभ्रंश की कुछ रचनाओं को साहित्यिक मानने से इंकार किया था, उस समय अधिकांश अपभ्रंश साहित्य प्रकाश में नहीं आया था। जो रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं, वे सभी प्रामाणिक और साहित्यिक नहीं थीं। १०वीं शताब्दी से हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरम्भ मानते हुए डॉ० गुप्त ने प्रारम्भिक डेढ़ सौ वर्ष के साहित्य को (जो भाषा में ही) अनिश्चित प्रवृत्तियों का साहित्य कहा था। उक्त तर्क था कि इस काल में शृङ्गार, वीर, धर्म, नीति आदि के दोहे मिलते हैं। फिर मुसलमानों की चढ़ाई के बाद, इस्लामशासकों के पराक्रमपूर्ण चरित का वर्णन करने वाले प्रशस्तकाव्य रासोकाव्य कहलाएँ और काल बीयादाकाल। इसके बाद गुप्त जी ने 'भक्ति' की हठाण-जाति की प्रतिभवा बतारा। स्व. डॉ० हजारीशंकर त्रिवेदी का मत है कि यह गुप्त (चादि-

अन्तःविरोधों का युग था। बी.आ.ए. की प्रवृत्ति से समाजान्तर विद्रोहों और नाथों की योगधारा थी, यामे चतकर नहीं, शक्ति धारा के रूप में प्रकट हुई। अतः वह हताश जाति को मिथगत नहीं, बल्कि योगधाराओं के समाजान्तर बढ़ने वाली-योगियों को सहज धार्मिक धारा का विकास थी। इस प्रकार द्विवेदी जो के अनुसार, स्वभाव की प्रत्यक्ष धारा हिन्दी में अभिव्यक्त रूप से प्रकाशित होती रही। हृदय कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए डॉ. नाथवर का कहना है कि स्वभाव को साहित्य-वेत्ता का उत्तरात्म और स्वधारा का नैतन्य हिन्दी साहित्य में है। डॉ. द्विवेदी के अन्तःविरोध की, 'परस्पर स्पष्ट विरोध' बताते हुए वे लिखते हैं—'एक युग में दो परस्पर स्पष्ट विरोधी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ थीं। एक थी रामोक्त्याय की शीघ्रमात्र प्रवृत्ति, जो सम्भवतः प्राचीन प्रवृत्ति से रही थी। और दूसरी थी योगधारा की प्रवृत्ति, जो वर्तमान थी और जो जिनके चर्च के आन्दोलन-कालों को स्वर देने के माध्यम-द्वारा और बाल्य-आन्दोलनों को कटु प्रालोकन करती थी। डॉ. गुणल जिन्हे प्रतिष्ठित प्रवृत्तियों का युग मानते थे और डॉ. द्विवेदी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का, उसे डॉ. नाथवर ने स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट कर दिया कि यानोच्य युग में सामाजिक दो प्रवृत्तियाँ थी— (१) योगधारा की उदीयमान प्रवृत्ति (२) रामोक्त्याय की शीघ्रमात्र प्रवृत्ति। एक का सम्बन्ध प्राप्त जाता है या और दूसरे का सम्बन्ध। वस्तुतः जिसे वह शीघ्रमात्र प्रवृत्ति कहते हैं वह रामोक्त्याय की शीघ्रवेत्ता थी जो और और अभिष्ट हो रही थी। इस सम्बन्ध में कहनी बात यह है कि साहित्य-वेत्ता श्री. नाथधारा एक ही चीज है। दूसरी बात यह है कि गुणल का प्रतिष्ठित प्रवृत्ति से अभिप्राय यह था कि यह स्पष्ट नहीं है कि इस युग के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति कौन सी है। यह इसलिए कि गुणल जो कि एक प्रवृत्ति के आधार पर युग का मापक-रूप करना चाहते थे, पर वह सम्भव नहीं हो पा रहा था। तीसरी बात यह है कि योगधारा और शीघ्रवेत्ता (२) तब-तब नहीं थी जिनमें शक्ति विरोध ही, योगधारा की ही शक्ति-धारा प्राप्त था। रामोक्त्याय के विचार इस देश में कुछ नहीं होता। उनके कोई स्पष्ट विरोध नहीं था। हृदयियों का प्रवृत्ति सम्बन्ध को समाप्त करना नहीं, बल्कि शक्ति-धारा विचार कर, अपनी प्रकृत्यमाना था। मंच को यह है कि परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक दूसरे के पूरक थीं। एक सांस्कृतिक योग्य में बना था दूसरा सांस्कृतिक योग्य में। दोनों स्वयं में हीन थे। हृदयियों विचारों के कारण शक्ति में शक्ति और शक्ति-धारा लड़ाइयों में। शक्ति-धारा शक्ति में ही ही शक्ति-धारा की शक्ति से समाप्त तक उत्तर भारत की शक्ति-धारा, परन्तु इनके शक्ति पर जो तक नहीं रेंगी। रेंगी ही तो उक्त समय

जब जैन युवा का चुका था। व्योमकारियों और तंत्रवाचियों की तरह हठयोगियों के भी बड़े बड़े मठ थे। उन्हें सभ्यता के आर्थिक सहायता मिलती थी। दूसरी साम्राज्यों की तुलना में हठयोगियों में अधिक आदर्शवाद और आस्थावाद था। जनों में भी भट्टारकों के मठ थे। सभ्यताओं में ज्ञान प्राप्त करने की होड़ मची थी।

- ८ एक प्रश्न : समूचा राष्ट्र जब बल्लभ के कवार पर ही, एक यह कहना कि एक धारा शीघ्रमाए की और दूसरी लड़गान, केवल प्रयत्नवादी शुद्धि का स्वाभोग है ? भारत में जिनकी कृतियाँ दुर्लभ हैं वे आर्थिक क्षेत्र में हरी हैं। उनका समाज व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भारतीय संस्थात्मकविज्ञान का जून आधार परकीरणा और क्षयिकता-वाद है। जिस देश में बुद्ध-महावीर जैसे राजकुमार-परमादि ईश्वर-तुभारकर, धारामुख की योग में मन्वासी बन गए, उसमें यह कहना कि योगधारा विचले बस के समयोग को व्यक्त कर रही थी, अत्यन्त-व्यक्त है। जबकि और मनीष इस देश को गौरव नहीं दे सकते। आज भी मनीषी के विनाफ-उत्कर्म के लोभ लड़ रहे हैं। मनीष केवल काल है।
- ९ विश्व प्रकृति के कार्य नहीं : भारतीय धर्मों के प्रमुख धर्म-इच्छाओं की प्रति का अनात्मिक रूप है, जो दुःख है; ज्योतिषी, नामधर का बुद्ध योग और भौतिक है। मध्ययुग में भारतीय धर्मों और अर्थकारियों का प्रश्न ही नहीं था। मध्ययुग में विदेशी जगियों के लक्ष्य के लक्ष्योत्पन्न थे। स्पष्ट आभासी और आह्वित्य-प्रयोगों की निरन्तरता ने पूर्ण भारत को अधिक रुढ़िवादी बना दिया। यह कहना नहीं नहीं है कि पूर्ण भारत के आर्थिक, दक्षिणी भारत के बायो की तुलना में विश्व प्रकृति वाली थे; यह कहना भी निराधार है कि अथर्व वेदात्म्य एक और रुढ़िवादी है, और दूसरी और रुढ़िवादी। स्वयंसे, तुल्यता विन्नी-एव-परित या-अर्थों की प्रतिष्ठा नहीं करते। यह कहना लक्ष्यों की अन्तर्दी करना है कि अथर्व वेदात्म्य की जीवितधार; (इच्छात्मक) रूढ़ी कर्म के आदर्श के फल स्वरूप अत्यधिक परिचलित हो गई और उसने संतकाय का रूप ग्रहण कर लिया। रूढ़ी कर्मों में आदर्श की कल्पना ही निराधार है। क्या आदर्श में यथा-संभव था ? दूसरे अर्थिक परिवर्तन का क्या कारण था ? यथा-संभव, संतकाय-हठयोग धर्म का विकास था; परन्तु मनुष्य-परिष्कार-विषय का विकास था ?
- १० प्रति की लहरें समाज का समुद्र : यह सोचना ठीक नहीं कि हिन्दी अति-मातृत्व पर-अर्थ के उत्पन्न निराशा की प्रतिक्रिया या या दक्षिण की संव-मतिक से प्रवृत्तित या या मध्ययुगीन परिस्थितियों की उत्पन्न या या परिष्कार के प्रभावित लोक-मनुष्य-प्रार्थितक भेदात् की परिस्थिति था। वास्तव

में भक्ति कान्दोलन ऐसा या जो सर्वोपलब्धता की क्षति पहुँचाए बिना, निष्कली जाति की और स्त्रियों को धर्मसाधना के द्वार खोलना चाहता था। जिन बातों के लिए डॉ० नामवर विगुण कवि का हठयोग का प्रभाव मानते हैं वे हीन कोड़ाकारों ने भी कही हैं, यतः उनका भी प्रभाव माना जाना चाहिए। उस समय मध्यदेश में जैन धर्म था। कठिनों का विरोध और सार्वजनिक आशु प्रत्येक धर्म के सम्प्रदायसाधियों में देना गया है। एक विषय रुढ़ और संवेदन-शून्य समाज में हर कठिणों विचार कुछ ही दिन बाद रुढ़ बन जाता है। सरलता हीन में बदल जाती है और मजबूत निरुद्ध बन जाता है। यज्ञों को कुटी नाश करने वाले उग्रनिषेधों के विचारों तथा रुढ़ और महावीर से लेकर महात्मा गांधी तक, जितनी वैचारिक आंशिया हुईं, वे सब वर्गशून्यक समाज के समुद्र में समा गईं ?

- १३ प्रवृत्ति और प्रणयधारा : प्रश्न है कि संपन्न की यह अतिविश्रव प्राणधारा क्या है जो हिन्दी साहित्य में प्रयोजित रहने लगी है ? क्या संपन्न की साहित्य चेतना और भावधारा क्या है ? जिसका आत्मन्य और नैरन्तर्न्य हिन्दी साहित्य में है ? ऊपर धारणा युक्त द्वारा प्रयुक्त 'प्रवृत्ति' शब्द का सर्व स्पष्ट किया जा चुका है। वास्तव में प्रवृत्ति, प्राणधारा, साहित्य-चेतना और भावधारा एक ही धर्म को इंगित करते हैं। यह यथेष्ट है—प्राण, जो उल्लास, रति, भक्ति, निरंज, शीतं रुद्ध भी हो सकता है। संपन्न चरित-काव्य नगण भावों से परिपूर्ण जीवन का नियम प्रस्तुत करते हैं। मुक्तक-काव्य में भी शृङ्गार, नीति शोध, साधरणशून्यक धर्म और अनुभूतिशून्यक विमुक्त अध्यात्म की अभिव्यक्ति है। रहने का अभिप्राय यह है कि उतने सभी प्रवृत्तियों विविध हैं, लक्षित नहीं होने का शब्द अनिश्चित होता नहीं है। यह कहा जा चुका है कि शुक्ल को के समक्ष सम्पूर्ण संपन्न साहित्य नहीं था। यदि होता तो वे प्रवृत्तियाँ अलग अलग मिलीं, लेकिन उर्ध्व दिव्य की निरवधि प्राणधारा का शब्द, यदि योगधारा ही है क्या कि डॉ० नामवर मानते हैं तो निश्चय ही यह यथेष्ट है क्योंकि संपन्न साहित्य अनुभूति प्रवृत्तियों का साहित्य है। उनकी प्राणधारा में कई अक्षरों का स्थान है। उनकी साहित्य-चेतना प्राणधारा में एक नहीं, कई पाठकों की हस्तगत है, जिनके योगधारा और सत्त-काव्यधारा के लोभित नहीं किए जा सकता। साहित्यिक प्रवृत्तियों सामाजिक प्रवृत्तियों की अतिविश्रव हैं और सामाजिक जीवन किसी एक प्रवृत्ति पर निर्भर नहीं रहता। शरीरकाव्य भी सभी प्रवृत्तियों से परिपूर्ण है, उनमें शील और शक्ति ही नहीं है दूसरी प्रवृत्तियों भी हैं; परन्तु थोड़ा अन्तर है। सामे औररुद्ध के परन्तु अक्षयिहीन; शृङ्गार है परन्तु शीतं-निर्देश; उपदेश है शून्य संवेदना शून्य। संपन्न युव की कर्म-चतन भारतीय युग में ईश्वरपरायणता का रूप ग्रहण कर लेती है।

इसका मुख्य कारण है, पृथ्वीराज चौहान की पराजय । उसके साथ ही रातो-रात के नायक का अस्तित्व विस्थापित गया । कालस्वरूप उतसे थुड़ी हुई प्रवृत्तियाँ और समाज भी बिखर गया । बौद्ध धर्मोपेत के गैवाय में प्राञ्चिरी बार लड़े गए उस युद्ध में पृथ्वीराज जीत जाता तो उसके राष्ट्रीय व्यक्तित्व में बार बाँद लग जाते । चन्द्रचरदायी राष्ट्रीय धर्मि होते और युग की प्रवृत्तियों में कई प्रभुप्रभारा का संचार होता । यह तो दुनिया की रीति है कि जो जेतेला है, इतिहास और साहित्य उसका होंगा है । कहने का अभिप्राय यह है कि बालोन्वकाल, हिन्दी साहित्य का प्राधिकाल न होकर विमुक्त अग्रअग्रकाल है, उसके विषयव और बिस्तराव जो गृहभूमि पर जिस तरह हिन्दो-साहित्य प्रारम्भ होता है, उसी तरह हुतरे प्राधुनिक भारतीय शायभावा-साहित्य ।

कवि उदयचन्द्र एवं उनकी सुगंधदशमीकथा

सनस्रंके ही 'सुगंधदशमीकथा' के कर्ता कवि उदयचन्द्र हैं। उन्होंने इस कथा की रचना कर इसे गाकर सुनाया था। कवि की पत्नी का नाम देवप्रिय था देवप्रिय था। यथा—

द्वय सुप्रदिक्षिधृष्टि कन्हिय सविन्धर, भई गार्वित्ति सुराईय गराहर ।
रियाय कुलसंह-उज्जोइय-चंदद, सज्जस्य-मरा-कथ-शायराए एदद ।

—संज्ञि. २.६ ७-८

इस कवि उदयचन्द्र का जिनमन्त्र मुनि ने कवनी 'शिवभरणचर्मोच्छा' में, 'नरमठलापीनहा' में तथा 'भूतदो' में माधुर संघ के मुनि उदयचन्द्र की तस्करा कर दिया है। डॉ. हीरालाल जीस ने इन कवनों पर विचार कर विष्णुयंत्र विकला है कि कवि उदयचन्द्र सुगंधदशमीकथा के लेखन के समय गुरुत्व थे। बाद के ये मुनि हैं। गुरु थे। कवि के जिनमन्त्र विद्वान्त्र मुनि की रचनाओं के आधार पर कवि उदयचन्द्र का रचना-क्षेत्र गुरा जिला और भरतपुर के आस-पास का था। यद्यपि सुगंधदशमीकथा में उसके रचना-स्थल का उल्लेख नहीं है और न ही रचना-काल का; किन्तु मुनि जिनमन्त्र का समय सन् १७४० से १७५५ के बीच रहा है। अतः उनके मुक्त कवि उदयचन्द्र द्वारा लगभग सन् १७५० में सुगंधदशमी की रचना की गयी होगी, ऐसा प्रतीत होता है।

कवि उदयचन्द्र इस अनेकों रचनाओं में एक सशक्त कथाकार प्रतीत होते हैं। उन्हें जीत परम्परा के प्राचीन कथाकर्मों का अच्छा ज्ञान था। उन्हीं में से उन्होंने इस कथा को सुनकर उसे काव्य-रमक रूप प्रदान किया है। कथा के उत्तर अंश में कवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रयोग कर इसे रोचक बनाया है।

'सुगंधदशमीकथा' में दुर्गन्धा नामक एक भुवनी की कथा बरिष्ठ है। उसके जारी से दुर्गन्ध जाने के कारण उसे जंगल में छोड़ दिया गया था। वहाँ पर मुनिराज के उपदेश से उसने कुछ प्रति प्रहस्य किये। अन्त में जन्म में वह एक दरिद्र कुटुम्ब में लम्बी। वहाँ मुक्तिराज के द्वारा उसके पूर्वजन्म का कथन किया गया तथा सुगंधदशमीकथा के पालन की विधि बतलाई गयी। अतः तब पालन करने से दुर्गन्धा अमल नाम में जिनमन्त्र शीट की पुत्री जितवनती हुई। संयोग से उसका पिताश राजा कनकधर से हुआ, किन्तु सीतेली मरता के दुर्घटनकार के त्रिभुवनती को कई कष्ट सहने पड़े। अन्त में वह राजा की पत्न्यनी बनी। सुगंधदशमीकथा के पालन से त्रिभुवनती ईशानात्मक में देव हुई।

यह कथा भारतीय साहित्य में बहुत प्रचलित रही है। डॉ. हीराजान जीन ने 'सुमन्यदशमीकथा' की प्रस्तावना में भारतीय एवं विदेशी कथाओं के साथ इसकी तुलना प्रस्तुत की है तथा संस्कृत, मराठी, गुजराती एवं हिन्दी में विहित इस कथा के पूरे-कर एक साथ प्रस्तुत किये हैं। अरभ्रंश कथा के साथ इनकी तुलना प्रस्तुत की है।

११२ :

कवि साधारण एवं उनकी विलासवईकहा

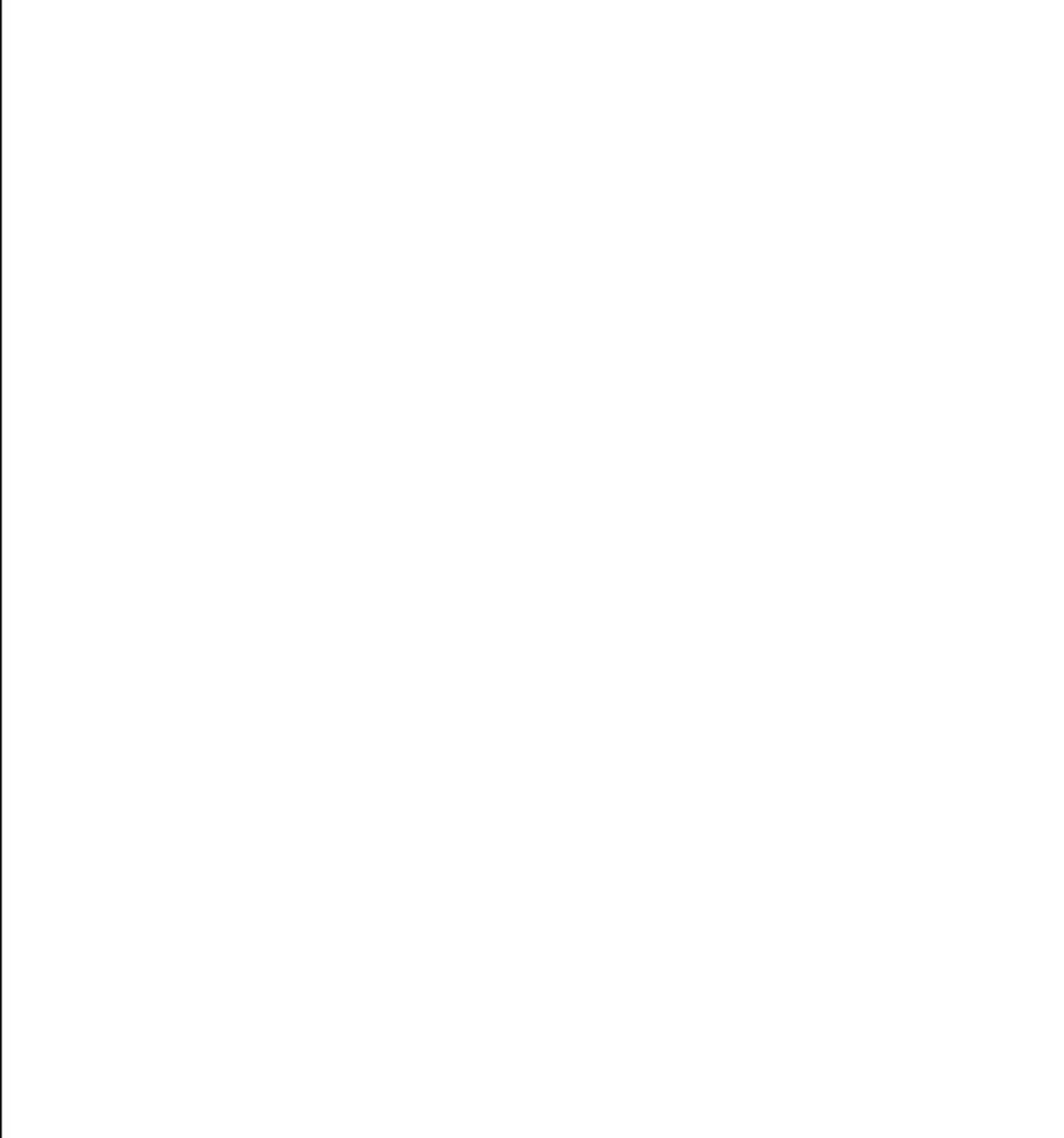
अरभ्रंश में उपरोक्त प्रभावशालक कथाकारों ने 'विलासवईकहा' एक सद्गुरुवृत्त कथा है। इस कथा के रचयिता कविताकार जीन मुनि सिद्धसेनपूरि हैं, जिसका महत्प्रभावस्था का नाम व्युत्पन्न है। विलासवईकहा की प्रकृति से ज्ञात होता है कि सजीवपूरि गच्छ में थे सिद्धसेनपूरि अरभ्रंश कवि हुए थे। मोद जाति में इनका जन्म हुआ था। सिद्धसेन का कार्यक्षेत्र गुजरात का धनुषका नामक नगर था; किन्तु वे गोपतिरि (गोपालियर्) तक भी विचरण करने थे। सिद्धसेन ने वि. सं ११२३ तथा १०५७ में विलासवईकहा की रचना की थी। गुरुस्था जीवन में रहते हुए उन्होंने कुछ रत्नों का भी विवेक थे। अन्तर्गत पद की प्राप्ति के बाद उन्होंने विलासवईकहा की रचना कुम्हार नगर में की थी। यथा—

एवकारराहि सएहि सएहि तेधेस-वरिस-सहिएहि ।

गोस-चवद्वि सोमे सिद्धा संक्षालय पुरभिम् ॥

सिद्धसेनपूरि ने समेक स्तोत्र रचे थे; किन्तु उनमें से 'सकलवीर्यस्तोत्र' की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है, जो भाद्रपद की ३६ मन्वाओं की एक लघुपुस्तिका है। कवि को दूसरी रचना 'एवविभक्ति-विलासकथरत्न' प्रकाशित हुई है, जो भाद्रपद की ३६ मन्वाओं में लिखी है। कवि सिद्धसेनपूरि की विलासवईकहा का सम्पादन संस्कृत डॉ. रामशुक्ति भाई साहू ने प्रस्तुत किया है, जो एन. डी. इन्स्टीट्यूट, प्रहाराबाग के १९७७ में प्रकाशित हुआ है।

विलासवईकहा में कुल ११ सर्गिकां हैं। इसमें विलासवती एवं तनुसुमार की प्रेमकथा वर्णित है। कथा की प्रथम सर्गिक के आठवीं सर्गिक तक जो अणु-वस्तु द्विभद्रपूरि-रुत सधरादशकथा के संनभ भव-रि कथा के अनुसंधान हैं। सिद्धसेन ने भाद्रपद रच को गानो अरभ्रंश श्रम में ज्ञान विभर है; किन्तु सर्गिक २, १० एवं ११ में कवि ने अपनी मौखिक वार्तिका प्रदर्शित की है। प्रकृतिविषय की दृष्टि से विलासवईकहा ने गानो सतत पहिधान प्रदाने है। इसमें कई नये सर्गों का भी प्रयोग हुआ है। इस कथा के काव्यात्मक एवं यत्न-वर्षों पर कथाके सिद्धा संक्षालय के प्रयोग प्रकाश उत्पन्न है। □



काव्य-संकलन

१. सरहपाद

सरह मरुह जग बाहि ज्वालें ।

शिय-सहाय ए लखिय ज्वालें ॥1॥

चित्तेक-चित्त सघल-बीघः भवणिव्वाणजम्म विस्फुरति ।

तं चित्तामणि कवं परामह इच्छाफलं देह ॥2॥

वेज्जइ कम्मैण जणो कम्म विमुक्कोण होइ मरुपुक्को ।

मरु-भोक्केण वणुणर परवेज्जइ परमणिव्वालें ॥3॥

गुरुवन्नण-अमिअरस धावांरुं ए विविअउ जेहि ।

बहु सत्पात्य-भरत्थसेहि क्खित्तिध मरिध्वो तेहि ॥4॥

अग्गे पच्छे वसदिसे अं जोअमि सोवि ।

एवं तु दीठंतडो एणह ए पृच्छमि कोवि ॥5॥

चित्ताभित्त वि परिहरहु तिम अण्णहु जिम वास ।

गुरुवन्नणे विडभत्ति कर होउहइ सहज उलाल ॥6॥

जत्तइ चित्तु विस्फुरइ तत्तइ एणहु सरुअ ।

अण्ण तरंग वि अण्णु अतु अन्नसम खलम सरुअ ॥7॥

एतं वाए गुरु कहइ, एउ तं बुज्जइ सीसु ।

सहज सहावा हलें अमिअ रस।कासु कहिज्जइ कोस ॥8॥

अहवा करुणा केवल साहइ तो जन्मंतरे भोक्केण पावइ ।

अइ पुणु वेण्णवि जो जण साक्कअ एउ भव

एउ एण्णवाणे वाक्कअ ॥9॥

1. सरह कहते हैं कि दुनिया झूठ से चलाई जा रही है, मूर्ख मनुष्य ने अपना स्वभाव नहीं देखा । 2. चित्र एक है, वह सबका कारण-स्वरूप है, भवनिर्वाण और जन्म उसीसे स्फुरित होते हैं । चित्तामिरूप उसे प्रणाम करो, वह इच्छाफल देता है । 3. मनुष्य कर्म से बंधता है, कर्म से मुक्त होने पर मन-मुक्त हो जाता है । मन की मुक्ति से वह धनुतर (धोष्ठ) निर्वाण को प्राप्त करता है । 4. गुरुवचन के अप्रत रस को जिन्होंने दीड़कर नहीं पिया, वे नाना पारुवार्यरूपी मरुस्थलों में मारे जायेंगे । 5. आने पीछे दसों दिशाओं में जो-जो देखता है वही है, हे स्वामी ऐसा दिखने पर अब मैं किसी से नहीं पूछता । 6. चित्त और जड़ को भी छोड़ो, बालक की तरह रहो, गुरु के वचन में विश्वास करो, सहज प्रकाश प्राप्त होगा । 7. जब तक चित्त स्फुरित है तब तक स्वरूप स्फुरित नहीं है, लहर अन्य है जल अन्य है, स्वरूप भव और आकाश के समान है । 8. न तो गुप्त उसे वाणी से कहता है, और न शिष्य उसे समझता है । हे संखी, सहज स्वभाव असूतरस है उसे किससे किस प्रकार कहा जाए । 9. चयना जो केवल कष्टना को साधना करता है वह जन्मान्तर में भी मोक्ष नहीं पाता । जो दोनों (कष्टना और मोक्ष) को साधता है वह न तो संसार में स्थित रहता और न मोक्ष में ।

२. जोइंदु (योगीन्द्र)

जसु श्रमभंतरि जसु वरह, जसु-श्रमभंतरि जो जि ।
जपि जि वस्तु वि जसु जि रावि मुनि परमप्यउ जो जि ॥1॥

श्रप्या जरियउ केण रावि श्रप्ये जरियउ ए कोइ ।
दव्वतहावे रिणुउ, मुनि, परजइ विरासउ सोइ ॥2॥

जीवहं कम्मु श्रयाइ, जिय, जरेणउ कम्मु ए तेण ।
कम्मं जोउ वि जरियउ रावि ओहिं वि श्राइ ए जेण ॥3॥

बंभुवि मोक्खु वि समयु जिय, जीवहं कम्मु श्रयाइ ।
श्रप्या कियि वि कुराइ रावि रिणुउ एउं भरोइ ॥4॥

अहिं भावइ तहिं जाइ जिय उं भावइ करि तं जि ।
एव्वहिं मोक्खु ए अत्थि परं व्रित्तहिं सुद्धि ए अंजि ॥5॥

संता विसय बु परिहरइ नलि किजजउं हउं तामु ।
सो इइवेरा जि मंडियरासोसु खडिल्लउ जासु ॥6॥

चेल्ता चेल्नी पोत्थपहिं तुमइ मूळ रिणंतु ।
एपहिं लज्जइ शाणिकउ बंधहं हेउ मुखंतु ॥7॥

जो परमप्या सो जि हउं जो हउं सो परमप्यु ।
इम जारोविणु जोइया ॥८॥ म करहुं बियप्यु ॥8॥

देहा देवलि देउ जिणु लणु देवलिहिं रिणएइ ।
हामउ महुं पडिहाइ इहुं केतइं मिवल भमेइ ॥ 9 ॥

जह लोहम्मिय रिणयउ, वुहं, तह सुणामिय जारिण ।
जे सुइं अणुह परिचवपहिं ते विहवन्ति हूं शारिण ॥ 10 ॥

1. जिसके भीतर जग रहता है, और जो जग के भीतर रहता है । जग में रहते हुए भी जो जग के भीतर नहीं है, उसे परमात्मा जानो ।
2. आत्मा को किसी ने पैदा नहीं किया । आत्मा ने भी किसी को पैदा नहीं किया । द्रव्य स्वभाव से आत्मा निश्चय है समझो । पर्याय का नाश होता है ।
3. जीवों के कर्म अतादि हैं, इसलिए हे जीव ! कर्म उसने पैदा नहीं किया । कर्म ने भी जीव पैदा नहीं किया, इसलिए दोनों आदि नहीं हैं ।
4. हे जीव, बंध और मोक्ष सब कर्म ही जीवों के उत्पन्न करता है, आत्मा कुछ भी नहीं करता, यह निश्चय से कहा जाता है । 5. हे जीव ! जहाँ अच्छा लगे वहाँ जा, जो अच्छा लगे यह कर, इस समय सब तक मोक्ष नहीं है कि जब तक केवल चित की छुट्टि नहीं होती ।
6. विद्यमान विषयों का जो परिस्थाप करता है, मैं उसको बलिहारी जाता हूँ । वह तो देव के द्वारा मूढ़ दिया गया कि जिसका शिर खत्वाट है । 7. निश्चय ही मूढ़ चेला शैलियों और पौधियों से संतुष्ट होता है । ज्ञानी बंध का कारण जानता ठुप्रा, इससे लज्जित होता है । 8. जो परमात्मा है, वही मैं हूँ; जो मैं हूँ, वही परमात्मा है, हे योगी ! यह जानकर तू दूसरा विकल्प मत कर । 9. देह रूपी देवली (मटी) में जिन हैं, लोग देवालियों में भीजते हैं, भुक्तें यह देखकर हंसी घाती है कि सिद्ध भोज के लिए घूमता है । 10. हे पंडित जिस तरह लोहे से बनी नाव है, उसी प्रकार स्वर्ण निर्मित को जान । जो शुक्र अणुभ को धोड़ देते हैं, वे भी जानी होते हैं ।

३. मुनि रामसिंह

गुरु बिलायर गुरु हिमकिशुगु गुरु बविज गुरु बेज ।
अप्यपरहं परंपरहं जो प्ररिसावइ भेज ॥ 1 ॥

मशु मिलियउ परमेस्वरहो परमेसव जि भएत्स ।
बिप्लियि समरस हुइ रहियःपुज्जबडावउ कत्स ॥ 2 ॥

हत्प अहुट्ठहं देवली आतहं एाहि पवेसु ।
संतु एारंजखु तहि बसइ गिम्मलु होइ गवेसु ॥ 3 ॥

हउं सगुणी पिउ सिगुणउ सिगुणखु एीखंगु ।
एकहिं अंगि वसंतयहं भिंजिउ एा अंगहिं अंगु ॥4॥

छह-वंसएा-बंधय-पडिय-भएहं एा किट्टिय भंति ।
एकगु बेउ छह-भेउ किय तेण एा मोबणहं अंति ॥5॥

पोत्था पडरिण मोक्खु कहं मशु वि एासुउउ जासु ।
बहधारउ लुउउ एावइ सज्जिउ हुरियासु ॥6॥

तित्बहं तित्प भमेइ वड धोउउ अम्मु जलेएा ।
एहु मशु किय धोएसि तुहुं गइलउ पावमलेएा ॥7॥

सुटा जोवइ देवलइ लोयहिं आइं कियाइं ।
देह एा पिउइइ अप्पणिय जोहं सिउ संतु ठियाइं ॥8॥

जइ लउउ माणियकडउ ओइय पुहवि भमंत ।
अंधिउजइ शिय कप्यउइ औइउजइ एकंत ॥9॥

अगइ पच्छइ वहविहहिं अज्जि जोबउं तहिं सोइ ।
ता महु किट्टिय भंतउी अज्जु एा पुच्छइ कोइ ॥10॥

1. वह गुरु सूर्य है, गुरु चंद्र है, गुरु दीपक है, गुरु देव है, जो स्व पर तथा आत्मा-परमात्मा का भेद सिखाता है । 2. मन परमेस्वर से मिल गया और परमेस्वर मन से, दोनों समरस हो गए, पूजा किसे चढ़ाऊं । 3. साढ़े तीन हाथ की मठी, मूर्ख का उसमें प्रवेश नहीं, निविकार अंत उसमें रहता है, पवित्र होकर सोता ।

4. मैं सगुण हूं और प्रिय निर्गुण है, लक्षणहीन और अनासंग । शरीर में एक जगह रहते हुए भी शरीर से शरीर नहीं मिला । 5. छह दर्शनों के घंघे में पड़े हुए मनों की आंति दूर नहीं हुई । एक देय के छत्र भेद कर डाले, इसीलिए वे मोक्ष नहीं जाते । 6. पोषी पदने से मोक्ष कहाँ ? जिसका मन अशुद्ध है । ब्रह्म करने वाला शिकारी, भूल में स्थित होकर, हरिण के लिए भुक्तता है । 7. हे मूर्ख ! तू एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ के लिए घूमता है, तूने जल से चमड़े को धोया । यह मन तू कैसे धोएगा ? जो पापमल से मिला है । 8. मूर्खों देवासुरों को देखते हैं, जिन्हें लोगों ने बनाया है, वे अपने शरीरों को नहीं देखते कि जहां शिव स्थित है । 9. हे योगी धरती पर घूमते हुए यदि तूने माणिक पा लिया है तो उसे कपड़े में बांध लिया जाए और ज्वालन में देखा जाए । 10. आगे पीछे जहां देखता हूं, वहां बही है सब मीरो आंति नष्ट हो गई जब भवक्य ही कोई नहीं पृच्छता ।

४. अब्दुल रहमान (अबूदहमान)

श्रीराम— जमजीहह जिम चंचलु ग्राहयलु लहलहह ।
 तद्वयडि धर तिडइ ए तंजह भच सहह ।
 अइउन्हउ वोमयलि पहंजलु जं वहह ।
 तं कंसलर विरहिणहि-अंगु फरिसउ दहह ॥1॥
 सह पत्तिहि-संसगिहि घूया-कंजिरिय ।
 कीरपत्ति परिवसह रिण्डु रिणरतरिय ।
 लइ-परलव भुस्तति समुदितय करण भुणिय ।
 इउं न्निच रिस्तार पाणिय साहारबलिय ॥2॥

शर्वा— मगु मिस्हवि सलिलडः तव सिहरहि बडिउ ।
 तंउनु करिचि सिहंडिहि तव सिहरिहि रडिउ ।
 सलिल-सिणबहि सासुगिहि फरसिउ रसिउ सरि ।
 कलयलु किउ कलयंतिहे बडि घूयह-सिहरि ॥3॥

सच्छर-सय संचडिउ रनि मोजंगरिहि ।
 भणहर रमिषइ साहु रंगि मोजंगरिहि ॥
 हरिघाउलु अरवलउ कयविण महमहिउ ।
 कियउ भंनु अंगमि अरगिण गह अहिउ ॥४॥

शरद्— तिलु भासघलि तुरभिक तिलवकउ ।
 कुं कुमि खंदरिण तए चच्चविकः ॥
 मोरंडइ करिलियहि फिरतिहि ।
 दिव्न मनोहर गेउ गिरतिहि ॥ ५॥

कि तीहि बेचि एउ कुरउ जुन्होसि सिम्मल चंदह ।
 अइ पायउ एहु पडइ कोइ सुलभिय पुण राइण ।
 अइ पंचमु एहु कुणइ कोइ काथभलिय भाइरा ॥
 महमहइ अहव पचवसि एहु जोभसित्तु छरणकुसुमभर ।
 हउ मुसिउ पहिय अणरसिउ गेउ सरइ - समइ
 जु न सरइ घर ॥६॥

हेमंत— वीह - उसासिहि वीह - रयणि मह गइय शिरवखर ।
 अइ रा सिद्धय सिद तुजभ सफरतिय तवखर ।
 अंगिहि तुहं अलहत धिटठ करयण - फरसु ।
 संतोसिउ तणु हिमिण हाम हेमः सरिसु ।
 हेमंति कंत विलबंतियह, अइ पलुंटेउ नासासिहसि ।
 तं तइय मुजख । खल पाइ मई मुइय विज्ज कि आविहसि ॥७॥

शिखर -- तरिणहि कंत पमुभिकय शिय - भेतिहरिहि ।
 सिसिर - भइण किउ जलणु सरणु अग्गीहरिहि ।

उजभुंजहि केलोरसु अजभंतरि - पुयणु ।
 उज्जणह दुम्मिहसि ए कौरइ बिंवि सघण ॥८॥

वसंत— निबद्धत रेणु धरपिजरीहि स्थिमपर - तस्थिय एवमंजरीहि ।

मरु सीयलु वाद महि रविपालंतु एण्ड जराड

सीउ रॉं त्रिवइ तंतु ॥१॥

चञ्चरिहि गेउभुरिण करिनि तालु नचिचयड भउव्वसंतकालु ।

छण्ण रिणविड हारि परि किल्ला रीहि कणभुणारउ - मेहल

किकिरीहि ॥१०॥

1. यम की जीभ को तड़कू चंचल आकाश खालपाता है । धरती तड़ तड़कर तिड़कती है । वह खंख के धार को सहने नहीं कर पाती, आकाशजल में जो अत्यन्त उष्ण पवन बहता है, वह त्रियोगिनी के शरीर को दग्ध कर देता है । 2. वहां (उद्यान में) ग्राम की आकांक्षा रखने वाले लोगों की कतार अत्यन्त सघन पत्तियों में निवान करती है, लताओं के पत्ते झूल उठते हैं, कदण ध्वनि उठती है, हे पथिक ! इस प्रकार मैं गह्वार-उद्यान में, बिना सहारे को कर दी गई हूँ ।

3. बगुला जल-सरोवर की छोड़कर पेड़ की जाला पर चढ़ गया है । श्रेष्ठ शिखर पर, तण्डव करीं हुए मधुर रस लगाए हुए हैं । जल समूह से युक्त नदी में मंडक लडोरता से चिल्ला उठा । आश की डाल पर चढ़कर कोयल ने कुहकुह ध्वनि की ।

4. मच्छरों के डर से गायों का मुँह पहाड़ पर चढ़ गया है । नाथ गोपामनाओं के साथ क्रीडा में सुन्दर रमण कर रहा है । धरतीमंडल हरा-भरा है । कदम्ब महक उठा है । इस प्रकार कामदेव ने अंग-अंग को अधिक भंग कर दिया है । 5. कालजल पर तिल और मुंगधित तिलक । केशर घोर चंदन से चंचित शरीर । सोरंड हाथों में लेकर धूमती हुई और दिव्य सुन्दर गीत गाती हुई (बनिताएँ) । 6. क्या उस देश में चांदनी नहीं चमकती, रात चन्द्र से निर्मल नहीं होती, फल (मुक्ताफल) का सेवन करने वाले इस मूर्ख के लिए कथरव नहीं करते अथवा कोई सुन्दर राग से प्राकृत नहीं पकता, अथवा कोई कापालिकाभाव से पंचम राग में नहीं गाता अथवा सबेरे ओसोसवत तथा सघन कुसुमों से भरा हुआ आकाश नहीं महकता ? हे पथिक ! मैंने सोचा है कि प्रिय नोरस है, वह अरतु समय में भी घर की याद नहीं करता ।

7. दीर्घ उच्छ्वासों से मैंने लंबी रात मीन बिताई है । हे निज तस्कर ! मुझे नींद नहीं आई, तुझे याद आते हुए । हे वृष्ट ! अंगों में तुम्हारे

करतल का स्पर्श नहीं पाते हुए, हेम गति तरह मेरा शरीर हेमंत के घाम की तरह सूख गया। हे प्रिय ! यदि श्रमंत में विलाप करने वाली मुझे लीटकर डाडस नहीं बंधाते तो हे दुष्टःपूर्व बंध, क्या तुम मेरे मरने पर आश्रमे ?

8. युवतियों ने पशियों को अपने केलिधरों में छोड़ दिया है, शिशिर के डर से अग्निगुहों में शरणा ली है, भुजाओं के भीतर क्रीडारस का आनन्द ले रही हैं, उद्यानों के वृक्षों के नीचे, अब किसी के द्वारा शयन नहीं किया जाता। 9. गिरती हुई भूल से धरती को पीला बना देने वाली, नवमंजरियों से धरती को मोतल कर देने वाली सुन्दर हवा बहती है, परंतु वह शीतलता उत्पन्न नहीं करती मरुतो संताप पैदा करती है। 10. बसंतकाल में ताल और चरैरोमीत की ध्वनि कर अपूर्व नृत्य किया जाता है, अत्यंत मजबूती से धरणा की गई, तथा क्रीडा करती हुई करधनियों की किकरियों की रमण्य ध्वनि हो रही है ॥ 10 ॥

५. सिद्धहेमशब्दानुशासन

पुत्ते जाए कबल गुणु अबगुणु कबलु सुएणु ।

जा बण्योको भूँहंडी अपिउजइ अवरेणु ॥1॥

हिअडा जइ बेरिअ धरणा तोके अग्नि अडाहुं ।

अग्नाहुं वे हवडा जइ पुणु मारि मराहुं ॥2॥

अग्ने थोवा रिउ बहुअ कायर एम्ब भरणाति ।

पुद्धि रिणहालहि गयणयत्तु कइजण जोण्ह करंति ॥3॥

पइ मइ वेहिं वि एणगयहिं वते जयसिरि तवकेइ ।

केसहिं वेण्यणु जसधरिणो अण सुहु को अबकेइ ॥4॥

जाम न रिणवडइ कुं भयडि सोहे - अबेइ जउकक ।

ताम समतहं सयगलहं पइ पइ बउजइ डकक ॥5॥

अगउ वेणिलवि निअयवल पन्नरिअउं परस्सु ।

उम्मिलइ ससि - देहजिअ कोरकर बालु पिअस्सु ॥6॥

अहिं कपिउजइ सरेणु सइ अउजइ लग्गेणु अणु ।

सहिं तेहइ अइनिवहिं कंतु पअसइ मणु ॥7॥

संगरसर्पिर्ह ज्ञु वयिणमद् बेकङ्गु अम्हारा कंतु ।

अइमस्तहं चस्तकुं सहं गय कुं भदं वारंतु ॥8॥

महु कंतहो गोठट्टिअहो कठ भुप्पडा वलंति ।

अह रिउ-रहिरें उल्हवइ अहा अण्णत्तं एण भंति ॥9॥

महु कंतहो वे दोसडा हेत्ति न भंलहि अणु ।

वेतहो हउं पर उच्चरि अ जुअभंतहो करवाणु ॥10॥

पिय एम्महिं करे तेत्तु करि अइउहि तुहं करवाणु ।

अं कावासिय वप्पुडा लेहि अम्मणु कवाणु ॥11॥

अह भग्गा पारक्कडा, तो सहिं मउणु पिएण ।

अह भग्गा अम्हहंतणा, तो तेण्ण मारिएण ॥12॥

पाइ विलग्गी अंत्रडो सिह ल्होसंउ खंयत्तु ।

तो वि कडारइ हत्थउउ बलि किज्जउ कतत्तु ॥13॥

भल्ला हण्णा जु मारिअा बहिली म्हारा कंतु ।

लज्जेउजंतु वयसिअहं अइ भग्गा अर एणु ॥14॥

खग्गा-विसाहिंउ अहिं लहहं पिय तहिं वेसहिं जाहं ।

रण दुब्बिक्खं भग्गं विणु कुम्भं न बलाहं ॥15॥

1. पुत्र के पैदा होने से क्या लाभ और मर? जाने से क्या हानि ? कि जिसके बाप की धरती, दूसरों के द्वारा छीन ली जाती है । 2. हे हृदय ! यदि दुश्मन बहुत हैं तो क्या आकाश में शक जाऊँ ? हमारे भी दो हाथ हैं, यदि हम मारकर मरे । 3. हे गृध्रे ! गगनतल देखो, कितने लोग चांदनी करते हैं, हम थोड़े हैं और शत्रु बहुत हैं—कायर शीघ्र इस प्रकार कहते हैं । 4. तुम्हारे धीर मेरे दोनों के युद्धभूमि में जाने पर कौन विजयश्री की कल्पना करता है ? यम की पृथिवी के बाल लीचकर कौन मुख से रह सकता है ? 5. जब तक (यवों के) कुम्भ तट पर सिह को चपेट का घमाका नहीं होता, तब तक मतवाले गर्जों की गर्जना पग-पग पर सुनाई देती है । 6. अपनी सेना का भग्न देखकर धीर दूसरे की सेना को फेला हुआ देखकर शत्रु के हाथ में तलवार नंदरेखा की तरह खमकती है । 7. जहाँ सर से सर काटे जाते हैं और राज्य से लडग, उस जैसे श्रेयवटा-

समूह में प्रिय मार्ग दिखाता है। 8. देखो मेरे पति की सैकड़ों युद्धों में प्रशंसा की जाती है कि वह अंडुश को छोड़ देने वाले मतवाले गजों के कुम्भों को विदीर्ण करता है।

9. मेरे पति के गोठ (घर) में रहने पर भोंपड़े कहीं जल रहे हैं, वे या तो अपने शत्रु के रक्त या अपने प्रिय शत्रु के रक्त से शांत होंगे। 10. हे सखी, तू झूठ मत बोल। वेते हुए केवल मैं बचती हूँ और लड़ते हुए करबाल। 11. हे प्रिय, इस समय हाथ में बरछी लो। तुम तलवार छोड़ो जिससे बेचारे कापालिक साबूत कपाल प्राप्त कर सकें। 12. हे सखी, यदि शत्रु सैनिक मारे गये हैं तो प्रिय के द्वारा, यदि हमारे सैनिक मारे गए हैं तो उसके मारे जाने पर 13. अंत में पर मे आ लगी है, और सिर कंधे से आ लगा है, तब भी उसका हाथ कटाग पर है, मैं स्वामी की बलि जाती हूँ। 14. हे वहन, अच्छा हुआ जो मेरा स्वामी मारा गया, सहैलियों के द्वारा मेरी हूँसी उड़ाई जाती, यदि वह भाग कर घर आता। 15. हे प्रिय, जहाँ लड़ाई का व्यवसाय मिले वहाँ चले। युद्ध के अकाल में हम नष्ट हो चुके हैं, बिना युद्ध के नहीं आएंगे।

६. पुष्पदन्त (महापुराण)

१. आत्मविनय

हृदं वप्य शिरस्कर कुक्वि-सुकुशु एर वेसं हिडमि चम्मरुवसु ।
 अइ-दुग्गमु होइ महापुराणु ऋडएण सबइ को जल-सिंहणु ।
 अमरामुर-मुहयण-मणहरेहिः । जं आसि कियउ मुणि गणहरेहि ।
 तं हउं मि कहमि भस्तिमरेण । कि एहिण भमिउजइ महुपरेण ।
 एह विणउ पयासियउ सज्जणहं ।
 मुहि मसि-कुणउ बुज्जणहं ।

धत्ता — धरे धरे मखउ असारउ दुण्णयगारइ विवररेवखए कि अणखइ ।
 लइ मइं सो मोककत्तिलउ कलु दुभेत्तिलउ

सेउ दोलुजइ पेवखइ ।

ता भरिण्य निराइया रुढ राइया बंडवाउवेया
 किं थियमिह रहंगयी रिणचलाय तथण-तरण-तेया ।
 तं रिणमुसे थियणु मणद पुरोकिंज ।
 जेण यहं गइ-पतर विरोहिउ ।
 अक्कमि तं रिणमुएहि परमेसण ।
 वेव वेव दुज्जय भर हेतर ।
 कित्तित्तित्तज्जणमेसि सहायहं ।
 को पडिमक्कु एत्थु तुहं भायहं ।
 देति न करमइ केसरि-कंधर फर मुहियइ भुज्जति वत्तुं वर ।
 अज्ज जि ते सिज्जतिरा जेण किं पइसइ
 पट्टेणि अक्कु रा तेण जि ।

बाहुवलि का दूत को उत्तर—

घता— रदवर परमेतर उण्णु धणु अरोणहुरण राण परियइ
 कासव तणुइह एवणनिरणमुहं पुण्णुअरण पुरंधव
 अं थियणं महेसिण कुरियणसिमा रायर देस-मेत्तं
 तं महु तिहिय सासणं कुल विहअण हरइ को पट्टसं ।
 केसरि-केसर वरतइ-धरायणु सुण्णु सरणु
 मज्जु धरणीयणु ।
 जो हथेण थियइ सो केहउ किं कम्मणु कालाणु जेहउ ।
 हउ सो परणवमि को सो भण्णइ म्हि खंडेण
 कवरण परमुण्णइ ।
 अक्कु-अंजु तं तामु जि सारउ महु! मुण्णु रां कुमारह केरउ ।
 भरहृ हरइ किं मज्जु भुवाभर तंजु धुवकइ
 जइ सुयरइ जिरणवर ।

घता— तहु मेइणि महु पीयण रायर अण्ण-जिण्णिं थियणुं ।
 अण्णिअण्णि पट्टअ आसि तिहिंसिहं अइण सरइ पडिपवण्णउ ।
 बुद्धउ अंबुउ सिध सदिदज्जइ एण राणं महु हातउ विज्जइ ।

जो बलबन्तु चोर सो राबउ। ऐणव्वलु पुणु किज्जइ रिण्णराउ ।
हिण्णइ मंगु मूणोण जि आम्भित्तु, हिण्णइ मणुएण

मणुएणु जिबसु ।

रक्काकंसइ जहु रएण्णिणु एककहु केरो आण सएण्णिणु ।
ते रिणवसंति तिलोइ गलिट्टरउ सीहहु केरउ ववु ए चिट्ठउ ।
माणभंगि वर मरणु ए जोविउ

एयउ वुअ सुट्टु मई भाविउ ।

आवउ भाउ घाउ तहु वंसंनि संभाराउ व एणि विद्धंसनि ।

दूत कां भरत से प्रतिवेदन—

धिसमु देव बाहुवलि शरेश्वर ।

रोहु ए संधइ संधइ गुरिण हार ।

कञ्जु ए वंधइ वंधइ परिवार ।

संधि ए इच्छइ इच्छइ संगठ ।

पहं एउपेच्छइ पेच्छइ भुयञ्जु ।

आण ए पालइ पालइ रिण्णञ्जु ।

मणुए ए खंडइ खंडइ भयरहु । वडव ए चितइ चितइ पोरसु ।

सति ए मण्णइ मण्णइ कुक्कलि । पुहइ ए वेइ वेइ वाणावति ।

धरता— संताणु कुलककमु गुरुकहिउ छत्तधम्मु एउ बुउभइ ।

मउजाय-खिवज्जिउ समरिण्णु अक्सं वाइउ बुउभइ ।

संभाराय जलणु जो भविउ

ओ तमज्ज-कल्लोलेहि समियउ ।

संभाराय सुसिणु जं संकिण तं तमोह-मवराहें ठंकिउ ।

संभाराय विडसि जो फुल्लिउ सो तम-तवेरम-वइ पेसिलउ ।

वंदमइदें तमकरि-भगउ कि आणहुं सो तासु जि लगउ ।

धरता— गंगसरि-हंस-पवध-दलदं गियविरहिण-यंडयलइ ।

जायइ ससियर-पक्खालियः धवलाइ जि रिण्ण धवलाइ ।

द्वन्द्व युद्ध-

सकसायभाव आसण्णु क्वल्लु घोहि मि अयलोइउ एकमेककु ।
उधाराण्णु पडु भुयबलिहि तोडु पेच्छइ रविविबु
ब किरण-चंडु ।

हेट्टिलविट्टि उवरिल्लियइ रिण्जिय विट्टिउ अविहस्सियामं ।

घस्ता— ठउ हेट्टासुहु चक्कवइ रिण्जिय पडिपडभडविट्टि-पहाविहि ।
पल्लिय राब कुलुमंजिलिड्ढि एंदातरण्णु वहु संयुउ देवाहि ।

जलयुद्ध-

तहि विण्णिवि जरा ओयोरिय पडुणा घिल जलंजलि भायहु ।
विपलइ उण्णरि मेहुमेहे संं संबाडणि हियइरि-रायहु ।
कडियलि धावंति सुंदराकु वीसइ तारालि मंवरसु ।
आहसिवि पुण्णु भरहहु विंमुक्कं रांवात्तण्णं पुषजलभलनक ।
पच्छाइउ चउविसु ताइ एउ अचलइ जिरुकिरिउं एं तिलोउ ।

घस्ता— सोसु पुण्णु भुगंत वल्लु अरवर-वारि-पवाहें सित्तउ ।
पडि-ओसारियउ पुहवीक्का एण्णं करिडु करिउं जित्तउ ।
तओ भुअ भंडलि भायः लय एरिव सिरोमणि घट्ट-पयण ।
कुलीन कुकारणि माण-महल्ल पहाण महाजल
विण्णिवि मल्ल ।

मिलंति मिलिपिया हल्लि अरंति-अरेपिया वेह वडेवि पडंति ।
कुअरें राउ समुअरिउ उण्णयसिधंविणी-सेवियकंदर ।
कअ-इच्छा-कोउहलेण कि पुंरंदरेण गिरि मंवर ।
परिपालिय-सयल-वसु अरेण ता चित्तिउ चक्क सुकंधरेण ।
जम-दाहा-वलपह अण्णुहरंतु उद्धाइउ चंचलु विण्णुरंतु ।
रविबिबेण थ जिय-विज्रम-वेउ तें परिअंविउ बाहुवलिबेउ ।
विउ वाहिण-भुअ बंडहु समीउ को एहुउ किर शियकुल-पईउ ।

घस्ता— विभिउ भरहएराहिवइ बाहुवलीसु जगेण पसंसिउ ।
वधएण भाउ सुरभुविकरुहि पुक्कवंत-वंत्तिहि एं पडसिउ ।

में विचारा कोरप से ही मूर्ख हूँ। जर्म से रुखा मैं मनुष्य रूप में धूमता हूँ। महापुराण अत्यन्त दुर्गम होता है कुडूप (एक छोटा, अनाज मापने का पात्र) से समुद्र कीन मापता है। अमर असुर और गुरुजनों के लिए मुन्दर मुनिगणधरों ने जिस महापुराण की रचना की है, मैं भी भक्ति के दबाव से उसे कहता हूँ, क्या आकाश में अमर के द्वारा भ्रमण नहीं किया जाता। यह विनय मैंने सज्जनों के प्रति की है, दुर्जनों के मुख पर स्याही की बूँदों हो। धत्ता-दुर्नय करने वाला सारहीन खल घर घर भूमि, परोक्ष में वह क्या कहता है ? जो मैंने भी छोटा बोलने वाले खल को मुक्त कर दिया। यह जिस दोष को देखता है, उसे ग्रहण करे। तब प्रसिद्ध राजा भरत ने कहा, तस्या सूयं की तरह तेजस्वी प्रचंड बाधु की तरह वेग वाला यह चक्र ठहर क्यों मगा ? यह मुनकर पुरोहित ने कहा, किस कारण इसका गति-प्रसार अचञ्छ हो गया उसे मैं कहता हूँ-हे परमेश्वर देव देव भरतेश्वर ! उसे मुनिः। जिनकी कीर्ति सभित और जनमात्रा सहायक है। ऐसे तुम्हारे भाइयों का प्रसिद्धिहीन कौन है ? वे कर-भार नहीं देते व्यर्थ धरती का उपभोग करते हैं, आज भी वे जिस वारण्य जीते नहीं जा सके, इसलिए वह चक्र नगरों में प्रवेश नहीं करता।

धत्ता-रति का स्वामी परमेश्वर इक्षु के धनुषवाला, धरती का हरण करने वाला, युद्ध जिसका परिकर है, ऐसा तनकमल के समान मुखवाला, ऋषभपुत्र (बाहुबलि) भुवन के उद्धार में धुरंधर है। दुरितों का नाश करने वाले महेश ऋषभ ने नगर और देश की सीमा से युक्त, जो दिया है, बल का नूषण, वह मेरा लिखित शासन है, मेरे प्रभुत्व का कौन हरण करता है ? सिंह के अयाल, श्रेष्ठ सती के स्तन, सुभट की शरण और मेरे धरतीतल को जो हाथ से छुता है, उसके लिए मैं कैसा हूँ जैसे वृतांत और कालानल। भरत मेरे भुजा के भार का हरण क्या करेगा ? वह तभी नच सकता है जब जिनवर की याद करता है। उसकी धरती और मेरा पोदन नगर, आदि जिनेन्द्र के द्वारा दिया गया है। यदि वह स्वीकार किए को नहीं मानता तो लड़ता हुआ आग बने ज्वाला में पड़ा हुआ है।

बूड़ा सियार शिव शब्द कहता है, इससे मुझे हसी आती है। जो बलवान् और है, वह राजा होता है, निर्बल को और निर्बल बनाया जाता है, पशु के द्वारा पशु के मांस का हरण किमा जाता है और मनुष्य के द्वारा मनुष्य का धन। रक्षा की आकांक्षा के नाम पर झुंड बनाया जाता है, और वे एक की आज्ञा लेकर निवास करते हैं। तीनों लोकों में देख लिया, सिद्धों का झुंड नहीं देखा जाता। मज्ज-भंग होने पर मज्ज जाना

अच्छा, जीवित रहना अच्छा नहीं,—“हे दूत, मुझे यह बहुत अच्छा लगता है। भाई आए, मैं उसे बात दूंगा, और संघ्याराग की तरह एक पल में ध्वस्त कर दूंगा।” दूत का प्रतिवेदन—“हे देव (भरत) ! बाहुबलि नरेश्वर आप से स्नेह नहीं जोड़ता, और पर तीर जोड़ता है। अपना काम नहीं बाँधता, परिकर बाँधता है। संघि नहीं चाहता, युद्ध चाहता है। तुम्हें नहीं देखता, अपने बाहुबल को देखता है। आज्ञा नहीं पालता, अपना छल पालता है।

वह मान नहीं छोड़ता, भय रूत छोड़ता है। दैव की चिंता नहीं करता, पीरूप की चिंता करता है। शान्ति को नहीं मानता, युद्धकलह को मानता है। धरती नहीं देता, वाणाललि देता है। वत्ता:—रांता कुलक्रम गुरु का कड़ा क्षावधर्म वह नहीं सम्भता, मर्वादाविहीन तथा अमर्ष से भरा हुआ अवश्य वह समोत्री युद्ध करेगा। संघ्याराग की जो आम घुम रही थी उसे ताम रूपी जल की लहरों ने शान्त कर दिया। संघ्याराग रूपी केशर की जो आवांका की गई थी उसे अंधकार रूपी गजराज ने उलाड़ दिया। चन्द्ररूपी सिंह ने अन्धकाररूपी गज को भगा दिया, क्या जाने वही उसी में लग गया। वत्ता:—गंगानदी हंसों के पक्षदल, प्रिय से विरहिताश्रों के कपोल, चन्द्रकिरणोंसे प्रक्षालित होकर धवल से और धवलतर हो गए।

द्वंद्व युद्ध—कषाय से भरे हुए, वे पास पहुँचे दोनों ने एक दूसरे को देखा।

जलयुद्ध = तब (सरोवर में): दोनों भाई उतरे प्रभु (भरत) ने भाई के ऊपर जलाजलि छोड़ी। वह ऐसी शोभित होती है मानो हिमालय के कटिबंध के ऊपर मंदाकिनी शोभित हो। उस मुन्दर के कटितल पर दौड़ती हुई जलधारा मंदराचल पर:तारावली की तरह दिखाई देती है। झूठ होकर, तब नंदातनय (बाहुबलि) ने भारी जलधारा भरत के ऊपर छोड़ी। उसने पारों ओर से राजा को आच्छादित कर लिया मानो जिवेन्द्र की कीर्ति ने तीनों लोकों का धवल कर दिया हो। वत्ता:—सिंह बुनते हुए और छल छोड़ते हुए, सरोवर के प्रवाह से सीधे गए पृथ्वीपति (भरत) को हटा दिया गया, मानो करीन्द्र ने करीन्द्र को जीत लिया हो।

उस समय जो नरेन्द्र शिरोमंथे हैं और जो पीर रगड़ रहे हैं, ऐसे दोनों भाई पृथ्वी के लिए बाहु-युद्ध में लग गए। दोनों कुलीन और मान से श्रेष्ठ थे, दोनों मुहाबल वाले प्रधान मल्ल थे। दोनों मिलते हैं, मिलकर हाथ पकड़ते हैं। बकड़कर देह से वेकू सटा कर गिरते हैं।

कुमार ने राजा को उठा लिया, मानो इच्छा और कुतुहल करने वाले रुद्र ने नागवनिताओं से सेवित। मंदराचल पहाड़ को उठा लिया हो। जिसने समस्त धरती का परिपालन किया है, ऐसे अण्डे कंबेवाले भरत ने चक्र का ध्यान किया। यम भी दाड़ों का अनुकरण करने वाला तमतमाता हुआ चंचल चक्र दौड़ा। सिंहोंने विषम वेग को जीतने वाले बाहुबलि देव की, सूर्यविम्ब की तरफ पदक्षिणा की और वह दाएं भुजदंड के पास स्थित हो, गया। अपने कुल का प्रदीप यह कौन है ?

घन्ता—भरत नराधिप अकित उह गया। विश्व ने बाहुबलि की प्रशंसा की। देवताओं के द्वारा मुक्त पुण्यों से आकाशमाग हंसने लगा।

—

७. धनपाल (भविसयत्त कहा तीसरी संधि)

अविध्यवत्त की स्वर्गद्वीप यात्रा

पराविधि चंद्रपुत्र परमगुरु विद्ः सम्मत्तो करिदि मय्यु ।

पुय्यु कहमि जेम किञ्च गयउरहो भविसि बोचंतरगमय्यु ।

यल्लिय कमलमहासिरिदेवि धग्गावइ थिउ पडिबन्धु करेवि ।

अवगण्णिवि सुहितज्जणवयसोः मोकल्लिवि

सुवप्यमणिरधरसई ।

सियस्यवियणायारपइत्तहो मग्गवि लइय धीय अण्यत्तहो ।

दिहि विवाहमंगल उणोसिय सुहेत्तज्जणजणमणि परिघासिय ।

वियपरियणपरिचारत्तएहि किञ्च सम्माणकास्य एरएणाहि ।

पुरि पउरालंकारि भएणाथिउ तणुजोन्नु तुमुहणु गणाविउ ।

पयइ विधिहकम्मंतरि लाइय वींगिय कडुं कइय एराइय ।

एउत्तोरएमंगलजलकलसिहि अइत्तवसत्तपुरकयघोसहि ।

वियदंदिणजयजयमाहपे किञ्च विवाहु भविसत्तहो जप्पे ।

घन्ता— दंडिसंखत्तुरकाहुलरवेण रहसि गरउर गहगहइ ।

हरियत्तहो परियणि एएरणउ कमल कलंकु मणिव्वहइ ॥१०॥

परिणिय सा धरायत्तहो धूप गन्धैस्तरि नामेण सख्य ।
 पुष्पिमईदं दससिखयणी दंतपंतिमहपहसिखयणी ।
 सयलकलाकलावसंपुष्पी अहिराकनखिद्य नाई अचइष्पी ।
 बालमराललीलनग्नगामिणि सा क्रिय शिष्यपरिधारहो सामिणि ।
 पियवत्त्वह जणमण्यु बुल्लात्तइ सुभ्रहिए शिष्यपरिपण्यु परिपालइ ।
 पियपइहरही रोहं बट्टावइ कमलङ्गि पइपरिह्ववडुह दावइ ।
 नियसोहणु भोगु संपालइ चिरहकवग्नि अग्नि पञ्जालइ ।
 जिरणमंबिरि बसुइ सिगारि परिमिषपउरजुवइ परिवारि ।

धत्ता अहिमारामरहविसहगइ अहिरावन्त्रिसोहगजुव ।
 रणररणं दिति पंकयसिरिहि भमइ शयरि धरायत्तमुवं ॥२॥
 परिणिय पियवयसिहि जण्यु रंजः) राहु विचित्तगुरोहि अण्युहंमइ ।
 नाराइ पियसुह सुह्वामोहण्यु मणि चित्तिउ सइ मुरयारोहण्यु ।
 तलिलइ ईसि ईसि धवकं डण्यु अङ्गकयोलकंठउडरखंडण्यु ।
 भुहसिखकारकणिरउरकंपण्यु सरहणु सलीलरमणसमण्यु ।
 करुहपंतिमुलवपरिउंवण्यु परणयगीसमयरोसनिहंभण्यु ।
 वीणालावशिणेयपरिखलण्यु कुडिणविपारि सरोसनिरिखलण्यु ।
 दिअपहरपडिपहरपडिच्छण्यु अलण्णाहपडिगाहसमिच्छण्यु ।
 विवभमभावफुरिय अहरेकलण्यु मंकरायधहुरायधियकलण्यु ।
 पियपरिहासवासविहडावण्यु मयणुण्णकोवणंमुपयडावण्यु ।
 बंधकरणादावारवियंभण्यु सुहकरफेनसमयरसवंभण्यु ।

धत्ता धरावइवि कामभोगंतरीउ ताहि णाणु मणि यरइ ।
 पियययणकमलमयरंदरसु पंकइ रमरु जेम सरइ ॥३॥
 ताहं विहिमि गंजोल्लियगतहं हिइइच्छियविसासमारणंतहं ।
 रइरसवसवाधारविसोणं केणधि कूरगहसंजोणं ।
 गन्धैस्तरिहि गन्धु संपञ्जइ दुक्कियहुक्कनिहाणु व रण्जइ ।
 जिम जिम रिउ सोशियजलु बंधइ तेम तिम नणि रणररणं विधंभइ ।
 जिम जिम अउरंगइ अउरसइ तिम तिम खामोयह विद्धंत्तइ ।

जिम जिम गडभु लेइ सध्वंगई तिम तिम भंजइ तिवलि तरंगई ।
एवंतरि मुहिवंधवलोएँ अंहितिविचयफलमंगलतोएँ ।
मुत्तुप्पन्नु सयणु परिओसिह्ण बंधुयत्तु पिय खाणं पयासिउ ।

घत्ता परिपालिउ त्वालिउ यद्धुकिउ सअलकलाकलायकलिउ ।
कोलंतु जुवाणुभावि चडिउःपउरि महायसि बुल्ललिउ ॥४॥
समयवणिएजुवाणसयपरिमेउ परिबडिद्वयपयावमुहकम्मिउ ।
राउलि उष्णमाणु धणयत्तु एवजोयवणगुणहवसइत्तउ ।
भमइ रायरि किल कोलागतउ विविहई वहु दुष्णयई करंतउ ।
विणय विहेय मुहिय संभाजइ कुडिलह्ण दप्पसाह्ण दरिसावइ ।
छंदाइत्तवयसि रइ मअइ मज्जत्तयइ मुअराइ अवगअइ ।
पडिसक्कइ मणि पडिसरि खासइ मयपरिमलकप्पुरि ।
पट्टणि मुत्तविमुत्तइ चाह्णइःदण्डुदुर तुरंग परिवाहइ ।
वरिावरकुलई सेय जंपावाः; पुरयणु रिणरवसेमु कंपावइ ।
परजुवदाँह परिसेक्कइ वंकाउ जपइ पहु पंगरिण समअवकाउ ।

घत्ता जोयवणवियारनिठभरमरिउ अचुत्तुअडसिगारमइ ।
संबोहिवि मुहिवंधवसयई संचल्लिउ कचरणपुहइ ॥५॥
दुष्किवि सहं जणरिण किउ मंतु मुरिउ ताय परिबडिद्वयतंतु ।
मइ तं कणयदीउ पइसिअउ अचछइ ताम एहु मुहसेवउ ।
तं रिणुसुरिणि परिबडिद्वमंतं करयणु वयसि विजु विहसंतं ।
तुडिँह चडिवि जइ तं किण किअइ वयणुवि नउ कराणु जंपिअइ ।
बोल्सहि पुत्त जेम अष्णागिणउं कि वणिउत्तहं मणु न पाणिउं ।
मुहियहि हिणउ राहि अक्खिउ परिमिउं थोउ थोउ जंपिअउ ।
अत्थु विदप्पइ विविहपपारिँह्ण वंचिवि करसअसंचारिँह्ण ।
अप्पुणु पक्खे भइ सलसिअउ अणहो चित्तु विचिनु लहेअउ ।
अप्पुणु अणु राहि दरिसिअउ अणहो तणउं परामरिसिअउ ।

घत्ता परकज्ज सुराणुवि पाउ सुणइ अप्पण कउअहो राउ चलइ ।
ए कलावइ केणवि रिणवहरिउ परहो अंग पइसिचि कलइ ॥६॥

अइकिलेसि जइ अर्थु विहभ्यइ किउसयियइइहं तेण समप्पइ ।
 अलिउइइ सुहभारणिएउत्तहि वेणयम्मगुहसुयपयित्तहि ।
 अण्णजम्भि पुव्वज्जिउ जं षणु तं म्पइ पुच्चंत्तु धरंगणु ।
 तं गिणुसुणिवि चिण्णउ पञ्चउत्तं तुहं सुतामि सप्पुरिसु महंतक ।
 परमह मणिए ए ठाइ तउ अंपिया कारीणहं कायरह मण्णियउ ।
 एउ कम्म परदीणवरामहं असररहं परिपीडियकायहं ।
 अह भुत्तहं सुलोमपरि भूयहं मुत्तमहुरहं पच्छभ्याविरुअहं ।
 जं वेसत्तणेण विटविज्जइ तेण काइं किविणत्थे किज्जइ ।
 भासरासयरपनुहउजवदारणेहि भेअणु वेइ मक्यसम्मसिहि ।
 मिसु करिवि हियवइ ताडिज्जइ कयविककयच्छलेण थंविज्जइ ।
 होइ अर्थु जो एण विहाणि तेण काइं बहुहुक्खणिएहारिण ।

८३। जं अत्तुत्तु तुलिवि भाउत्तइएण हो! जत्तहु आवाट्टेणउं ।
 तं षणु विलसंत वयंतहंमि सुहइइं चरियपसाहणउं ॥७॥
 तं गिणुसुणोवि अण्णइ वसितारउ मइं पडिबणु वयणु तुम्हारउ ।
 तुहं म करेहि किपि कयविककउ प्रच्छहि पउरमणिक समडवकउ ।
 अं सुह अण्णिकोवि पडिबवकहि विलसहि मण्णुअर्थु जिम सक्कहि ।
 तं गिणुसुणोवि पयंपइ रांदणु सज्जराज्जणणराणराणरांदणु ।
 गिणयववसायदाय उच्छत्तलहं अत्तुत्तु होइ माहणु महत्तलहं ।
 पियारि विडत्तु अर्थु विलसंतहं इयण विसि जसु कवणु जियंतहं ।
 अहथइ ताय काइं वित्तारि पुक्कविककयकम्महो अणुसारि ।
 एणहो बुद्धि उण्णजइ तेम होसइ पुव्वविहिउ जं जेम ।
 ति वयणिए धरणवइ संयासिउ सक्कउं सक्कइ मंतु पयासिउ ।
 वंअत्तु अण्णगोहियवट्टउ गिणयकासायदायसंधट्टउ ।
 लइ तं करउ किपि जं विहियउ होसइ पुव्वजम्भि जं लिहियउ ।

८४। पडिबज्जिउ तं पि सक्कइ सावि सुइरु वितति थिय ।
 कि सुंदरु किए सुंदरु लइय मण्णवावार किय ॥८॥
 तुरिउ मण्णसामणिग पयासिय सुइसत्तथथंभंत संनासिय ।

जासाविउ मुवालयारिदहो समह परिदिठउ सज्जणविबहो ।
 हट्टमग्गि कुलसीलसिणउत्तहं बोसण दिण्ण पुरउ वसिणउत्तहं ।
 चरलउ जो चरलइ कयविउजं बंधुअत्तु संचलित वसिणउजं ।
 साहुमाणि वसिणउत्तहं वाहइ अथणउ भंडुल्लइ संवाहइ ।
 तं सिमुणोवि पमायपउत्तहं कतिउ थो वविहववसिणउत्तहं ।
 अहु पुरजणमणस्यणारांदणु सेवह धणवइसेट्ठिहि रणंदणु ।
 पइसहं अतरु तरिवि सहुं आणं अवसि लच्छि होइ ववसाणं ।
 वसिणतणु रूह, रहसेण सभायण सज्जिय करहवसहमहिसह सय ।

घत्ता इत्तहि वि तेण धणवइमुइण। पइपरिहवमाणुव्वहरिण ।
 करकमलकयंजलि संपुट्टिवि भविसि धाउच्छिय जरणि ॥६॥
 माइ महल्लमहुज्जमविज्जे बंधुअत्तु संचलित वसिणउजं ।
 तेण समाणु मइं मि जाइव्वट। तं बोहित्थु तोरि लाइव्वउ ।
 वेसंतरपयामु भाणिव्वउ रिणअणुणहं पमाणु जाणिव्वउ ।
 दइआयत्तु जइ वि विलसिध्वज तो पुरिसि ववसाउ करिध्वउ ।
 तं सिमुणोवि सगग्गि रवयणी। अरुइ जणोरि जलहियणयणी ।
 हा इउ पुत्त काइं पइं जंपिउ। सिबिसंतरि वि रणाहिं महु जंपिउ ।
 एक अकारसि कुवियविप्यं दिण्ण अणंतु दाहु तउ अप्यं ।
 अण्णु वि पइं वेसंतरु जंतहो को महु सरणु हियइ पजजंतहो ।
 अण्णु वि तेण समउ तउ जंतहो रिणव्वइ अणु वि रणाहिं महु चित्तहो ।

घत्ता को जाणइ कण्णमहाविसइं अणु विणु बुम्मइमोहियइं ।
 समविसमसहावहिं अंतरइं बुद्धसवत्तिहि वोहियइं ॥१०॥
 एक्कुमिक्कु ववसाउ करंतहं जमसाहिट्ठिउ भंडु भरंतहं ।
 विहि पट्टिकूलु अम्ह पट्टिसवणइ अत्यहं छेउ करिवि को सक्कइ ।
 एवकदध्वअहिल्लासविचित्तइं को जाणइं दाइयहं चरित्तइं ।
 अउ सरुववुट्ठत्तणु भासइं बंधुअत्तु ससययणहिं वासइ ।
 तो तउ करइ अमंगलु जंतहो मूलु वि जाइ साहु चित्तंतहो ।
 अंपइ मामहु महुरलाणं जंगउ वत्तु पुत्त कमलाणं ।

अम्हं ऐरथ वसंतहो तेहउ को वि ए मित्तु पहागु ससोहउ ।
 यंयुअत्तु पुराजिअ सइसाउ राठलि सण्णनागु धरायत्तउ ।

पता जइ जणणिवसणवित्तवित्तमगइ जाइय मच्छरु मणि बहइ ।
 तो तुम्हं अम्हं सवणहमि बंदिबि कुलि परिहउ करइ ॥११॥
 भविसयत्तु विहमेविग् जंणइ तुम्हं नीरत्तरिण सगप्पइ ।
 अइयारि वामोहु ए किउजइ सववत्तजणि पोडत्तगु हिज्जइ ।
 अइणएण जणि पायर वुच्चइ अइअएण जइ लच्छिए मुच्चइ ।
 अइअएण वपुअहु पायइ अइविणए भोयणु वि ण भावइ ।
 अइअवि तिवरएणु विणासइ अइअरि सव्वहो गुणु णासइ ।
 जइ बवसाइ दाउ णउ दिज्जइ तो पायरहं मज्झि लज्जिअइ ।
 जइ सो कहव सवत्तिहि जायउ तोवि तायहो सरीरि संभूयउ ।
 एक्कुस रीरु जाउ बिहिभायहि तंहुं किर काइं रायवेयारहि ।
 अणु वि तंहि कुलसीसनिउत्तहं हंतिहि पंचसयइं वणिउत्तहं ।
 तोहि समाणु पंथि पवहंतहो केम करेसइ वोहु बहंतहो ।
 अणु वि अम्हं तेण समाणु किणि ण पुट्टविरोहविहाणु ।

पता मं माह चित्तु कायर करहि फुडु कम्मइं कम्महु कारणु ।
 कुडुइ जीयिअइ जेम णवि तेम अरकुडुइ नउ मरणु ॥१२॥
 ससमं सानि महंतरववणइं सुणिवि सुणिवि अणुमण्णिवि सवणइं ।
 णयविट्टुंतहेउ थिक्खायइं जंपिथि क्रियइं निरुत्तरवायइं ।
 एम करेवि समुच्चउ गोत्तहो भविरुं पढुक्कु पासि बधुयत्तहो ।
 सो थिक्खेवि तेण सकियत्थे अंभुत्थाणु कियइ परमत्थे ।
 विहउण्णउ विमुक्कांसमारि पज्जासइ बुहियपरिवारि ।
 अबियलविट्ठिपलोयणसीलि सव्वाअन्नरसमण्णियलीलि ।
 अमुणियकज्जायमणवियत्पि सथिणअथयण विण्ण माहत्पि ।
 तसुपअण्णपविहियपरिहासइ सुपरिोट्टवणायरियइं भासइ ।

पता पणवंसि करु करयलि धरिवि फुडुत्तुअवियउपट्टुत्तरिण ।
 सप्पाणु वाणु पेसणु करिवि बाणिकउ नेहनिरंतरिण ॥१३॥

ग्रहो बहद्द अक्षरिउ महंतक एण कज्जेण केण किउ संबह ।
 एणुवि हस्त्रियाघरि सम्माइवि वयणु वि कहमि एण करहि कयाइ वि ।
 भविसयत्तु पियवयणहि तज्जइ विणु कज्जे किर को पडिवन्नइ ।
 तुहुं परिपुण्णु अहिट्टियदव्वे पङ्कम्माएदाभणुगुणगव्वे ।
 अम्हई वरिणवरवरमाहप्पहो जंघिहं करिवि सेव तइ वप्पहो ।
 उज्जउ तुम्हतराजं आयणिवि शिकउ अम्हं चित्तु अणुमणिएवि ।
 सुट्ठु वि खरहं परिट्टियकायहं शिज्जइ किपि एणहि असहायहं ।
 जइ तुहुं ठाट्टु करतउ एहउ तेण । विमणिएजं एणिसवेहउ ।
 सविएणउ भणइं काइं किर वुच्चइ ओसह गुलियउ कासु एण रुचइ ।
 हउं सकियएणु अज्जु हउं वण्णं हउ परमस्वगुणिएहि सुं पुण्णउं ।
 सिज्जइ किणए खरहं कयउण्णइं होइ सवु परिवाडिए पुण्णहं ।
 पुर पउरालंकारसमणिएणउ पइं जल्लंत ताउ संचल्लिउ ।
 आसिगहणु महुं तउ अमिलंतहो । एयहि तउ एण विसउ चल्लंतहो ।

घत्ता संकेउ करिवि सुहंसंगरव रिणयणिएणिवयो वेवि गय ।
 आउच्चिद्वि सुहिवंघवसयण वेदिं परमसइभावरय ॥१४॥
 वंघुयत्तु गंजोल्लियगतउ रिणयणिएणिएरिहि कहइ सइसउ ।
 माए माए विदु कज्जु अहिट्टिउ भविसयत्तु महुं समउ परिट्टिउ ।
 जंपिवि गुणवोसइं सुहियंतक मज्जइं संचल्लिउ देसंतक ।
 तेण सहएणं सव्वइं कज्जइं महुं शिज्जंति अज्जु एारवन्नइं ।
 तं रिणुसोवि सरुवणं वुच्चइ अग्रहो सरलसहाउ एण मुच्चइ ।
 एह महंतु पुत्तु तउ अप्पहो साभिउं पउरवणहो माहप्पहो ।
 सहुं जएणिए मेहहो एणिसारिउः अच्चइ कडकइतु मणिए खारिउ ।

घत्ता जइ रंजिवि पणु रिण्मल्लगुणिएहिं जएणिवयणु हियवइ वरइ ।
 तो पणुरिवि कण्णमहाविसिएण अम्हं पडिपरिहउ करइ ॥१५॥
 आणं सहुं संकेउ एण किज्जइ पुण्णविकइइ हियय ण विज्जइ ।
 जाम ण चित्तंतरिण विरंभइ जाम ण पउरमहायणु भंभइ ।
 जाम ण खेह महातर भंजइ जाण ण मणु भूवालहो रंजइ ।

ताम उवाच कोवि चित्तिञ्जइ कलितस्वरहो मूलु छिद्विञ्जइ ।
 तेम करिञ्जहि मञ्जि सपुइहो जेम ण मिलइ पुणु वि णियविदहो ।
 तं संकेउ तेण मणि भाविउ थिउ सबिलवसु बयसु मउलाविउ ।
 माइ अण्डि तुम्ह जो यामहो जुहमि लीह तहु तणयहो णामहो ।
 मासु मरट्टु तामु दलवट्टमि रणगायरहो मञ्जि आबट्टमि ।
 करमि तेम परिवट्टियच्छायहो जेम ण मिलइ पुणु वि णियमायहो ।

धत्ता तं बयसु सुणिवि पुत्तहुतणउं हरेसिय अंधुभत्तजणणि ।
 सियकुसुमकयंजलि पिउ अबइ अणुभग्गि चंपइ धरणि ॥१६॥
 भविमु वि जिणयरपट्टिमउ लिचिंवि अहिंसिचिभि अचिन्नि परिपंथि वि ।
 विणयविहेउ पडिच्छियपेससु जणणिहि पुणु वि करइ संभाससु ।
 अंधु भरेवि गयसम्ममाणहो देहि आणु माइ पत्थाणहो ।
 अच्छिञ्जहि सुहंभाणु तमारवि । परिह्वत्तल्लु हियइ अबहारिवि ।
 समउ सरुवण सरुवु करिञ्जहि मं दुक्खयणवोसु पडिवज्जहि ।
 अणइच्छियइं हीति जिम दुक्खइं सहसा परिणयति तिह सोक्खइं ।
 सावि सिप्पि चंदणहो भरिपणु अहिणयकंक्खपत्ति करेपणु ।
 चंदणु कारिवि ययणु अबलोइवि दहितुक्खवलय सिरि संजोइवि ।

धत्ता संवरिवि हियउ लोयण लुहिवि दुक्खु दुक्खु मणि संभवइ ।
 जिणपडिम सेस करयलि करिवि पियपेसलवयणइं अबइ ॥१७॥
 अइरुहृदियधिरल्लियगत्ते णियसांदणु सिकलवइ पयत्ते ।
 पइं विणु मज्जु कालु अइदुसह : होसइ दिणु वि नाइं संघच्छर ।
 अज्जवि पुत्त निरारिउ बालु इणुविएस तुज्जु को कालु ।
 विदु होज्जहि उत्तमगुणवग्गहो नेक्खञ्जहि लच्छणु कुलमग्गहो ।
 होइ जुवाणभाउ सवियारउ असुणियकज्जाकज्जपयारउ ।
 अलतियमइहं पवट्टियमाणहु गयसइयहं इहवहं जुवाणहु ।
 बहु रइ वयणालाउ ण किञ्जइ अंपत्तिहु महियलु जोइज्जइ ।
 णयणइं हीति जुवाणहं मुद्धइं अरुणियवयणदंसणरसलुद्धइं ।

- घसा जोव्वणयियाररसवत्तपत्तरि णो सूरउ सो जेडियउ ।
 चलमम्मरावयहुत्तावएहि णो परत्तिमहि रा खंडियउ ॥१८॥
 पुरिसि पुरिसिस्वउ पालिव्वउ परधणु परकलत्तु राउ तिव्वउ ।
 तं थगु जं अविण्णसियथम्मं लभइ पुअविक्खयमुहकम्मं ।
 तं कलत्तु परिओसियत्तउ णं सुहिपाणिगहणि विट्ठत्तउ ।
 सियमणि जेण संक उप्पज्जइ; मरएत्ति थि रा कम्मु तं किज्जइ ।
 अण्णु थि मएमि पुत्त परवत्तं जइवि होहि परिपुण्ण महत्तं ।
 तएणितरल्लोयण एहि भावेउ पट्टसम्भारदाणधुरणवाचिउ ।
 तहिमि कालि अहइं सुमरिअहि एवकवार मुहंसाणु दिज्जहि ।
 परधणु पायभूति मण्णिज्जइं परकलत्तु मइं समउ मण्णिज्जहि ।
 जंपिज्जहि जणययएणंदणु जिण्णु तिसाल करिज्जहि थंडणु ।
- घसा जिण्णयम्मणु पुज्जमसंजमिण सुह तिव्वउ ममरायमणु ।
 रक्खिउ जिण्णसासएवेवएहि विट्ठिवि अवाहि अत्तु थणु ॥१९॥
 तो कुमारु संबलिउ तुरंतउ णं संकेयभूमि संपत्तउ ।
 अण्णित्तिहि सुहिसयपरिवरियउ थंधुयत्तु रायरहो एीत्तरियउ ।
 अण्णित्तिहि सहायसंजुत्तहं थानेयइं पंचत्तयइं वणिउत्तहं ।
 अण्णित्तिहि कलयलसंगट्टइं एव्हवसहवाहणइं पयट्टइं ।
 अण्णित्तिहि दिअपीडियचोत्तए उक्खित्तइं भंडइं अहुमोत्तइं ।
 अण्णित्तिहि वरियवरवत्तिउ; पियमुहमुहंसाणु अलहत्तिउ ।
 उम्माहउ एणरणाउ वहत्तिउ; पुणु पुणु पियमुहकमत्तु नियंतउ ।
 विरह्ठवग्गिभुलुक्खियकायउ नियनियपइ अणुअचिवि आयउ ।
 उम्मुहमुहकमत्तउ उहंठउ कउत्तलजललवमइलियमंडउ ।
- घसा नियपइपिम्मपरट्ठवत्तिहि अहिअवजोवराइत्तिर्याहि ।
 उप्पायउ कामु न रुठुणहउ जुआइहि सामु मुवंत्तिर्याहि ॥२०॥
 घरावइ नियनंज्जणइ समप्पइ जउरहो पियपेत्तलइं पयंपइ ।
 अहो वणिउत्तहो तहो गुणगाणउ जो रायविरायपरत्तकमत्तारउ ।
 डूरविण्णवणिज्जवियडुहं चाइराइपडिवाइगुणडुहं ।

विनिवि सुव तुम्हहं निवलेखउ आयहं च्छनु लव्यहं धिबलेखउ ।
 जो जहं वेति पहाउ नरिदहो तां तहं देखिदि समुहृत्विदहो ।
 तह मंतिणइं करेवि सुपुजइं दर्भिमिधि पियपःहृत्तं अउव्वइं ।
 चोरइ चरइं अणुजनु अवेवकइं अढभोहयसहोउचाएवकइं ।
 सव्वइं वंछिउजहो अयलोइवि वंफणमइह अवंचिय होइवि ।

घत्ता अइवह सम्माणयाणु करिवि तंपेवेद्य संपुटिचि कर ।
 चडुलंगपुरंगिहि आरुहिचि संचलितिय सुन्दर कुम्बर ॥२१॥
 अग्नेयदिसइं मत्तंति जंति कुरुजंमलु महिमंडलु मुअंति ।
 लंघंति वियणकारण पलंब पुरगामखेडकव्वडमडंब ।
 जउरणइसलितु समुलरेवि जलहुग्गइं अलहुग्गइं तरेवि ।
 अन्नवेत्तभासइं नियंत रयणायरेः जेलाउतइं पत्त ।
 लविलउ समुदु जललवगहीरु स्पुत्तिमु व धिर गंभीरु धीरु ।
 आसीविसोव्व दिसविसममीनु केनामहल्लकल्लोललो ।
 विट्टइं विजलइं वेलाउलाइं कयणिकय रयवयणाउलाइं ।
 धम्मात्थकामकंसिरमुहाइं मुअिक्खुःवयणविलयामुहाइं ।
 तहि आइवि जलजंतइं कियाइं पोरहरिवि वसहमहिसयसथाइं ।
 जलजंताकम्मंतउ करेवि करणइं पियवयणाहिं संवरेवि ।
 वहराहिं आरुढ महापहारा वणिन्नरहं सथइं पंचेहि समाण ।

घत्ता रिणउजावयवयुज्जुअमुहइं किल्लव्यइं एं एं अउइं ।
 संवल्लइं रयणायरहो जलि अरमवराहायधयवडइं ॥२२॥
 विड बंधइं जिह मल्लरगणाइं रिफलोहइं जिह मुणिवरमणाइं ।
 णिदिभण्णइं जिह सज्जणहिंयाइंःप्रकियत्थइं जिह दुज्जणकियाइं ।
 वहरणइं वरुंति जलहरउदि दुत्तारे अत्थाहिं महासमुदि ।
 लंघंतइं दीर्घंतरधलइं पियवति भिविहकोऊहलाइं ।
 इय सीलइं अचंचंताहं ताहं उच्छइंइत्तिविककमपराहं ।
 बुप्पवएणं धएतद्वरसमीमे वहरणः। लग्गइं मयणापदीवे ।

काल्लोलबोलजलरश्ममाले ! असगाहगाहगहृणंतराले !
तीरंतरं जं संघट्टं पीय उत्तरिण्य तरिभ्रतव पमुहलोय ।

पत्ता सो दिट्टु तेहि भयणायनिनिःणयणालोयमुहावणउ ।
दुल्लंघु दुसंघरु दुरगमु नं गियारु महिलहंतणउ ॥२३॥
तहि घणतरुसमीचि मयणायदीधि हिंइति ते वरिणइ ।
दूरुकिभयपमाय परिभुक्कच्चयत्तवकतियगीहविइ ।
किवि जलु आहरंति कुंभइं भरंति आवति सं जि लेवि ।
फलतरु चुरांति सध्वइं सुगंति कुमुमइं खुडेवि ।
किवि मेल्लिवि संघुयत्तु तोःभविसयत्तु पइसरइ तं अरभू
तरलतमालनालीमालूरुमाल्लालइंदुमरवत्तु ।
पिक्खइं कंहिंमि ताइं पंकयरुःराइं समवत्ततोहियाइं ।
कत्थइं पाणियाइं अयमाणियाइं करिजूहडोहियाइं ।
कत्थइं रिण्भरुःराइं पडिरवणाराइं जलरेणुपुत्तियाइं ।
वरत गुकुमुमगंधपरिमलमुयंभमवरंदमीसियाइं ।
कत्थइं मणहराइं किसलयहृःराइं दलवहलपल्लाइं ।
कत्थइं मुहरुसाइं चितियवसाइं करगिण्भवरकलाइं ।
कुमुमइं उक्खिणंतु मेइणिं मेमणंतु सत्तरइ एम जाम ।
ता बोहिंथवाल निज्जियरुणाल संमिलिय सयल ताम ।
जंपइ संघुयत्तु कट्टइयणत्तु वि सयल इत्थु आय ।
जोइधि कइइं को वि अज्ज वि रा कोविच्छुत्तु णत्थि तुम्ह भाय ।
तं मुणिवि तेण बहुमच्छरेण वावरिउ अइरउइदु ।
अवल्लोइउ सरेण कइअमसरेण तज्जिवि रिणय्यविदु ।

पत्ता याएत्तिउ भिउडिमसंकरिण उच्चलहो मुमगरघणइं ।
तंइवहो पवणधयवडइं खण्णिवि म धरहु पमोहरणइं ॥२४॥
अहो लीयहो मह आएस मागुंधेरि अत्थि किपि माणाहिमाणु ।
न करिच्चउ इत्थु वियारु को धि सचलंहु तुरिय बोहिंथ लेवि ।

तं सुगिबि लेवि कतुराड सुभोस करणल मलंति विहरंति सीस ।
 हा वंभुयल पई काई वृत् सपुंरिसहं कहिमि रा एउ जुत्तु ।
 उण्णणु षड बि परिहउ गहोर षाड्जइ तो वि ष नियसरोह ।
 इह रतिपरत्तिबि अहिषदोसु त्रिसुंत्तवठ कह दुखयरणधोसु ।
 तं षयण सुगिबि कोवगिदित्तु पज्जलित्तु शाई हवि विण्ण सित्तु ।
 णवि मुण्हं सवत्तिविरोह अम्मह अण्णिवत्तहं को आवाह मुम्ह ।
 लइ करह ताम जलजलकम्मु पच्छड चित्तिज्जह परमधम्मु ।

घत्ता तं षयणु सुगिबि रणायरणणह नं सीरे वज्जवड्डु पड्डित्तु ।
 दोहिल्लवइ लेवि दुरासि खलु गहिरमहासमुदि चड्डित्तु ॥२५॥
 पमुक्के कुमारे दुराधारिणहि अमोहे जलोहे बहतेहि तेहि ।
 थियं विनियं तं वणिदाल विइं विण्णपाउरं करयलुगिण्णमुइं ।
 अहो नुं वरं होइ एयं रा कज्जं अगम्मं पि गंतूण खट्टं अखज्ज ।
 गयं रिण्णकलं ताम सव्वं वणिज्जं हराअम्मह गोत्तम्मि लज्जावणिज्जं ।
 रा जत्ता ण वित्तं ण मित्तं ण गेहं रा वम्मं रा कम्मं रा जीयं ण वेहं ।
 रा पुत्तं कलत्तं रा इट्ठं पि विट्ठं गयं गयउरे वूरवेसे पड्डुं ।
 लयं जाइ नूणं अहम्मैण धम्मं विण्णुं ण धम्मैण सव्वं अकम्मं ।
 कयं बुक्कियं दोहएणं हएणं मुहायाअम्महं एण दुट्ठेण एणं ।
 अणिट्ठं कणिट्ठं भुअं सण्णहाणं समुं रउदे लयं तुम्हं जायं ।

घत्ता सो एण्णिय विसूरित्तु जेण एणवि तं भिक्खेविणु दुच्चरित्तु ।
 धरावइ वि एणरोहायामुगउ इत्थु विक्खि विभयभरित्तु ॥२६॥



धनपाल : भविस्यत्त कहा (तीसरी संधि)

[परमगुरु चन्द्र प्रभु को नमस्कार कर तथा सम्बन्धनों में मन पक्का कर, विश्वय से मैं कहता हूँ जिस प्रकार कि भविष्यदत्त ने हस्तिनापुर से द्वीपांतर के लिए, समन किया। धनपति ने कमलाश्री महादेवी का परिस्थान कर दिया और प्रतिबंध करके रहने लगा। सुधियों और मजदूरों के बचनों की व्यवहारा कर, स्वर्ण मणि और रत्न लेकर, अपने नद और विनयाचार में प्रवृत्त धनदत्त की कन्या, उसमें मांग कर ले ली।

। श्रीर ने उसने विवाह मंगल की घोषणा कर दी, सुधी और राजजन लोग मन में मनुष्य हुए। अपने परिवारों और परिवार के स्वामी राजा ने उनका सम्मानदान किया। प्रचुर धर्मकारो वाले उस नगर में लक्ष्य का दोष बटा दिया गया, शुभ मुहूर्त निकाल लिया गया। प्रजा को विविध कामों में लगा दिया गया। सबे स्थापित कर दिए गए, और तीराजना की गई। उससे के तीरणों मंगल जब कलशियों श्रद्धा (वाय विशेष) जंग धूपों 'हार' किए गए घोषों, द्विजों और बंदियों के अवलम सार के माहात्म्य के साथ, भविस्यत्त के पिता ने विवाह कर लिया।

धत्ता—द्वि (वाय विशेष), बांसा हूँ और काहल के सबों और धनदत्त से हस्तिनापुर काट कर भूम उठता है।

हरिपत्त के परिवारों में निराशा ला जाती है कमलाश्री दमे अपने मन में सांख्य समझती है।

2 धनदत्त को स्वरूपवती नाम की उस सर्वेश्वरी कन्या से धनपति ने विवाह कर लिया, जो वृषिणा के श्रेष्ठ सुन्दर चन्द्र के समान मुखवाली थी। दांतों को पक्कि की प्रभा से हूँगमूख संपूर्ण कला कलाओं में दश बह, पैली मगनी धो जेग अभिनव लक्ष्मी अकतरित हुई हो। अल हूँगे की धीला गति से चलने वाली, उमें उसने अपने परिवार की स्वामिनी बना दिया। वह, प्रिय पति और लोगों के मन को प्रसन्न रखती है, और परिवारों का अच्छी तरह पालन करती है। प्रिय और पिता के घरों में स्नेह बढ़ाती है तथा कमलाश्री के लिए पति के पत्रपत्र का दुख दिखाती है। अपने विभाग्य और योग वा पालन करती है और (कनलाश्री) के घरों में विरह दावाभि अवताती है। सीमित पीर युवतियों के परिवार के साथ गुंमार-पूर्वक (मजदूरकर) जित मंकि जाती है।

धृता - अभिमान और अहंकार से विभिन्न गति वाली वह अस्मिन्क भी और सौभाग्य से युक्त थी। कमलाक्षी में उद्देग पैदा करती हुई, पतयत्नी की पुत्री स्वरूपवती तमर में धूमती है! ॥ 2 ॥

3 नीकर पाकरों में लीनों को प्रिय शब्दों से अनुरंजन करती है तथा विचित्र गुणों से स्थायी को प्रसन्न रखती है। प्रिय मुखवाली वह, मतचाहे सुख के बिस्तार और स्वयं सुरति के आरोहण भी ज्ञानती है, लीलापूर्वक धीरे-धीरे घालिगन करना, अथरों, गाल, कंठ और डर का खण्डन करना, मुंह के सी सी शब्द से उर का कंपन, तथा हृदयपूर्वक लीला के लिए समर्पण, अंगुलियों और पुलक से परिभूषण, प्रणयक्रोप और मदकोप का निरोध, बीणा बजाने वाली के गेय का मरीक्षण, कुटिल विकार में क्रोध पूर्वक देखना, दिए गए प्रहार और प्रति प्रहार को चाहना, कैशों को पकड़ और प्रतिपकड़ की बार बार छुछा करना, भय के भाव से अक्षरों और दृष्टि का कंपन जाना, मंदराग और बहुराग में विचक्षण होना, प्रिय के परिहास के संस्कारों को विषटित करना, शरीर से काम के प्रकोप को प्रगट करना, ब्रधकरण व्यापार, विजृंभण और शुभकरों के स्पर्श के समग्र, रस का स्वंभन, (यह जानती है)।

पद्या--कामभोग में हुना हुआ जनपति भी लुकी के मात को मन में धारण करता है। प्रिया के मुख रूपी कमल बे:पराग रस के पास वैसे ही जाता है, जैसे अमर कमल के पास ॥ 3 ॥

4 दोनों के शरीर सुलभित थे, दोनों मनुष्यों क्लितियों का उपभोग कर रहे थे, रतिरस के अधीन व्यापार विनोद से विली दुष्ट ग्रह के संयोग के कारण सर्ववपरी स्वरूपवती के गर्भ रह जाता है जो पदों के सुख के निशाम की तरह जात होता है। जन् (गर्भस्थ शिशु) शिख जिय तरुह, रक्त जल को संश्लि करता है, जैसे जैसे मन में उद्देग अहता जाता है। जैसे-2 अरके चारों अंग चारों भागों में फैलते हैं, जैसे जैसे दुधली पदली वह स्वस्त (बीमार) होने लगती है। जैसे-जैसे शरीर में गर्भ अयत्न है, जैसे-जैसे अक्षी शिखली अम होनि लगती है। अक्षी अतराच में पूज अयत्न हुआ। स्वजन प्रसन्न हुए। अमश जल से फल की अस्मिन्कित करकेताने सुधी संशुचनों ने अस्मिन्क नाम संशुदक्ष अस्मिन्कित किया।

पद्या--उसे काला पोसा यसर, दुःखदा सदा, अक्षी किला यसर, समस्त कला समूह से युक्त बनाया गया। खिलता दुःख कह सुख ही अक्षी। यह और महाजनों का लडला था। मनु सम सय के निकली सुकेशों से अस्मिन्क

रहता था। उसके प्रताप और युग कर्मों में, बृद्धि हो रही थी। प्रसन्न धनपति राजकुल में सम्मानित हुआ। नवजीवन गुण और रूप से प्रसन्न यंधुवत क्रीडा में भासकत होकर नगर में घूमता है। अनेक दुर्नय करता हुआ वह सज्जनों के लिए विनय विभेद बसाता और दुर्जनों के अहंकार का नाश दिखाता है। उच्छ्रूल नवनों में रति मानता, मध्यस्त्री और सज्जनों की उपेक्षा करता, प्रतिद्वेष मार्गों में क्लिबरा करता, कस्तूरी और कपूर से अपने को सुवासित करता; नगर की अच्छी बुरी बटनाओं को चाहता, वर्ष से उद्धत घोड़े पर घूमता। शीशकचरों के कुलों से सेवा करता, और अशेष नगरजनों को कौपा देता।

दूसरी युवतियों में बक्र चलता, रक्षा के आंगन में घमंड से बोलता।

घत्ता—जीवन के विकार से अत्यंत भरा हुआ, अत्यंत शृंगार की मति रखनेवाला वह सीकड़ों सहृदयों और वीजुजनों को समोहित करके स्वर्ण-द्वीप के लिए चला ॥ 5 ॥

6—मां के पास पहुँचकर उसने उसके साथ मंत्रणा की, और तुरंत, जिनको चित्त बड़ रही है, ऐसे पिता से बोला—मैं उस स्वर्णद्वीप में जाऊँगा, तब तक आता रहा सुखपूर्वक रहूँ। यह सुनकर जिनकी मंत्रणा बड़ी हुई है, ऐसे पिता ने हँसते हुए मुँह पर हथेली रखली, (और कहा)—किसी वृद्धि या कर्मा के कारण चाहे कैसे कर लिया जाए, परंतु कठोर यत्न नहीं बोलना चाहिए, हे पुत्र! तुम अज्ञानी की तरह बोल रहे हो, क्या तुम अज्ञानियों के मार्ग को नहीं जानते? मिर्ची ही भी अज्ञान दिल नहीं देता चाहिए, सीमित थोड़ा थोड़ा धैर्यना चाहिए। 'कर' के अपवंचन और बुद्धि के विभिन्न संचारों से धन बढ़ता है। अपने पक्ष में किसी पंडित से परामर्श करना चाहिए, दूसरों के विचित्र चित्त का पता लगाना चाहिए। अपना रहस्य नहीं बताना चाहिए, दूसरे के रहस्य के बारे में विचार करना चाहिए।

घत्ता—दूसरे के काम को सुनकर भी नहीं सुने। अपने काम से नहीं हटना चाहिए, किसी को भी अपना चरित्त म बताना, दूसरे के रहस्य को प्रवेश करके जान ले ॥ 6 ॥

7—यदि अस्वच्छिन्न लाभ से धन अर्जित होता है तो वह विद्वानों और विद्वानों के लिए छोड़ दिया जाय। शुभ ध्यान में नियुक्त और देव, शास्त्र गुरु की पूजा से पवित्र होकर, रहना चाहिए, (रहा जाए) दूसरे जन्म में पहले से अर्जित जी धन है वह पर का आंगन पुष्टता हुआ जाएगा!

यह सुनकर (बंभुदत्त ने) प्रति उत्तर दिया—आप महत्तर स्वामी और सज्जन पुरुष हैं। परंतु आपका बच्चा तबे मन में नहीं जमता। तुम्हारा कथन कन्यापुत्रों और कायरों के मन को ठीक लग सकता है। जो अर्थव्यवस्था, बेचारे, अर्पण और पीड़ित शरीर हैं, उनका यह काम है। (कि वे घर में धर्म का आचरण करते हुए रहें), अथवा जो धूर्त हैं, सुंदरशोक से पराभूत हैं, मुंह पर मीठा बोलने वाले छोटी पीठ पीछे बुग करने वाले हैं, (उनका यह काम है) अब वैश्वदेव से धन बढ़ता है तो फिर कृपयाता क्या ? (क्यों की जाए) ? आसन खयन आदि प्रमुख उपदानों और महत्तर सम्मानों से भोजन है, मित्र बना कर दिल पर चोट की जाए, क्रय विक्रय के छल से ठगा जाए, यदि इस प्रकार से धन बढ़ता है, तो अनेक दुःखों के निधान उस धन से क्या ?

पिता धर्मभाव (अतुल) संभव (तुलनीय) कर कमाए गए धन से पशु का आनाहन होता है, वह धन जीवन परंपरा रहता है, और मुग्धों के चरित्र का प्रसाधन होता है ॥ 7 ॥

8—यह सुनकर बशिष्ठ ने कहा—“मैंने तुम्हारा कथन स्वीकार किया। तुम कुछ भी क्रय विक्रय मत करो, नगर में गर्व के साथ रहो, किसी से अच्छा कहकर उसे जवाब मत दो, जितना हो सके, भेरे धन से उत्तरी मौज करो,” यह सुनकर पुत्र ने उत्तर दिया, “अपने व्यवसाय के दाय से जलसिद्ध महान् लोगों का अनुलनीय माहात्म्य होता है, पिता के कमाए धन पर मौज करने वालों की कौन श्री कीर्ति, और जीवन रहने पर कौन सा यश ? अथवा “हे पिता विस्ताउ मे क्या ? पूर्व जन्म में किए गए कर्म के अनुसार मनुष्य की बुद्धि होती है, यैसा ही होता है, जैसा पूर्व जन्म में विहित है।” इन शब्दों से धनपति मान गया और उसने स्वरूपवती को यह विचार बताया कि अपने व्यवसाय के दाय में लगा हुआ बंभुदत्त जो नहीं है उसे पाने के लिए कृत संकल्प है, इसलिए लो, वह करो जो पूर्वविहित है, पूर्वजन्म में जो लिखित है, कही होगी।

पिता स्वरूपवती ने भी उसे मान लिया, वह भी बहुत देर तक सोचती रही कि क्या अच्छा है, और क्या अच्छा नहीं है ? जो बंभुदत्त ने जाने की तयारी की ॥ 8 ॥

9—बीघ्र उसने जाने की सामग्री की संघषणा की। श्रुतियों और शास्त्रों के जानने वालों से संभावना किना। राजा भूपाल को जानकारी दी तथा सज्जन समूह के साथ बैठ। बाजार मार्ग में, कुल और शील से

मुक्त वणिक्पुत्रों के सामने नहें! मुनाही पिटवाई, किं कर्म विद्या (वैशिशिष्ट) के लिए जो चलना चाहता है, कहूँ चले, बंधुदत्त वाणिज्य के लिए जा रहा है। वणिक्पुत्रों को साधुमान की चाह ऐसी चाहिए, निश्चिंत दूसरों के यत्न साँफ़ करता है। यह मूल्य प्रमाद से रहित, थोड़े पैसे वाले वणिक्पुत्रों ने सोचा, "अरे, इम सेठ धनपति के नगर के जनों के मर्गों और नेत्रों को प्रानंद देने वाली पुत्र (बंधुदत्त) की सेवा करें। अतरणीय को तरने के लिए इसके साथ श्वशुर करें, अथवाय से अथवाय ही लक्ष्मी होगी।" वशिष्पुत्र भेग ने आगे, सैकड़ों बिल, ऊँट और भैंसे सज्जित कर दिए गए।

घटा—यहाँ भी धनपति के पुत्र अविश्वदेव ने पति के पराभव के मात को धारण करने वाली अगनी में (कगलाश्री) से करकमलों की अंजलि जोड़कर पूछा ॥ 9 ॥

10 हे मां! श्रेष्ठ और महान् उद्यम की विद्या वाले वाणिज्य के लिए, बंधुदत्त चला। उसके साथ मैं जाऊंगा, वह तीर पर जहाज लाएगा। देशांतर के प्रवास का आनंद लूँगा और अपने गुणों के प्रमाण को जानूँगा यथापि श्व से श्रायत्त धन ही विलोपित होगा है, फिर भी मनुष्य का श्व-साय करना चाहिए। यह सुनकर, आंगुष्ठों ने श्राद्धवचन या गद्गद् स्वर में बोली—हे पुत्र तुमने यह क्या कहा, जो मैंने स्वप्नांतर में भी नहीं कहा, एक तो अकारण कुपित श्रीः विप्रिय तुम्हारे गिता ने मुझे अन्त दाहू किया बतरे तुम्हारे विदेव जानेगर जलती हुई मेरे हृदय में किसकी शरण है? और भी, तुम्हारे उल्लेख साय जाने में मेरे चिंत की एक पल भी शांति नहीं मिलेगी।

घटा—प्रतिदिन दुर्मति से मोहित लोगों के महाविप से समविषय स्वभाव वाली दुष्ट सीत के द्वारा मग्न प्रोही बना दिए जाते हैं ॥ 10 ॥

11 एक साथ अथवाय करती हुए, समान रूप से संवृत किया गया घड़ा भरते हुए, विश्वात्ता हमारे प्रतिकूल जा सकता है, तब धन का बंटवारा कौन कर सकता है? एकमात्र द्रव्य की अभिलाषाओं से विविध सीतपुत्रों के चिंतों को कौन जानता है? यदि स्वरूपा दुष्ट कथन करती है और बंधुदत्त दुष्ट कथन को मान लेता है, तो जाते हुए तुम्हारा अंगमग्न करेगा, लोभ की चिंता करते हुए, मूल भी हाथ से जाएगा। माया ने भी मधुर रीति से कहा—हे पुत्र! कमला ने ठीक ही कहा है, हम लोगों के यहाँ रहते हुए, हमारा वैसा कोई मुख्य स्त्री और मित्र नहीं है। बंधुदत्त नगर के मध्य प्रवेश है और धनवत्त राजकुल में सम्मानित है।

धृत्ता—यदि भाँ के शब्दों के विषय से विषम गति वाला लक्षण मन में ईर्ष्या धारण करता है, तो वह तुरन्त ही, हमारा और स्वजनों को भी धोखा देकर कुल में पराभन करेगा । 11 ॥

12 भविष्यदत्त हंसकर कहता है 'आप लोगों ने भोखता के लिए स्वयं समर्पित कर दिया है। किसी चीज की प्रति में विवेक नहीं सोना चाहिए, सब वय बोलों में सवानापन छोड़ देना चाहिए। प्रति-नय से जन कायर कहलाता है। अत्यन्त डर से 'विजयनशर्मा' छोड़ देती है। अत्यन्त घमंड से व्यक्ति दर्प से उद्धत जाना जाता है, अधिक धी से भोजन भी अच्छा नहीं लगता। अधिक रूप में स्वीरत्न नाश की प्राप्ति होता है, अलिखार से सब का गुण नाश की प्राप्ति होता है। यदि व्यवसाय में अपना हिस्सा न दिया जाए, तो नागरिकों के बीच जजाना पड़ता है। यदि वह (बन्धुदत्त) किसी प्रकार रात से उत्पन्न हुआ भी है तो भी वह पिता के शरीर से उत्पन्न है। एक शरीर दो भागों में बँट गया है उसमें रात विराम से क्या? और भी, वहाँ पर कुल शील से परिपूर्ण पाँच सी वरिष्कपुत्र होंगे। उनके साथ पथ पर जाते हुए, दोष धारण करते हुए भी, वह मेरा क्या कर लेगा? और भी हमारा, उसके साथ किसी प्रकार का पूर्व विरोध-विधर्म नहीं है।

धृत्ता—हे गाँ तुम अपना मन कायर मत करो, कर्म ही कर्म के कारण होते हैं। जिस तरह जीवन समाप्त हो जाता है, उसी तरह मरण समाप्त नहीं होता, ऐसा नहीं है ॥ 12 ॥

13 मामा के लिए श्लेष्म और मङ्गलर जड़ों को मुनकर मुनकर तथा स्वजनों की मनाकर, विरुपात नय दृष्टान्त और हेतु कहकर, सबको भविष्यदत्त ने निरुत्तर कर दिया। इस प्रकार अपने पाप का संपह कर, भविष्यदत्त बन्धुदत्त के पास पहुँचा। उसे देखकर कुतार्थ होकर वह वास्तव में खडा हो गया। हडबड़ा कर श्रुं मष्ट से रहित, परिवार को धृच्छ करने वाले, अगलक दृष्टि से देखने वाले सभी श्रवसरो पर अपनी लोलाश्री का समर्पण करने वाले और आगमन के विकल्प को नहीं जानने वाले उसने बड़प्पन-आखरपुर्ण बचनों के साथ सामन दिया। जिसमें विरतुत और प्रच्छन्न हास्य निहित है, ऐसी नागरिक भाषा में :

धृत्ता—जै प्रसाम करते हैं। हाथ में हाथ लेकर, स्नेह से परिपूर्ण स्फुटतर विकट उत्तर-प्रत्युत्तर से सम्मान दान और सेवा करके बन्धुदत्त बोला ॥ 13 ॥

14 अरे बहुत बड़ा आश्चर्य है, आप किता कारण से आए। इस हरितनापुर नगरी में आकर भी किसी प्रकार कमी दाता नहीं करते हैं। भविष्यदत्त भिन्न वचनों में उसे डाँटा है कि शिवा काम के, कौन कहीं जाता है। तुम अधिष्ठित धन वाले और राजा के सम्मान, दान और गंध से परिपूर्ण हो। हम तुम्हारे पिता को, जो सेठ के बड़प्पन वाले हैं, जीविका के लिए सेवा करेंगे। तुम्हारा उद्यम को सुनकर और उसे मानकर हमने अपना मन किया है। इङ्क शरीर वालों (वस्तुतः दुःखीय वालों) के सब काम सिद्ध होते हैं, असहाय लोगों का कोई भी काम सिद्ध नहीं होता, तुम स्थिर होकर यह करो। उसने भी निस्संदेह उसे मान लिया। वह विनायपूर्यक कहता है दया को गोलि किये अच्छी नहीं लगती। मैं आज कृतार्थ हूँ, धन्य हूँ और परमार्थ के गुणों से परिपूर्ण हूँ। पुण्य करने वाले मनुष्यों का क्या सिद्ध नहीं होता? सब कुछ पुण्य की परिपाटी से होता है। नगर के पीरथंठों से मान्य तुम्हारे चलने से पिता ही चले (पिसा लगता है), तुम्हारे नहीं मिलने से मेरे लिए ग्रहण (अंधकार) था, तुम्हारे चलने पर अब उसका (अंधकार का) प्रकल ही नहीं है।

वत्ता—शुभसंग में लीन वे दोनों तंकेत करके अपने-अपने घर गए, परम सद्भाव से रत वे दोनों सुधियों शोधियों और स्वजननों से पूछने के लिए ॥ 14 ॥

15 पुलकित शरीर वाला बंधुदत्त प्रमुदित होकर अपनी यात्रा से कहता है, 'हे मां, आज हमारा काम श्रमका हो गया है, क्योंकि भविष्य दत्ता मेरे साथ चला। गुला दोषों और सहृदयों के अंतर को बता कर मेरे साथ यह विदेश चलने के लिए तैयार है। अब उसकी सहायता से मेरे सारे काम निरवच्छ रूप से सुलभ जायेंगे।' यह सुनकर मां स्वरूपवती ने कहा—'इसका सरल स्वभाव नहीं जाता। यह तुम्हारे धाप का बड़ा घंटा है। पोरधन और बड़प्पन का स्वामी है। लेकिन मा के साथ घर से निकाल दिया गया है इसलिए मन में क्षार खाकर धँटा हुआ है।

वत्ता—वदि वह निर्मल गुणों से राजा को प्रसन्न कर लेता है, और अपनी भाता के वचन मन में धारण करता है, तो कानों के महाधिप से आहत होकर, वह हमारा प्रतिपराभव करेगा ॥ 15 ॥

16 इसके साथ संकेत नहीं करना चाहिए, पूर्व विरोध होने पर, हृदय नहीं देना चाहिए। जब तक वह लोगों के भीतर प्रवेश नहीं करता, जब तक पीर महाजन उससे प्रभावित नहीं होते, जब तक रनेह का महावृक्ष

नष्ट नहीं होता, जब तक वह राजा भूपक को प्रसन्न नहीं करता, तब तक तुम्हें कोई उपाय करना चाहिए। कलश के महाबुध की जड़ ही काट देनी चाहिए। समुद्र के भीतर तुम्हें ऐसा कुछ करना चाहिए कि जिससे वह पुनः अपने समूह में न मिल सके। यह सकेत बंधुदत्त को मन में झुल्ला लगा, वह लज्जित हो गया और उसका मुँह अकुंचित हो गया। हे माँ, जो तुम्हारी स्थिरता के लिए कल्पित है मैं उसके नाम तक की रेखा मिटा देना। उसके मान और अहंकार को चूर कर दूँगा। उसे समुद्र में डुबा दूँगा। ऐसा कल्पना जिससे, परिवर्द्धिता कर्ति वाली अपनी माँ से वह न मिल सके !

पत्ता - पुत्र के उन बर्दों को मुनकर, कंडुवत्त की माँ हर्ष से पत्नी नहीं बसाई। श्वेत कुसुमों की अंजली लेकर वह उससे प्रिय बोलती है और उसके पीछे पीछे धरती चांपती है ॥ 16 ॥

17 भविष्यदत्त ने भी जिनेन्द्र की व्रंतिमा की सिचन, अधिन्विचन, अर्थात् प्रीर परिष्कना कर जिसमें विनय का विभेद है, जिसमें प्राज्ञा भाही गई है, ऐसा संभागण माँ से किया--हे माँ आलिंगन लेकर, जिसमें भारी सम्मान है ऐसे प्रस्थान का आदेश मुझें दो। तुम शुभ ध्यान धारण करके रहना। पराभव के घण्ट की अपने मन से दूर रखना। स्वल्पवती से सरल श्वेतहार करना। कटोप वचन कर्मां स्वीकार नहीं करना। जिस प्रकार दुख विगा चाहते होते हैं, उसी प्रकार मुख भी कषातक होते हैं। कमलाथी भी लदन की सोप भर कर, तथा सोने की अधिनव पांत बना कर, बंदना कर, मुख देखकर, दही, दूध और बावल शिर पर जगाकर (टीका कर)

पत्ता - अपने हृदय को धाम कर, आँसू पीछकर, दुख से अपने मन को तैयार करती है। जिनेन्द्र भगवान की प्रीतिमा हृथेली पर रखकर पुत्र से प्रिय और कोमल वचन कहती हैं ॥ 17 ॥

18 जिसमें वरीर उत्कण्ठित और आद्र है, ऐसे प्रयात्न से, वह अपने पुत्र को मिथा देनी है: तुम्हारे बिना मेरे लिए समय काटना मुस्किल होगा, एक दिन नाल की तरह बीतेगा। हे पुत्र, तुम यात्रा में गिरे बासक हो। दूर विदेश में जाने का, यह तुम्हारा कौन सा समय है? तुम खेच भूषण समूह में दड़ रहना, अपने कुल मार्ग की इज्जत बचाना। गौरव विकारों वाला होना है, वह कार्य अकार्य के प्रकार का विचार करनेवाला नहीं होता। जिनकी चंचला मति है, मान कहा हुआ है, जो दुर्भंग और पति बिहीन हैं, ऐसी सुवर्तियों से अधिक वातच्छेद और रति नहीं करना। महिचायों से बाध करते हुए धरती की ओर देखना चाहिए। युवाओं के मुग्ध नेत्र, युवतियों के मुखदर्शनरस के लोभी होने हैं।

घरा—शौचन विकार और रस की अस्वीयता के प्रसार में बड़ी दूर और पंडित है, जो चंचल कामदेव के बन्धनों को कहने वाली पर स्त्रियों से अज्ञित नहीं होता ॥ 18 ॥

19 आदमी को अपना पुण्यफल पानना चाहिए, दूसरे का धन और स्त्री नहीं लेना चाहिए। वही धन, धनाई, जो धर्म का नाश नहीं करते हुए, पूर्वजन्म में कृत पुण्य कर्म से प्राप्त किया जाता है। वह स्त्री शरीर को सन्तुष्ट करने वाली होती है जो पुण्य परिग्रहण के द्वारा प्राप्त की जाती है। जिस काम से अपने मन में संका हो, उसे मरते दम तक नहीं करना चाहिए। हे पुत्र परमार्थ भाव से मैं और कहती हूँ, जब तुम महाधन से परिपूर्ण हो जाओ, धुवती के चंचल नेत्रः स्त्री मणि से नृहीत और राजा के सम्मान दान और मुद्रों से गणित हो जाओ, तो उस समय तुम हम लोगों का स्मरण करना और एक बार अपना मुँह दिखा जाना। दूसरे के धन की पैरों की धूल सम्भ्रता, दूसरे की स्त्री की मेरे समान सम्भ्रता। लोगों के नेत्रों को जो आनन्द देने वाला हो ऐसा बोलना और जितेन्द्र भगवान् की तीन काल वंदना करना।

घता—जिनधर्म, गुणधर्म और संनध से तुम्हारा मनानामन सुख से सफल हो, जिन दासन की देवियां तुम्हारी रक्षा करें, तुम अतुल धन कमा कर आओ ॥ 19 ॥

20 तब कुमार तुरंत वहाँ से चला, और शीघ्र ही संकेत भूमि पर पहुँचा। दूसरी जगह यकड़ों सुधीजनों से भिन्न हुआ बहुधा अपने नगर से निकला। दूसरी जगह अपने सहायकों के साथ, पांच ही वशिष्क पुत्र चले। दूसरी जगह कल कल करते हुए उंटः शैल प्राधि वाहन चल पड़े। दूसरी जगह, जो कपड़े से मजबूत बंधे हुए हैं, ऐसे बहुमूल्य भांड उठा लिए गए। दूसरी जगह प्रियों के मुखदशन को नहीं पाने वालीं वशिष्कधरों की पत्नियां उन्माद में आकर निःस्वास् ले रही थीं, और अपने अपने पतियों का मुख देख रही थीं। जिनकी देह विरह की ज्वाला से दग्ध हो चुकी है, ऐसी वे अपने अपने पतियों का चूम कर वापस आ गईं। उनका मुरझाया हुआ मुखकमल उठा हुआ था, गाल काजल के जलकणों से सैल थे।

घरा—अपने पतियों के प्रेम के वशीभूत, अस्मिन्म गोचर वाली उन्मादवास छोड़ती हुई उन नवसुवतियों ने किसका मन में उत्कंठा उत्पन्न नहीं कर दी ॥ 20 ॥

21 अनशलि प्रचरों की अपनी पुत्र रीपता है और प्रिय वीर्यत घन्धों में कहता है, "हे वशिष्क पुत्रों उन्हीं के मुद्रों का गौरव है, जो नश

विजय और पराक्रम में खेड़ है। दूर विदेश के व्यापार में अनुर, त्याग, दान और कार्य संपादन के सुगों से ममूढ़, भाव लोगों को मैं अपने दोनो पुत्र सौंपता हूँ। इन घट को भाग सब लोगों को देलना चाहिए। जिस देश का जो राजा प्रधान राजा हो, स्मृतसमूह वाले उस राजा से भेंट कर, अपूर्व और प्रिय उपहार देकर मंत्रणा करना, चोर उचकने, सीधे भट मंडय, चहोड़ और चाणक्य इन लोगों से बचना। ठगने की वृत्ति रखने वालों को पहचान कर उनसे ठगाए मत जाना।

धरना—इस प्रकार अत्यंत मानसम्मान और दान कर तथा सोनो हाथ जोड़कर धनपति ने उन्हें विदा किया ॥ 21 ॥

22 बंचल घोड़ों पर आरूढ़ होकर सुन्दर कुमार चले। वे जब आनंद पूर्वक अग्नेय दिशा में जा रहे थे, अपना धरती मंडल कुकुजांगल छोड़कर, तो विजय काननों, बड़े बड़े पुरधाम, खेड़ कावड़ और मडव लांचते हुए, यमुना नदी के जल को पार कर, जल-दुनों स्थल दुनों तक पहुँचकर दूमरे दूसरे देशों की भाषाओं को जानते हुए, वे समुद्र के किनारे पहुंचे। जल-कराओं से गम्भीर समुद्र को उन्होंने कपुरुष का तरह स्थिर और गम्भीर देखा, जो विषधर (सर्प) की तरह विषम स्वभाव वाला, तट से महान् और लहरों से ओढ़ा कर रहा था। वहाँ कय विक्रय के शब्दों से व्याप्त विशाल बेजातट दिखाई दिए। धर्म अर्थ और काम की इच्छा रखने वाले और शुभ जो सुविदग्ध बचनों वाली वनिताओं के मुखों के समान थे। वहाँ ठहरकर, तथा सैकड़ों बेलों और भंसाधों की छोड़कर उन्होंने जलयंत्र किए। जलयंत्रों के बीच का काम कर तथा प्रिय शब्दों में आश्रमों की याद कर, पांच सौ वरिष्ठ वरों के साथ वे महाप्रधान बाहनों पर आरूढ़ हुए।

यथा—आराधकों के मुखों के समान सीधे मुखवाले क्या ये क्षणिक हैं? नहीं नहीं बोझा है। तीव्र पवन से आहत स्वजपट वाले ये बाहन समुद्र के जल में चले ॥ 22 ॥

23 जो मत्लों के समान हड बंधन वाले थे, मुनिवरों के मन के समान निर्लोभी (लोभ / लोहा से रहित) थे, सजनों के हृदयों की तरह परिपूर्ण थे। दुर्जनों के कामों की तरह अकृतार्थ थे। जलधरों से भयंकर दुरतर अग्रहा महासमुद्र में जहाज चलते हैं। ये द्वीपान्तरो के स्थलों को लांचते हैं। विविध कृतुहलों को देखते हैं। इस प्रकार बीला पूर्वक जाते हुए, उत्साह शक्ति और पराक्रम से परिपूर्ण, उनके बाहन सूफान के वदरए मबनाग द्वीप में एक सघन लखर के पास जा लगे। लहरों के समूह और जल शब्दों से व्याप्त तथा

पकड़ में न आने वाले ग्राहों (मगरों) से परिपूरण उस तट से जब जहाज टकराए, तो वे नौकाओं के मुख से उतर पड़े।

धत्ता—उन्होंने नैत्रों के दर्जन के लिए सुहावना वह मदननागिरि देखा जो स्त्रियों के प्यार की तरह दुर्लभ, दुर्भंचर और दुर्गम था ॥ 23 ॥

24 वन महावृक्ष के निकट मदननाग द्वीप में आलस्य को दूर से छोड़ने वाले, उड़ना छोड़कर गोलाकार गीघों के समूह की तरह, वे वरिष्क पुत्र परिभ्रमण करते हैं। कोई जल जाते हैं, घडा भरते हैं और उसे लेकर आते हैं। फल वाले वृक्षों को चुनते हैं और फूलों को तोड़कर सब उनकी प्रशंसा करते हैं। किमी तरह?, बंधुवत्ता को। छोड़कर, भविष्य दत्त उस जंगल में प्रवेश करता है, जो खंचल तमाल ताली मालूर माल और शल्य आवि वृक्षों से रमणीय है। कहीं पर वह कमल शत पत्रों से शोभित कमलों के सरोवरों को देखता है, कहीं पर हाथियों के भुंडों से प्रकंपित गंदे जलों को, कहीं पर जलकणों से भूषित और प्रतिगर्जन करने वाले निर्भरों को, कहीं पर सुन्दर आकार के कुसुमों के गद्यपरिमलों की सुगंधित परमों से मिश्रित, सुन्दर प्रचुर दलों और पत्तों वाले किसलयधरों को, कहीं पर मधुरस वाले, बिनामात्र से प्राप्त होने वाले, हाथों से ग्राह्य थोठ फलों को देखता है फूलों को चुनता हुआ, धरती का मानता हुआ, जब वह विचरण कर रहा था, तब विनाश समय की परग्रह न करने वाले नाविक इकट्ठे हो गए। बंधुवत्ता पुष्कित होकर कहता है क्या सब लोग यहाँ आ गए? देखकर कोई कहता है आज भी, और कोई नहीं, शायद तुम्हारा भाई नहीं है। यह सुन कर अत्यन्त ईर्ष्या लाले उसने अत्यंत रौद्र आचरण किया। उसने तीव्रता से देखा, और अपने समूह को कट्टु शब्दों में डाँटकर

धत्ता—घौँहों से भयंकर उसने आदेश दिया—चलो मुन्दर के तरह सघन पवन ध्वज पटों को फेलाओ, जहाजों का एक क्षण भी यहाँ मत रोको ॥ 24 ॥

25 "दे लोगों मेरा आदेश मानो, मान अभिमान का कोई विचार मत करो, शीघ्र जहाज लेकर चलो" यह गुनकर के लोग कारण से भरकर करतल मलते हैं और सिर पीटते हैं— "हूँ बंधुवत्ता तुमने क्या कहा? यह, सज्जनपुत्रों के लिए कभी भी उपयुक्त नहीं है। यदि गंभीर परामर्श (पाँड़ा) भी पैदा हो जाए, तो भी अपना अंग काटना ठीक नहीं। इस लोक और परलोक के लिए यह अधिष्ठा बाध है। दुर्भंचता वाली इस बोधला को कैसे सहन किया जाए," ये वचन सुनकर बंधुवत्ता क्रोध की ज्वाला में ऐसे भड़क उठा जैसे ग्राम में घाँ डाल दिया गया हो।

वह बोला—“धुमने हमारे सौत विरोध का विचार नहीं किया”। बिना अधिकार के तुम्हारा यह कौन सा व्यापार है? लो अलयंत्रों का काम करो, बाद में परमधर्म का विचार बनता।

पत्ता—इन बच्चों को सुनकर नगरजनों के सिर पर मानो बज्रदंड गिर पड़ा। जहाजों को लेकर छोटे आक्षय बाला वह दुष्ट गंभीर महा समुद्र पर आरुढ़ हो गया ॥ 25 ॥

26 अमोघ जल समूह में जाते हुए उन दुराचारियों के, कुमार छोड़ने पर, शणिकपुत्रों का समूह स्तब्ध रह गया। उन्हें मन में बुरा लगा, मुंह हथेलियों से सकेत करते हुए जम्होंने कहा—अहो यह काम सुन्दर नहीं है। अगम्य में जाकर, और असाध्य बंधे लाकर, हमारा सारा वाणिज्य व्यर्थ गया। हम अपने गौत्र को लजाने झाले सिद्ध हुए। न यात्रा, न धन, न मित्र, न घर, न धर्म, न कर्म, न जीव, न देह, न पुत्र, न कलत्र, न द्रष्ट को देखा, हस्तिनापुर भी गया, दूर देश में प्रविष्ट हुए। निश्चय अधर्म से धर्म नष्ट होगा, धर्म के नष्ट होने पर सब कर्म अकर्म हो जाएगा। शुभाचार से पतित द्रोही भ्रष्ट इस दुष्ट ने यकू छोटा कर्म किया है इसके प्रभाव से अनिष्ट और नीच काम हुआ और इस रौद्र समुद्र में तुम्हारा क्षय हो गया।

पत्ता—उस दुश्चरित को देखकर वहाँ ऐसा कोई नहीं था जो दुखी न हुआ हो। इस बीच धनपति भी बाधा के विस्तार के कारण विस्मय से भर उठा ॥ 26 ॥

सुगंधवहवी कथा संधि २

१

वहमीहे वड किण्जइ मणि अणुराएँ ।
कलिमलु अवरइ पुर्वानिकएँ मुण्चइ पावे ।

इउ कहिउ मुण्णिवडं जास अत्यु । तहि विरिण तहि हुइ वहमि तत्यु ।
किउ वड ता सयलंतेउरेण । किउ राएँ तह परिवारएण ।
किउ रायरिहि वीयहि सपलएँहि । किउ तेण दुगंधइ अवरएहि ।
ता विण्णउ चंयणु केण ताहे । केण विःकुमुमक्खय वीरयाहे ।
केण वि तह धम्मिउ ष्ठयणु अमलु । केण वि चरु वीवड धूउ-सहलु
तेण वि किउ गुरु-अणुराएण । अहवणचलणु सहं उवचासएण ।
मुण्णियाहहो भाउसु मुण्णिउ ताहे । अज्जियहे समप्पिय सुअवयाहे ।
ता छट्टोवासइं कजियाइं । एककंत-रायन-स-वज्जियाइं ।
अवराइं मि यहू भेयाइं जाइं । गुरुकायकिलेसइं कियइं ताइं ।
अवसाए-यालि जिणु संभरेवि । मुअ अउविहु सण्णासणु करेवि ।
उप्पणिय मुण्णि सेरिणय-एरिव । जहि वय्हं पहासइं अरि महंद ।
रयणउरि गयरि अर-कणय-काउ । करणअपहं रामइं अत्थि राउ ।
तहो कणयमालं गामेण कंत । अइमणहउ पइ-गुरु-बिरायवंत ।
अह तहि पुरि वरिण जिणयसु गाम । जिणयत्त भञ्ज रइ-सोवल-धाम ।
तहो सेट्ठि-अणुत्तहो पुत्ति जाय । उप्पण्णीजाएवि तहि मिसाय ।
गामेण तिलयमइं णिसुण्णि राय । वहुलवरुण-लंछियं कणयकाय ।
अइसूहव सुकलासंय विहाइ । तणुअगें अहहो रेह णाइ ।
मइलिज्जइ तणु तहे कुंजुमेण । अहाविअत्त पुणु चंयण-रसेण ।

सईं एइ सुअंघु सरोरि ताहे । कपूरि ण तांरेसु मयमयभाहे ।
बहुभाबहि लालजंतियाहे । मुअ मायरि अण्णहि बिदहि ताहे ।

घत्ता—ता ताएं परिणिय अण्ण तहि धीय ताहे उप्पणी ।
णामेण राय सा तेयमइ लक्खणःपुण-संपणी ॥ २ ॥

२

सा लालइ सज्जइ गियय बाल । अयहीलइ इयर वि णिइ सुवाल ।
आहरणइं अत्यइं गियहे देइ । उट्ठालि वि इण्हि पासि लेइ ।
अहार पाण णियसुअहि वेइ । इयर वि मग्गंति य षउ लहेइ ।
णिय मुअ धरेइ अण्णुण्ह पासि । इयर वि बग्गमावइ जेम दासि ।
ता ताएं जाणउ यहु सुआहे । ण सहेइ सवणेकहि विरह ताहे ।
इम जित्ति वि पुण दुवि दासिआउ । खेवित्ति करि वि समप्पियाउ ।
एत्थंतरे रयणइं लेवि साहु । पेसिउ णरणाहेऽसायराहु ।
जंतेण कंत पभणिय त्रिवाहु । विहि जणिहि करेउजहि भोयलाहु ।
ता पिच्छि वि सग्गहिं सुवण्ण कण्ण । णामेण तिलयमइ कणयवण्ण ।
ता वाबइ अण्णइं गियय कण्ण । सण्णइं लाण्णइं एह पुण्ण ।
इयर वि णिअंछइं इअराय । विहिरियल धुअ कय सु वराय ।
इय वयराहि केण वि वरिय सा वि । इयर वे जा ण सहीय मणहरा वि ।
ता किउ संजोउ विवाहकम्मु । मंडउ चउ मंडरिए वेइ रम्मु ।
पुगु तइल-यमुह षण्णइं वराइ । कोयइं विहि जणिहि मणोहराइ ।
परिणयण-दिअसि रयणींहे तेण । मुक्किय मसारिण सिगारिएण ।
आवेसइ को इह वर पसत्तु । परिणाबहि कण्णुणु पुत्ति एत्तु ।
चउपासहिं दीवय चारि देवि । चउ वारइः चउपासहिं अवेवि ।
आईसहुं दासिहिं इय नरोवि । एक्कलिय अहिं सा वरिण मुएवि ।
एत्थंतरि रिणउ सोहयल-सिहरि । ता पेक्कइं थिउ उत्तुअ-पवरि ।
चित्तिउ कि बोसईं जविस्सणीय । कि साहइं विउजइं मगुत्तिणीय ।
किं देवि का वि मंथस्सि एह । कि अचछरि वर लावण्ण-वेह ।

अहवा किं एष वियप्पएण । शुच्छमि लहु तुहइ भंति जेण ।
 इम चित्तिणि णिउ संपत्त तेत्थु । अच्छइ मत्ताणि वर बाल जेत्यु ।
 चित्तिउ पर होइ ण जखिलणीय । लोयएहु फडफडु मणुसिणीय ।
 इम चित्तिणि अप्पु वि पयडु होषः । मउ तानु कुमारिहे णियडु सोइ ।
 बुल्लाविय का तुहं एत्थु काई । कि ईहहि भल्लु महु बालियाई ।
 सा भणइ कुमारिय वर णिएमि । परिणयल्लु एत्थु अज्जु वि करेमि ।
 महु पेसिउ ताउ णरेसरेण । देअंतरु रयणहं कारणेण ।
 पच्छइं सावक्किए मायरोए । णारइधु विवाहु मणोहरोए ।
 लियमुअहे गेहि महुतणउ इत्थु । ता राएं जाणिउ समलु अत्थु ।

घत्ता—तहि रायए संजोउ कनिः परिणिय ता तहि मुन्दरि ।
 जिह हरेण गंग अदिष्णिअ वि तह सा णयस-मणोहरि ॥२॥

३

पच्छमि रिपवइ वर जाइ जअन । धाएप्पिणु अंचलु धरिउ ताम ।
 पुल्लु भणिउ कथ मई परिणिकण । नल्लिउ कहि एवहि छड्डिकण ।
 आजम्भु जाम परिपालियाहि । मा विसहह जिह दंसेवि जाहि ।
 ता एरवईं सारांदउ हसेवि । आ ललिय मुंदरि बिहसिएवि ।
 हउं जाउं वरईं तुह रिणइ संतु । आएसमि विणि विणो रिणसि तुरंतु ।
 ता ताएं बरिणउ को तुहं पयासि । हउं म्हइसिवालु गुणरयणरासि ।
 मउ हरि णिउ एसहि मायरोए । बाहाविय मंडवि छाउरोए ।
 पुल्लु जंपिउ कहि गय जियकलेवि । केरिसु तहे तायहो वयल्लु देवि ।
 इय जंपिवि जोयहुं बलिय जाम । दिट्ठिय स मत्ताणि वड्डु ताम ।
 पुच्छिय दोसहि परिणियहि छाया । वर-वत्थ-मउउ कंकर-कराय ।
 तें भणिऊं माए पिठारएण । आवेप्पिणु परिणिय एत्थु तेण ।
 ता जंपइ पैकलहुं वरिउ एहि । महो तयणवग्ग हूसल्लु चवेहि ।
 करि विहि जणीहि मणिज विवाहु । करारवमि लोवहुं भोयलाहु ।

गय मंडवहृतिव शिष्यकलेवि । अत्युत पिडाकुं अप्पवेवि ।
 जनु तणउ कम्मु जारिसु कुरंतु । अयतरिहः तह तारिसु भवंतु ।
 इम वयणाहि रंखित सयलु लोउ । कवडेण फगारिउ तहि मि सोउ ।
 पुणु वृत्तु पुत्ति एहि भणहि कंतु । आणु पुहारउ धरे वुरंतु ।
 घत्ता—एत्थंतरि रायई मणि अणु रायई लेखिणु वत्थाहरणु तहि ।
 आयउ सई संभाहि खलहं दुयेउभई भंविरे अच्छइ भज्ज जाहि ॥३॥

४

पइ पिक्खवि उट्टिय तंहि सराय । गुरुभत्तिणु केसहि सुहिय पाय ।
 पुणु देविणु आलणु धानिआए । उवबिहू णियहु अणुराइयाए ।
 एत्थंतरे रायई देवि अत्थ । आहरण विलेखण बहू पयत्थ ।
 दिण्णउ कंचुत्तिलउ अणिमयाउ । सुतेउ अणहं उव्वोइयाउ ।
 मणिमउ त्तिरि मउउ सुतार हार । सोहंति वेवविहू रपणोहि फार ।
 अण्ण वि कंरुण अणि खंचियाय । डोइअ वत्तेण वुहारणाय ।
 इय सयलु समण्णिवि गयउ जाम । पच्छा जणेण सा दिट्ठ ताम ।
 पुणु लोयहि जाइवि कहिउ ताहे । विज्जायहे वुट्ठसहावयहे ।
 तामाइय कोयई कंपमाण । पेक्खेप्पिणु भासउ सहे समाण ।
 हे भगिण णिलक्खणि तुहं हयासि । कि चोखं परिणिय एत्थु वासि ।
 णियभूतणाइ रणउ होहि अण्ण । सोरेप्पिणु केण वि तुक्क दिण्ण ।
 मारावियाइ धायाइयाय । तुहं कुललउ करिखई जाइ अय ।
 उम जंणिवि जण्णवि ते वि लेवि । गय घरहं सोह तहि खंडु देवि ।

घत्ता—गवि शिष्यवरु जाम वि जणभउ लाएवि बाहिरी कोषारउ करिवि ।
 अच्छइ मणि मुट्ठिय संसए दुट्ठिय कम्मु पुराणउ संभरिवि ॥४॥

५

एत्थंतरि दोषहं जाइ एवि । संपत्तु खेड्ढि णियमंविरे वि ।
 ता विट्ठु विजाह-परिक्कमरे वि । परिदीसइ तंहि मि एण सुअणु को वि ।

ता दिद्विय पिय अमणोअियाइं । पुच्छिउ कारणु वज्जरिउ ताइं ।
 संताविय हउं तुह जाइयाइं । सइं कियउ विवाह ऊमाइयाइं ।
 परिणिय चोरइं कि ईरिएण । कारणु एा मुणिएजइ कि पि तेण ।
 तिम जंपिधि दाविउ तेण सव्वु । आहरण-वत्थ-कंचुलिय-वव्वु ।
 ता भीयए तेण विपक्खणेण । दाविउ एारणाहहो तक्खणेण ।
 विण्णाविउ वेण न मुणिएमि कळ्जु । देसंतर जाइवि घाउ अज्जु ।
 तामभे घरि जायउ विवाहः । अणु वि संपत्तउ कएयलाह ।
 केण वि चोरिएणु सुयहे विण्णुः । इउ तुहहं तणउ एा होइ अणु ।
 ता एाएँ शिसुणिएवि साहवणु । जंपइ सराउ पहसंतवयणु ।
 लइ सयलु खमिउ मइं तुज्जक एज । पर तुह सुअ चोरहं कहउ भेउ ।
 जे परिणिय सो दाविहि एिएरुत्त । ओलक्खिउण पइ भएि तुरंतु ।
 मोक्कस्सिउ ता वएि गउ धरंमि । पुच्छिय सुअ जेविणु विउजणमि ।
 ओलक्खहि परिणिय जेण पुत्ति । पइं सइं परिणाविउ कय अज्जुत्ति ।
 सा पभणइ एिएच्छउ मुएमि ताय । ओलक्खमि शियमइं तामु पाय ।
 ता गउ वणि इय वयणुत्ति लेवि । उवइदुत्तु असेसु वि एिएव कहेवि ।
 ता एाएँ वुत्तु विवाह-भोज्जु । तुह गेहि करेसमि हउं मि अज्जु ।
 तेमइं चोरहउ वलंभु करइ । परिणिय अविण्ण सुअ सो जि धरइ ।

घत्ता—ता सेट्ठहे धरि संजोउ किउ संपत्तु राउ परिणिय सहइ ।
 उइइदु कमेए वि सइ जणहि तहि मि चोज्जु सयल वि कहइ ॥१॥

६

आराहि सुय एयएइं भंपकर । जिम कहइ चोर ओलक्खिउण ।
 ता आणिय वणिणा वुत्त ता वि । ओलक्खहि जे तुहं परिणिया वि ।
 सा भणइ धुआवह मेइं मि पार । गिति विहुउ ओलक्खमि न ताय ।
 ता ताएँ पाय धुआवियाय । धोयति संति तहि आवियाय ।
 गिव-पायहं कर छइ लग्ग जाम । ओलक्खिउ तायहि कहिउ ताम ।
 इहु चोर वि जे हउं परिणियाय । एउ अणु होइ इम जंपियाय ।

दहमिहि फलेण छट्टु सायराउ । दे भि-वस-भू-सिधउ काउ ।
 दहमिहि फलेण सेविय सुरेहि । विष्णुवुड भवलहे चाररेहि ।
 दहमिहि फलेण वर आयवल । अरारागइ मणहरु पुंजुगलु ।
 दहमिहि फलेण सयलहं पहाणु । पञ्चलनिखइ कहि वि ण तागु नाणु ।
 दहमिहि फलेण वरकंतिकाउ । णिग-तेओहाभिय-गहपहाणु ।
 अण्णु वि जं बहुअइं वणिणएण । कीं वि सरिसु ण पुज्जइ भुयधि तेण ।
 अण्णु वि जं दुलहउ जयहं सारु । तं तसु संपज्जइ बहुपयारु ।

घटा --तहि तिहयण सारउ मयण-नेबधारऊ जिण सुपासु बंबइ अमरु ।
 तहि परभवि होसइ कम्मु ऊँसइ सिद्धि-वरंगण-तणउ वर ॥ ८ ॥

१

सुगंध दशमी प्रलका पालन भनमें अनुराग सहित करना चाहिए । इससे कालिका के मूल का अपहरण होता है और जीव अपने पूर्व में कितने हुए पापों से मुक्त होता है ।

जिस दिन मुनिराज ने यह सुगंध दशमी व्रत के विधान का उपदेश दिया उसी दिन भाग्यसे यहाँ दशमी का दिन था । जनः दश व्रत को राजाने और उनके समस्त अन्तःपुर तथा परिवार के लोगोंने धारण किया । नगर निवामी सभी लोगोंने भी व्रत किया ॥ और सबके साथ उस दुर्गन्धाने भी व्रत किया । उस दिन बालिकाको किसीने चन्दन दे दिया और किसीने पूष व अक्षत दे दिये । किसीने उसे निर्मल अभिषेककी सामग्री दे दी तथा किसीने नैवेद्य, दीप, धूप व फल प्रदान किये । इस समस्त सामग्रीको पाकर दुर्गन्धाने बड़ी भक्तिते उपवास धारण किया और भगवानका अमिर्वक-पूजन भी किया । मुनि महाराजने अपने अविधानसे उसको आयु अल्प दीप रही जान उसे सुप्रता नामक अजिका की सौंप दिया । दुर्गन्धाने अजिका-के समीप रहते हुए पशुपवास अर्थात् लगातार दो-दो दिनोंके उपवास किये तथा राग और रससे वजित काजीका आहार लिया । और भी जो उप-वासोंके अनेक भेद हैं तथा जो कायकर्मोंका रूप व्रत है उन्हें दुर्गन्धाने विधि-पूर्वक पाला । आयुका अन्त आनेपर उससे जित भगवादेका स्मरण करते हुए खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकार के आहारका संन्यास अर्थात् सर्वथा परित्याग करके मरण किया ।

अगवान महावीर राजा श्रेणिकों कहते हैं कि 'हे वायूरूपी भूगों के लिए सिंह नरेश्वर, उस भुगंध दशमी ब्रतवैः प्रभाव से बह दुर्गन्धा मरकर पुनः अगले जन्म में जहाँ उत्पन्न हुई उनकी कन्या सुनिए—

रत्नपुर नगरीमें उत्तम कनकके समान सुन्दर शरीर कनकप्रभ नामके राजा राज्य करते थे । उनकी प्रिय भार्या का नाम कनकमाला था जो बड़ी मनोहर और अपने पति तथा गुरुजनोंके प्रति बड़ी जिनयवती थी । उसी रत्नपुर नगर में सेठ जिनदत्त रहते थे जिनकी पूर्ण सुख देनेवाली भार्या का नाम जिनदत्ता था । जिनदत्त सेठके कोढ़ें पुत्र नहीं था । उनके एकमात्र कन्या उत्पन्न हुई थी जिसका नाम था तिलकमती । हे राजन्, सुनिए—वह तिलकमती नामक कन्या सभी तुलक्षणोंमें सम्पन्न थी और शरीर तो इतना सुन्दर था जैसे मानो सुवर्णका ही ब्रजा हो । वह सुभग कन्या समस्त कन्याओं की भी निधान थी जैसे मानो कोमल शरीर धारण करके चन्द्र-कला ही उत्पन्न हुई हो । जिनदत्त सेठ उस कन्याको इतने लाड़-प्यारसे रखते थे कि केशर से तो उसके शरीर का मासिया किया जाता था और चन्दनके रस से उसे स्नान कराया जाता था । उसके शरीरमें स्वभावसे ऐसी सुगन्ध आती थी जैसी कपूर और कस्तूरीमें भी नहीं पाई जाती । ऐसी उस सुन्दर लायण्यवती कन्याका जब नाना प्रकारके लाड़-प्यारसे लालन-पालन किया जा रहा था तब एक दिन अकस्मात् उसको माता जिनदत्ता का स्वर्गवास हो गया ।

अपनी प्यारी भार्याकी मृत्युके पश्चात् उसके पिता सेठ जिनदत्तने द्वारा विवाह किया । इस दूसरी सेठानीमें भर्मेसे भी एक कन्या उत्पन्न हुई । हे राजा श्रेणिक, इस लक्षणों श्रीः गुणोंसे सम्पन्न कन्याका नाम जेजमती रखा गया ॥१॥

२

सेठानी अपनी श्रीरस पुत्री को तो भ्रूव लाड़ करती और सजाती थी, किन्तु उस दूसरी सेठानी कन्या तिलकमतीका उसके भले स्वभावकी होने-पर भी तिरस्कार करती थी । सेठानी अपनी पुत्रीको अच्छे आभरण और वस्त्र देती थी, किन्तु सीतेली पुत्रीके पास जो कुछ होता उसे भी छीन लेती थी । अपनी मुताके वह अच्छा भोजन खिलाती-पिलाती थी, किन्तु बेचारी सीतेली कन्या मांगने पर भी भरपेट खानेको नहीं पाती थी । अपनी पुत्रीको

सेठानी सदैव अपने पास रखती थी, किन्तु उस सौतेली पुत्रीको सदैव काममें लगाये रखती थी, जैसे कि वह कोई श्रासी हो ।

तिलकमती के पिता ने सम्झ लिया कि सेठानी उसकी पहली पुत्री को पास रखना उसी प्रकार नहीं सह सकती जिस प्रकार कि वह अपनी पुत्री का विरह नहीं सहन करती । इस चिन्ता से सेठ ने अपने घर में दो दासियाँ नियुक्त कर दीं ।

इसी बीच एक और प्रसंग आ गया । राजा कनकप्रभ ने सेठ जिन-दहा को बुलाकर बड़े आदर से उन्हें धन खरीदने के लिए देशान्तर जाने की आज्ञा दी । जाते समय सेठ ने सेठानी से कहा "मैं तो राजा की आज्ञा में देशान्तर जाता हूँ, किन्तु तुम अपनी इन दोनों पुत्रियों का विवाह वो योग्य वर देखकर कर देना जिससे वे सुख में रहें ।" यह कहकर सेठ तो देशान्तर को चले गये । इधर जो भी वर कन्याओं को देखने आता वह उसी कनकवर्ण सुन्दरी तिलकमती से ही विवाह की याचना करता था । किन्तु सेठानी अपनी पुत्री को ही अंग्रे करके दिखाती और कहती यही कन्या लावण्य से परिपूर्ण है । वह अपनी उस सौतेली कन्या को बुराई करती और उसे क्रूर बनाकर विलासी । इन वचनों से किसी वर ने उस कन्या से ही विवाह करना स्वीकार किया और उस मनोहर दिखाई देने वाली दूसरी कन्या से नहीं । सेठानी ने विवाह पक्का कर लिया । विवाह का समय आया । मंडप सजाया गया जिसमें खंभरी लटक गई व रमणीक विवाह वेदी बनाई गई । दोनों कन्याओं की तैल, हलदी आदि विवाह की उत्तम विधियाँ उत्सव पूर्वक की गईं । विवाह के दिन रात्रि होते ही तिलकमती का शृङ्गार करके सेठानी इसे नगर के बाहर इमशान में ले गई और उसे वहाँ बैठाकर बोली "हे पुत्रि, तेरा श्रेष्ठ वर यहीं आवेगा और तुझसे विवाह कर लेगा ।" ऐसा कहकर उसके चारों ओर चार दीपक रखकर तथा चारों पाशवों में चार कलश स्थापित करके "दासियों सहित याजंगी" ऐसा कहकर सेठानी तिलकमती को इमशान में अकेली छोड़कर घर लौट गई । उसी समय राजा कनकप्रभ अपने राज महल की ऊँची अट्टालिकापर बैठकर नगर की शोभा देख रहे थे । इमशान की ओर ज्योंही उनकी दृष्टि पड़ी त्योंही वे विचारने लगे-"इमशान में यह कौन दिखाई पड़ रही है ? क्या यह यक्षिणी है, अथवा कोई मानवी ही है जो किन्हीं विद्याओं की साधना कर रही है । या वह कोई देवी है, या कोई गम्भीरिणी

है, या श्रेष्ठ लाक्षणवती कोई अप्पारा है ? अथवा इस संकल्प-विकल्प से क्या लाभ ? वहां जाकर ही मैं उत्तरे क्यों न पूछ लूँ जिससे मेरी सब आंति दूर हो जाए ।" ऐसा विचार कर राजा उसी समयान में आया जहां वह सुन्दर सेठ कन्या बैठी हुई थी । राजा ने उसकी ओर अच्छी तरह देखकर यह तो निश्चय कर लिया कि यह यक्षिणी नहीं है क्योंकि इसकी पलकें डलती और उबड़ती हैं, अतएव यह मनुष्यनी ही है । इतना मन में निश्चय कर राजा प्रकट होकर उस कुमारी के समीप गया । राजा ने सम्बोधन कर कहा "हे बालिके, तू मुझे बतला कि तू कौन है, यहां क्यों बैठी है व क्या चाहती है ?" राजा की यह बात सुनकर वह कुमारी बोली "मैं यहां अपने उस घर की प्रतीक्षा में बैठी हूँ जिससे आज ही मेरा विवाह होता है । राजा ने मेरे पिता को रत्न खरीदने के लिए देशान्तर को भेज दिया । तत्पश्चात् मेरी मनोहर सीतेली मां ने यह विवाह का समारम्भ किया है । आज ही उसकी निजो पुत्री का विवाह घर पर और मेरा यहां पर होने वाला है ।" उस कन्या की ये बातें सुनकर राजा ने समस्त वृत्तान्त समझ लिया और स्वयं उस नयन भनोहर सुन्दरी से अपना विवाह कर लिया, जिस प्रकार कि हर अर्थात् महर्षिदेव ने गंगा देवी से बिना किसी के द्वारा कन्यादान दिये विवाह कर लिया था ॥२॥

३

उस रात्रि राजा उस कन्या के समीप वहीं रहा । प्रातः सूर्योदय से पूर्व ही जब राजा वहां से घर को चलने लगा तब उस कन्या ने दौड़कर उसका अंचल पकड़ लिया और बोली "आप मुझसे विवाह करके मुझे यहां अकेली छोड़कर कहीं जा रहे हैं ? कब आपको आपनम मेरा पालन-पोषण करना होगा । सर्प के समाप्त इंसकर आप मेरे पास से अग्रथ नहीं जा सकते ।" राजा ने युवती के ये वचन सुनकर आनन्द पूर्वक हंसकर कहा "हे सुन्दरि, अभी मैं अपने घर जाता हूँ । तुम घर में रहो मैं प्रतिदिन रात्रि को तुम्हारे घर आया करूंगा ।" युवती ने यह सुनकर कहा "आप मुझे यह तो प्रकट करके बतला दीजिए कि आप कौन हैं ?" राजा ने कहा "हे भुए लुबी रत्नों की राशि ! मैं महिषीपारु हूँ ।" इतना कहकर राजा अपने घर चला गया । इसर माता ने अपने घर बड़ी आतुरता के साथ मंडप में अपनी पुत्री का विवाह कर दिया । फिर तिलकमती के वहां न दिखाने के कारण बहना कर कहने लगी "यह बायिका घर से निकलकर कहीं चली

गई ? अपने बाप की इसने कैसी शपथकीति की ?" ऐसा कहते हुए वह उसे हूँहने के बहाने चली। समशान में पहुँचकर उसने तिलकमती को वहाँ बैठे देखा। उसने कन्या से पूछा "तेरी छवि विवाहित स्त्री जैसी दिखाई देती है, अच्छे वस्त्र, मुकुट और हार में कंगन विवाह के चिह्न हैं।" तब कन्या ने कहा "हे माता ! एक पिडार (बवाल) ने आकर यहाँ मुझ से विवाह कर लिया है।" यह सुनकर सेठानी बोली "देखो तो इस कन्या का चरित्र ? परिवार के सब स्वजन बन्धु मुझे ही दोष देते हैं। मैंने तो यह विचार किया था कि दोनों पुत्रियों का निश्चित किये हुए वरों के साथ विवाह कराकर लोगों को जीमन्धार कराऊँगी। किन्तु यह स्त्री भरे गण्डप में से निकल गई और एक पिडार को उसने आत्म समर्पण कर दिया। अब मैं क्या करूँ ? जिसका जैसा कर्म उदय में आता है तैसा ही उसे फल भोगना पड़ता है।" इस प्रकार के वचनों द्वारा समस्त लोगों का सन्तोष करने उसने कपट शोक प्रकट किया। फिर उससे बोली "हे पुत्री, ओ हुआ सो हुआ, अब अपने प्रिय पति से तू यह कह कि वह तुरहारे घर तुरन्त आकर रहने लगे।" इसी बीच राजा अपने मन में उस कन्या से प्रनुरक्त होकर वस्त्राभरण लेकर कन्या काल में उस भवन में आया जहाँ वह भाया रहती थी और जहाँ खल पुरुषों का कोई प्रवेश नहीं था ॥३॥

अपने पति को आया देखकर अनुराम सहित तिलकमती उठी और लड़ी भक्ति सहित अपने केशोंसे पश्चि चरणोंको पोंछा। फिर दीड़कर तिके लिए आसन दिया और उनके निकट स्नेह सहित बैठ गई। तब राजाने उसे लाये हुए वस्त्र, आभरण, विलेपनादि बहुत प्रकारकी भृंगार की सामग्री प्रदान की। उन्होंने उसे रुनजडित चोलियाँ दीं जो अपने तेजसे स्तनों को उद्योतमान करती थी। भ्रिके लिए एक मणिमय मुकुट और अच्छी लड्डियों वाले हार जो नाना प्रकारके रत्नोंसे शोभावमान थे, तथा अन्य मणिदाँसे जड़े कंकन आदि इत्या राजा ने अच्छी तरह पहनने के लिए अपनी प्रिय पत्नीको दिये। राजा ने सब वस्त्राभूषण देकर चला गया और पश्चात् यहाँ लोगों ने तिलकमती को वे सब धारण किये हुए देखा। देखकर उन्होंने आकर उसकी उस दुःख स्वभाव विमाता से कहा। माताने स्वयं आकर उसे देखकर और कोपसे कयायमान होते हुए उससे कहा -

"अरी भगोड़ी, कुलक्षणा, हृत्सारी, दासी ! क्या तुझसे किसी चोरने विवाह किया है ? ये जो आभूषण तू पहने हुए है वे और किसीके नहीं, स्वयं राजाके हैं और वहींसे चुराकर किसीने तुझे दिये हैं । हे पुत्री, तू अपने वाप आदि को मरवाने, आतापित कराने तथा हमारे कुलका नाश करानेके लिए ही उत्पन्न हुई है ।" ऐसा कहकर उस विमाता ने उसके पैर सब वस्त्राभूषण उतरवा कर ले लिये और उसे पुनः एक फटा पुराणा चौर का टुकड़ा पहनाकर अपने निवास की चली गई ।

पत्ता—हराकर और बाहर कोलाहल कर जनपद जब घर चला गया, तो वह पुराने कर्म की याद कर मन में अचल और पांका से धूध हुई ।

५

यहाँ जब रत्नपुर नगरमें यह सब घटना हो रही थी तभी शेट भी जिनदत्त द्वीपान्तर आकर और वहाँ से लौटकर अपने घर आया । आगे ही उसे वह सब विवाहका उपक्रम तो दिखाई दिया किन्तु विवाह के आगे पोछे भी जो स्वयं परिजनों की भीड़भाड़ रहा करती है वह उसे कुछ दिखाई नहीं दिया; सब सूना पड़ा था । उसने जाकर अपनी प्रिय पत्नी को देखा और कारण पूछा । तब असुंदर सेठानी बोली—“तुम्हारी दम पुत्रीसे मैं बहुत संतप्त हुई हूँ । इसने उन्मादमें आकर अपना विवाह स्वयं कर लिया है । किस प्रेरणा से चोर से इसका विवाह हुआ है । इसका कोई कारण मेरी सम्झने नहीं आता ।” ऐसा कहकर सेठानीने अपने पतिको वे आभरण, वस्त्र, कंचुकी आदि समस्त मूल्यवान् वस्तुएँ दिखाई । उन्हें देखकर सेठ भी स्वयं भयभीत हो उठा । वह तो अनुर धर, प्रतः उसने उसी समय वे सब वस्तुएँ ले जाकर राजाको दिखलाई । रोठने राजासे कहा—“हे देव, मुझे यहाँका सब कार्य कुछ भी मात नहीं है । मैं तो देवान्तर जाकर आज ही वापस आया हूँ । मेरे आने से पूर्व ही घर मेरे घरमें मेरी पुत्रियों का विवाह हो गया है, और यह एक तथा सुवर्ण-लाभ हुआ है । किसी चोरने चुराकर ये सब वस्त्राभूषण मेरी कन्याको दिये हैं । किन्तु ये सब वस्तुएँ तो आपकी ही हैं; वे और किसीकी नहीं हो सकती ।”

राजाने जिनदत्त सेठ के ये वचन सुनकर प्रेम से हँसमुख होते हुए कहा—“देखो सेठ यह सब तुम्हारा अपराध तो मैं क्षमा करता हूँ, किन्तु तुम्हारी पुत्री को उस चोर का भेद बतलाना पड़ेगा । जिसने उसके विवाह

किया है उसे निश्चय से मुझे दिक्कलाओ। अच्छी तरह यह सब देख भाल कर तुम शीघ्र मुझे सूचना दो।”

इस प्रकार राजा के पास से मुक्ति पाकर सेठ अपने घर गया। सेठ ने अपनी उस पुत्री को एकान्त में ले जाकर उससे पूछा—“हे पुत्री जिसने तुमसे विवाह किया है उसे बताओ। तुमने खुद विवाह कर लिया वह अनुचित किया।” अपने पिताके ये कचन सुनकर कन्याने कहा—“हे तात, मैं निश्चय से तो अपने पति को उसकी चरणाँ का स्पर्श करके ही पहचान सकती हूँ, क्योंकि मैं नियम से उसके चरणाँका ही स्पर्श करती रही हूँ।” अपनी पुत्रीकी इस बातको लेकर सेठ पुनः राजाके पास गया और जो कुछ उसने अपनी पुत्रीसे सुना था वह सब राजाको कह सुनाया। तब सेठकी बात सुनकर राजाने कहा—“अवस्था, मैं आज ही अपनी ओर से तुम्हारे घर पर विवाह के भोजका आयोजन करूँगा। उसी भोज में उस चोरको पहचान लेना, और जिसने तुम्हारी पुत्री को बिना कन्यादान के विवाह लिया है उसे पकड़ लेना।”

इस प्रकार कहकर राजाने सेठके घर भोजकी तैयारी कराई। स्वयं राजा अपनी समाके कुछ गिने चुने सभ्योंके साथ वहाँ पहुँचे। सभ अम्यामत मिलजुल कर सेठके घर में बैठे। सब लोग यहाँ होनेवाले वीतुक की ही चर्चा कर रहे थे ॥ 5 ॥

५

राजाने आज्ञा दी कि सेठकी वह कन्या आँखें डँककर वहाँ लाई जाय, जिससे कि वह उस चोर का पता लगा सके। सेठ अपनी कन्या को वहाँ ले आया और उससे कहा—“हे पुत्रि, अब तू उस पुरुष की पहचान कर जिसने तुमसे विवाह किया है।” कन्या ने कहा—“हे तात, मैं तो अम्यागतोंके पैर घुलाकर ही उनमें से अपने पतिको पहचान सकूँगी, क्योंकि राजा में ही उनके दर्शन होने से मैं उनकी मुष्काकृति से भलोभाति परिचित नहीं हूँ।” तब सेठने अम्यागतोंके पैर घुलवाने का आयोजन किया। कन्या अपने हाथोंसे प्रत्येक अतिथिके पैर घुमाती जाती थी और वे सया स्थान बैठते जाते थे। राजाकी भी जारी आई। राजा के पैरोंका कर-स्पर्श होते ही कन्याने अपने पतिको पहचान लिया और पितासे कह दिया—“हे पिता, यही वह चोर है जिसने मुझसे विवाह किया है, अन्य कोई नहीं।”

कन्या के ऐसा कहने पर राजा ने अन्तर्निहित होकर वह सब वृत्तान्त बर्णन करके सुना दिया । उस वृत्तान्त को सुनकर सबके मन में आनन्द हुआ और वे सब कहने लगे—“यह कन्या बड़ी पुण्यवती है जिसने स्वयं राजाको अपना पति पाया ।”

इस वृत्तान्त के पश्चात् कन्या तिलकमती का राजा कनकप्रभके साथ पुनः विधिवत् विवाह किया गया। विवाह के पश्चात् घर-कन्या जिन-मन्दिरमें लाये गये । वहाँ जिन भगवान्की वन्दना करके वे यथास्वागत बैठ गये । वहाँ एक मुनिराज भी विराजमान थे । तिलकमती ने उन मुनिराज के दर्शन करके उनसे पूछा “ई परम मुनीश्वर, यह बतलाइए कि अपने पति के प्रथम दर्शन मात्रसे भेद। उनके ऊपर इतना प्रेम क्यों उत्पन्न हुआ ।” यह सुनकर मुनिराज ने समस्त वृत्तान्त कहा जिस प्रकार कि उसने अपने पूर्व भवमें राज्यका उपभोग करके भवान्तरों में दुःख पाते हुए भ्रमण किया था और जिस प्रकार कि अन्तमें उसका शरीर पुनः सुगन्धयुक्त और मनोहर हुआ ।

जब मुनिराज उस सुगन्धा कन्या के पूर्व भवोंका वृत्तान्त कह रहे थे, तभी वहाँ एक देव आ पहुँचा । उसने मुनिराज को प्रणाम करके उस कन्या के भी चरणकमलोंमें अपना मस्तक सवाया । फिर वह देव बोला—“हे स्वामिनि, मैंने भी तुम्हारे प्रसाद से उसी सुगन्ध दशमी व्रतका पालन किया था और उसीके प्रभाषसे मुझमें यह अमरेन्द्र पद प्राप्त हुआ है ।” इतना कहकर और तिलकमतीकी भूषण, वस्त्र देकर एवं पुनः पुनः स्तुति करता हुआ वह देव वहाँ से चला गया । इस प्रकार तिलकमती राजा कनकप्रभ को उसी प्रकार प्राणप्रिया सहिष्णी हो गई जिस प्रकार रात कामदेवकी प्राणप्रिया हुई । वह रातके समस्त अन्तःपुरको प्रधान पद-रानी बनकर नामा प्रकारके सुखों का उपभोग करती हुई रहने लगी ।

७

अब तिलकमती ही समस्त अन्तःपुर की सौभाग्यवती सुन्दरी थी । यह समस्त सेवकों व परिजनों के मन को आकर्षित करती थी । उसी की दाणी सबसे अधिक मधुर और उसी की गति हंस के समान सुन्दर समझी जाती थी । वही सबसे अधिक रूपवती और सुन्दर सती मानी जाने लगी । वह दुखी दरिद्र जनों की आशाओं और प्रार्थनाओं को पूरा करती थी व दीन लोगों को उसी प्रकार आश्रय प्रदान करती थी जैसी यक्ष पथिकों को

शोकल छाया देकर सन्तुष्ट करता है। उन्नत पुण्यवती का तब कोई बड़ा आदर करते थे और सभी उसे स्थियों में एक प्रधान रत्न रूप मानते थे। वह नाना क्लेशों से मुखी जनों के लिए महान् लक्ष्मी देवी के समान थी और उसके पति भी उसका उसी प्रकार; आदर-सम्मान करते थे। वह आहार, धौषधि, अभय और शास्त्र इन चारों प्रकार के दान का श्रुव प्रचार करती तथा जैन धर्म की प्रभावना फडाती थी। जन्ता में यदि कोई रोग या शोक फैल जाता तो वह तुरंत उसके निवारण का उपाय करती। धर्मानुरागी स्त्री-पुरुषों के लिए तो वह एक महान् सरिता के समान उपकारी थी। उसने खूब दीर्घायु पायी धिंससे कि उसे अपने पुत्र और पौत्र और नातियों को तथा दीहिज और प्रपीथों को देखने का सुख मिला। वह अपने स्वजनों के नेत्रों की तार्फिका (पुतली) के समान रहती हुई जीवन से निकल कर वृद्धावस्था में प्रविष्ट हुई। तथापि उसने जो सुगन्ध दशमी व्रत का परिपालन किया था; उसके प्रभाव से उसे फिर कोई दुख देखने मात्र को भी नहीं मिला।

इस प्रकार उसने चिरकाल तक राज्याके सुख का उपभोग किया। तत्पश्चात् अपनी आयु पूर्ण होती हुई जानकर उसने दशौं, जात्र, चरित्र और तप यह चार प्रकार की आराधना की; भावना प्रारम्भ कर दी और जिनेन्द्र भगवान का ध्यान करते हुए संन्यास पूर्वक उसने अपने प्राणों का परित्याग किया। इस समस्त धर्माचरण के फलस्वरूप भगवान् सुपाश्वत्थाथ के चरखों को वन्दना करते हुए उसने अपने शत्रो लिंग का छेदन कर दिया और अपने दुष्कर्मों का भी नाश कर डाला जिससे वह समस्त सुखों के निघ्नान ईशान स्वर्ग के विमान में उसम देव; हुई ॥७॥

५

भगवान् महावीर राजा श्रेणिक से कहते हैं—“हे श्रेणिक, इस जीव के लिए धार्मिक व्रत ही धारण करना बड़ा दुर्लभ है। किन्तु जहाँ एक बार जीव को व्रत धारण का सुअवसर मिल गया, तहाँ फिर उसके लिए सकल पञ्चाश सुलभ हो जाते हैं। देखो वह दुर्गन्धा व्रत के प्रभाव से कंसी सुगन्धा हो गई और उसका शरीर मसिमलो धाभरखों से झलकृत हो गया। इस सुगन्ध दशमी व्रत के फल से उसे अर्धध्यान, बुद्धा और किर्तणी-व्यक्तियों की कलच्चरित से मुक्त मनोहर स्वर्ग विमान भी मिला। इस सुगन्ध दशमी व्रत के फल से सत्ताईस कोटीश्वरों की सेवा का सुख भी मिलता है।

दशमी के फल से यह शरीर देवांग वस्त्रों से विभूषित होता है। दशमी के फल से देव सेवा करते हैं और छवल चक्र ऊपर ढोले जाते हैं। दशमी के फल से श्रेष्ठ आतपन्न (छत्र) प्राप्त होता है व मनोहर रूप से गरजते हुए ऐरावत हाथी पर आरूढ़ होने का सुख मिलता है। दशमी के फल से सबके बीच प्रधानता प्राप्त होती है और कहीं भी उसका मानभंग नहीं होता। दशमी के फल से ही ऐसी उत्तम शरीर कांति मिलती है कि उसके तेज के प्राये बन्दरुमा की कांति भी फीकी पड़ जाय। अन्य बहुत विस्तार से वर्णन करने की क्या आवश्यकता है? संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि सुगन्ध दशमी व्रत के पालन करने वालोंके समान अन्य किसी मनुष्य का संसार में आदर सत्कार नहीं होता। शून्य जो कुछ भी इस जगत् के दुर्लभ सारभूत पदार्थ हैं वे सभी नाना प्रकार के प्रतघारी को प्राप्त हो जाते हैं।

ईशान विमान में भी वह सुगन्धा का जीव देव होकर त्रिभुवन में सारभूत, कामदेव का निवारण करनेवाले जिग भगवान् सुपाश्वनाथ की वन्दना करना नहीं भूलता या। अगले भवमें वह ईश मनुष्य योनि में आकर और अपने शेष समस्त घाती अघाती कर्मोंको स्वप्न और तपके द्वारा भस्मसात् करके सिद्ध रुपी वरांगनाका पति अर्थात् मोक्षगामी होगा ॥ ४ ॥



साधारण कवि

विलासवर्द्ध--कहा

प्रथमः अधि

[१]

बहू-रयसि-मणोहरं निम्मल-पद्महृत्तु सगुणु सुवर्णाहिद्वियत् ।
 मरु कस्स न सोहृद्द जलमखु मोहं कव्वहारं कंठद्वियत् ॥१॥
 पदेमउं पणमेरिपणु उरुह-सामि । पुणु अजिउ विरिणुज्जिय-भउ युणामि ।
 संभवु भावेविणु भव-विणामु । वंदिमि अन्नित्ठणु गुण-निवासु ।
 मुमरेवि सुमइ सुमिहीय-नासु । कीरुइ पउमप्यह-जिण पणामु ।
 ज्ञाएवि सुर संसिउ सिरि-मुणामु । छहंप्यह चित्तिवि चत्त-वासु ।
 विप्फुरिध-कंतु जिणु पुप्फयंतु । सीयलु डुरियारि-महाकयंतु ।
 सेयंसु असेस-सुहाणु खारिण । वसुपुज्जु वि रजिय-सयल-वारिण ।
 जिणु विमसु अणंतु वि संभरेवि ताः धम्म-सत्ति संवुइ करेवि ।
 पथ नमिभि कुं धु-अर-सामियाहं । गउः सरणु मल्लि-मुणिसुव्वयाहं ।
 नमि पणमिभि तह य अरिद्वनेमि । पुणु पास-वीर-वंदणु करेमि ।
 पन्नमेरिपणु सिउहं सोक्ख-समिद्धहं आधरिउरुभायहं मुणिहि ।
 कय-पोरुवय-इत्यहे नारा-महत्थहि मुदयेरुपणु सय-सामिणिहि ॥१॥

[२]

जल एवकु लणंतरु कणु देह । अयल्लोम धम्मभल्लरु तं मुणोह
 जाव य डूमिउज्जइ अणु लोउ । ता धरि किउ धम्म-कहा-विणोउ ।
 जाव य परत्तासिहि जाइ कालु । ता धरि परिभाविउ कम्म जाणु ।
 सव्वहो परदोसुग्घट्टणेण । गुणु कव्वणु होइ वित्तु मरणेण ।
 सत्तेहि य अहव असंतएहि । कि परदोसेहे पयासिएहि ।
 लब्भइ जसु अत्थु न तेत्थु कोइ । अणु मि सो जेव यं वडरि होइ ।
 उप्पज्जइ पर जण-पीउ जेण । तं कव्वणु न किउज्जइ बुह-जणेण ।
 वं कम्म हसंतउ किर करेइ । तं रोकेतउ वि न नित्थरेइ ।

धेवो वि हृ कीरइ जो पमाउ । सो पर-भवे होइ महाविवाउ ।
एख व पत्न्यावे कहा कहेमि । जे भव्हहं श्रद्धभक्त्यण विहेमि ।
जिव सह भक्तारि पाण-पियारि गुरु-पमाय-कलु अणुहवइ ।
तिह चोखुप्यायणि गुण-सय-बायोण कहं निसुणेहु विलासवइ ॥२॥

[३]

इह भरहवासि सुमणाभिराम । कर-नयरि अतिथि सेयविव नाम ।
सरयवभ-धवल-पासाय-सोह । देकाल-पंति-तोसिण-जणोह ।
पमुइय-सउण्ण-ज्जण-सेवणिज्ज । बह-दिवस-सहुस्सेहि वण्णरिण्ण ।
पवखुइय-अय-पंतिहि विहाइ । बुक्कारइ अमर-समूह नाइ ।
पडिबक्ख-सक्ख-उक्खरिण्य-कंठु । असबम्मू नामि ताहि नरवरिहु ।
जो तरुण-तरणि-संनिह-पयाओ । जहु-नरकइ-सउउ-निहिहु-याओ ।
त्तस थि सयलंतेउर-पहाण । किंजिमइ य रणिण बहुसुरा-निहाण ।
ताण य उएप्पनउ भुवण सारः । नंदणु नामेण सरंकुमारु ।
तमु जम्म-विवसि कुङ्क-भासएहि । आइदुहु एउ नेमित्तएहि ।
एहु बापु सयल-लक्षण-सहाउ । होसइ विज्जाहर-राय-राउ ।
अइधत्तल्ल तायहु भंदिरु चायहु कप्पवुहुमु पणईयएहं ।
इक्षिण्ण-निविट्टउ परियण-इहुउ कामएउ इत्थीयणहं ॥३॥

[४]

अह अग्नहे काले अत्तक्षिणएहि । केवि गहिय चोर अरक्खिणएहि ।
ते तेहि विउंवेवि बह विचित्तु । शाउत्त नेवि मारण-निमित्तु ।
एत्तहि वि बाहियानिहि गएण । ते कुमरे विहु नियत्तएण ।
तो भणित्ते तेहि दय करहि देव । अग्हे सरणागय तुम्ह चैव ।
किउ एक्क-धार सामिअ अजुत्तु । पर अज्ज वि चोरिय-कलु न भुत्तु ।
तं वधु सुणेवि वरवइ-सुएण । रंत्तिलाविय सव्वे दया-जुएण ।
अं कुमरे मेल्लिय चोर विहु । तां सव्व वि नायर-लोय दूह ।

चित्तं एहं आरवच्छेहि । अविश्वं प्रसेसु नरवइहि तेहि ।
 तेण वि आइदुजं निविषयारु । जिह् रुवि जाणेइ सणकुमारु ।
 दिग्गिह्वि विस्वालेवि नायरण । तिह् कुणह् विरिण्णह् तवकराण ।
 ग्रह ते नेण्हेविष्णु मारिय मेविष्णु कुमरे वडयरु जाणियउ ।
 तो इदुज रायह सो निय-तायह नोरियउ अवमाणियउ ॥४॥

[५]

तो वारिज्जंतु वि परिवणेण । नयरीए विणिग्गउ तक्खणेण ।
 थेवी वि जे उत्तम-पुरिम हींति । अवमारु कय वि न ते सहति ।
 हियइच्छिय-कइयय-पुरिस-जुत्तु । रयणाए-तीरहि सो पइत्तु ।
 जहि मियय-विह्व-मंडिय धरिति । वर-नपरि वसइ सिरि-सामलितति ।
 तहि पणय-वग्ग-वडिह्व यमाउ । ईसाणकुं नामेण राउ ।
 जाणित्तेणाधि सणकुमारु । संसुहउ विरिण्णउ सपरिबार ।
 कुमरेण वि विणए नमिउ राउ । तेण वि इहुममिउ किउ वसाउ ।
 भणिओ य वच्छ तई कियउं सुट्टु । जं इह संपत्तउ जराय-रुदु ।
 एयं पि ह तुह् अपणउं रउत्तु । ता पुत्त । इहेज्जहि निघय-कउत्तु ।
 तो नयरि पविट्टउ लोएहि विट्टउ नवणाणंणुं वंत्तु जिह् ।
 आवासु विदिग्गउ धण-संपुण्णउ सोक्खेहि । बोसहि तत्तु दियह ॥५॥

[६]

भणियउ दिणेहि केहि वि गएहि । जीवणु हियइच्छिउ सच्छ लेहि ।
 कुमरेण वि केण वि कारयेण । न पडिच्छिउ जीवणु कि पि तेण ।
 एत्थंतरि पसरिय-उट्ट-विलासु । मणहर सप्तु वसंत-सासु ।
 अविवेय-लोय-अरुंदयारु । पार्यडिय-विभिह- कामुय विचार ।
 मासिणि-जण-माणु वि निदलंतु । पसरिउ मलयामिलु महमहंतु ।
 यियसति सयल-काणण-यणाई । फुल्लंति नाई पहिय-मणाई ।
 धरि धरि अंदील यामिणीओ । कीलंति कलालय-कामिणीओ ।
 पिउजंति अरथ विविहासवाई । पेम्मई पसरंति पुबन्तवाई ।
 डिउजंति अरथ वच्चरि विचित्त । लेलंति इंधाण पहिदु चित्त ।

शर-पंचम-गेयहं भुवि पयसि । पीरीति शयल देउलेहि जल ।
 लघ-पुच्छ-मणीहर विगलिय-केलक पाञ्जत-कुसुम-सलोयणड ।
 भङ्गनासु वि भयवद काणणे धावइ पञ्चद्वयहं उव्वेवणउ ॥६॥

[७]

जत्थ विउल-बल-कमल-साविणी । सरासरेसु उल्लसिय कमलिणी ।
 महमहंत-मयरंथ पिजरी । सहइ जत्थ सहयार-मंजरी ।
 फार फुल्ल मेल्लेति कुज्जया । उल्लसंति निजइल्ल पुंजया ।
 तह प्रसोय वडला रमाडला । कलवत्तंति कल-सह-कोइला ।
 कुसुम-भार-विणमल तरुवर । मुमुमुमंति मह-सत्त-महुयरा ।
 रत्त-कुसुम-पावरिय भंगुया । लव-वर अब दीसंति किमुया ।
 सिङ्गार-विडवा सुजोहिया । पाइलाभो मयरंथ-भोहिया ।
 मयरकेड-मुक्क अब कंइया । महमहंति माह्वियं मंडया ।
 मय मद चोल्लेति यासरा । लव-वसंत-दंसण-कयायरा ।
 कुसुम-रेणु-पडलं पि पसरियं । सुवण-पासु नं काम-विरहयं ।
 इय मयण-महसवि अत्थउं मूसिंवि निध-गेहहं मित्तेहि कसिड ।
 उज्जाणि मणीहरि नयरिहिं सेहरि तो अरुंग-णवणे चलिउ ॥७॥

[८]

तस्रो रोय-नीला-विलासेहि जुत्तो । मह-राय-मगयम्मि रंतुं पयसो ।
 इओ तत्थ ईसाणचंदस्स पया । विलासप्रह नामेण अचवंत-रुवा ।
 समेहस्स थायायणे संनिचिह्वा । पलोएइ तं रायमग्गं विसिट्ठा ।
 तस्रो तक्कणं तोए दिट्ठो कुमारो । सदेहो य पक्कण्णं नं सो जिज मारो ।
 पुणो पुञ्ज-जम्मंतंरुभासओ से । पयट्ठो-त्तुरयो विसाए एव गोसे ।
 सुयंथा य खिसा सहत्थेण मुत्था । कुमारस्स वडलाण माला पसत्था ।
 चत्तंतस्स थायस्यणासन्न-हेट्ठं । पट्ठो कुमारस्स सा भल्लि कंठे ।
 पलोएइ जा उप्पारि ताव दिट्ठं । मुहं रायकण्णं अचवंत-इट्ठं ।
 पुणो तस्स अइवल्लहो एण-चित्तो । सनासम्मि वसुधुइ नामेण मित्तो ।

अभेरावि सो लखिअओ ताण भावें । कुमारस्स जाओ महंतोऽणुराओ ।
 पुगु तसु पेच्छतिहि थियसिय-नेत्तिह बडलमास कंठहि निसिय ।
 तें तासु पसाएं हरिस-विसाएं रायऊन अणु भीससिय ॥८॥

[३]

अह सो पएसु बोलिउ कमेण । काणए वि केवलु न य मणेण ।
 पाथिय मएंगनंदए-वणम्मि । आहत मणोहर कोल तम्मि ।
 मित्तह उवरोहें अट्ट विचित् । कोलः कुमार अहहरिय-चित्तु ।
 तं वयण-कमलु तीय वि सुताः । जायायण-सर-नोसरिउ सार ।
 विवाहर-कतिय-विफुरंतु । सिय-दहण-किरण-केसर धरंतु ।
 थियसाथिय-नोयण-इल-विसाल । अंळिउ चितंतउ को वि कालु ।
 तो उच्चिय-काले नयरिहि पविट्टु । अंकउ वियस कज्जु सयलु वि विसिट्टु ।
 वासह वि जाव बोलिउ कमेण । सण्त रत्ति पूरिय तमेण ।
 तो कुकलइ सिह इय भाषिऊए । पैत्रिय वयंस समाणिऊण ।
 गउ वास-अवणि मणहरि थिचित्ति । परिसंठिउ सयणि महांमहंति ।
 सेज्जहि वैलंतह थिरह-पत्तित्तह वीरेस-सरिस बोसिय रयणि ।
 तारायणु फुट्टउ कमलु विसट्टउ तरंग-तेउ पसरिउ गयणि ॥९॥

[१०]

एत्थंतरि आगय ते वयंस । पणमंति कुमारह काय-पसंस ।
 उवरीयइं तो पवरासणाइं । तंबोसाइं सयलहं वावियाइं ।
 पच्छा भवणुज्जाणहं समित्तु । चत्तिउ कुमार कोला-निमित्तु ।
 नाणा-कोसाहि य अट्ट-पयाः । अहहरिय-चित्तु कोलइ कुमार ।
 कोसंतउ चित्तें सुनएण । लक्खिउ अणुभूइ-वयंसएण ।
 अं अज्जु कुमार विरुद्धाय वेहु । तं निज्जउ मयण-विवाच एहु ।
 अह चित्तइ कोला-वइयरम्मि । गय तीणि वि माहवि-मंडवम्मि ।
 वसुभूइ पभेणित्तं ओ वयंस । कहि पुणइ-नारि-कण्णावयंस ।
 तुहु अज्ज कौस विरुद्धाय-काउ । जि! विवस-मज्झि नक्खस राउ ।
 पुणु सणे विनिवारिय-सयल-वेट्टु । अचद्धहि मुणि जिह भाणोवविट्टु ।

खण लड-साहु जूयाह जेव । परिओनु बहहि निय-चिति तेंव ।
तेण वि गोवंति मुहुं जोवंति पाठ-पियस्स वि कहिउ पुणु ।
हुं कि पि न लक्खमि जं तुह आल्लमि जेण मयल्लु विवरीय-गुणु ॥१०॥

[११]

वसुभूइ पभणजं तो हसेवि । मणं लक्खिउ वर जोइसु गजेवि ।
कुमरेण वि जंपिउ कि तयं ति । प्रक्खहि वयंसं जं लक्खियं ति ।
ते जंपिउं नरवड्ढ बालियाए । सिमु लेविणु बजलह मातियाए ।
आरोविउ गणयउ चित्त-भाह । तं तुह सरीरे एरिसु बियाह ।
दिट्ठि-च्छलेण विट्ठो य तोए । मुहुं मिस मयण-सर-वीरणीए ।
तरलेहि व मुठ्ठ विसालएहि । मुहुं नयण-कुमुमालएहि ।
अग्रह अयंठे किर कज्जु कज्जु । परिपंडु वीसह वयल्लु अज्जु ।
अन्नु वि अलड-निहा-सुहाइ । आयंवंदं तारइं लोयणाइं ।
तह वीह वीह नीसास-पंति । अन्नंतं दुक्खु हिययह कहंति ।
कोलः वि सख मुन्नज करेहि । वत्तामु मुन्नु हुंकार वेहि ।
ता मा संतप्पहि कि पि मित्त । तुह उवरि सा वि अणुरत्त-चित्त ।
बहुमाणे तरिसिय दूईव पेसियाबजल-माल जें तुह उवरि ।
तेण य तुह संगमु तिहुयण-उत्तमु इल्लइ सा वि म सोउ करि ॥११॥

[१२]

अन्नु वि अवस्स-भविण्व एसु । अयहिउ विहि सव्व-पञ्चोयणेसु ।
चित्तइ कज्जाइं अणागयाइं । महिमुह डूरह वि घडइ पियाइं ।
ता भो कुमार छड्ढहि विसाउं । अहमेव करमि किवि वि उवाउ ।
पडिवन्नु कुमारे हूरिसिएण । वसुभूइ विसज्जिउ तत्थ तेण ।
एत्तहे विलासबड-धावि-धूय । नामे अणंसुं देरि सुकूय ।
तोए सह संगमु किमउ तेण । सा लग तासु पुरिसह गुणेण ।
एवं विघ धोलिय दिवस के णि । सो चित्तइ सास परिच्चएवि ।
मह कज्जु न अज्ज वि किज्जिंतेण । साहिउ वसुभूइ-वयंतएण ।
अट्ठा नवि पसरिय बुद्धि तासु । तें कज्जे एइ न मउभ पासु ।

इय सो एवं विय चितयंतु । गड सेज्जहि कज्जु परिचयंतु ।
ताहि नावड भालउ परभाक्कतउ नाइ मूढुं नं मुच्छियउ ।
नावड गह-गहिपउ अहवड भीयउ वेवगण-तणु अण्णियउ ॥१२॥

[१३]

जा येव-वेत्त ता तुहु-चित्तु । वियसिय-मुहु सो वसुनूइ पत्तु ।
सो पेच्छवि तो लक्खिउ इमेण । अइणियसिय-वयण-वियारण ।
जिह् दीसइ एह् विम्हय-सहाउ । साहेगैणु कज्जु अक्कस आउ ।
तें जंपिउं छडुहि मित्त सोउ । अंगीकरेहिं गश्यउ पमोउ ।
उक्कोहि सेज्ज पोर्सु करेहि । निमुणोहि वत्त साहसु खरेहि ।
संपन्नउं तुज्ज समीहियं ति । सो भणः मित्त अक्खहि कहं ति ।
तें कहिउ अज्जु हउं गयउ आसि । मंदिरं अणंगमुंदरिहि पासि ।
सा विट्ठिय मइं पव्वाय-वयणि । ईसीकि-असु-पगलंत-नयणि ।
मइं पुच्छिय सुं वरि कहहि मक्कं । निवंअह कारणु कणु तुज्जु ।
अह भणिउ तोए किं अक्खिएण । बुबणेण तहे सहरिस-मणेण ।
निम्मल-अप्पणे पडिबिउ ओव । संकमइ अहे न वि दुक्खु तेंव ।
मइं वत्तउं सुंदरि सव्व एउ । विरल च्चिय जाणाहि गुणहं भेउ ।
विरल च्चिय विरयहि ललिय कव्व । किरल च्चिय जण सामण्य-वव्व ।
विरल च्चिय परकज्जइं कुसंति । परदुक्खं दुक्खिय विरल हुंति ।
तह् वि तु मयलोयणि तुज्ज पओयणि अंपाडेवइ अरिय मणु ।
ता कहि अवियण्णिय तोए वि जंपिउ जः एरिसु ता कहमि सुणु ॥१३॥

[१४]

भरवइहि धूय महु मणे अभिन्न । नामेण चित्तासवइ त्ति कण्ण ।
सा मज्ज वहिणि सहि सामि-सालि । पण्डियम अक्कथ ह्य तहु अकालि ।
मइं पुच्छिय कवणें कारणेण । सा भणइ मयण-गह-पोडणेण ।
मइं जंपिउं सुंदरि वम्महस्य । निज्जठ-नीसेत्त-सुरासुरस्स ।
रड-नाहूह खंडिय आण केण । विदलिय-जाएण व जिणवरेण ।
न मुणमि आण खंडिय न व त्ति । पर त्तिसउ महु संताउ जित्ति ।
अं तसु मण-संठिउ पुरिसु कोइ । कह वि इं न मुणिज्जइ एत्थ सोइ ।

मई पुच्छिय किहू सा भणइ तर्गम । वटंतइ मयण-महूसवम्मि ।
 नोसरिय नयरि-बच्चरि गणेंसु । उज्झाण पयेट्टसु पुरजणेंसु ।
 अणुमाणें जाणमि कोइ ताए । बच्चरिया-वेडिय-संगयाए ।
 पच्चवज-मुत्ति नं पंचवाणु । इण्ड-परम-रूवु दिट्ठउ जुवाणु ।
 अन्नहू कहू एरिस कन्न महायसःअसरिसु कइय वि थर वरइ ।
 पंकय-तिरि-मणहर-सोहिय महुइर हइ-वरणेंसु कि रइ करइ ॥१४॥

[१५]

मुक्का य तीए महुपर-वमाल । नैय-हृत्य-मुत्थ वर-वउल-माल ।
 पडिया सा तीए मणोरहेहि । तनु कंठ-बेसि सह महुत्तिहेहि ।
 अबलोइउ उप्परि-हुत्तु तेण । तो कंठि निवेसिय सहुरिसेण ।
 आणंडु तीए अहिययस जाउ । गहु उवरि एट्टु किर साणुराउ ।
 सो अन्नलोय-संपाय भीरु । तनु हियउं हरेबिणु गउ सुधीरु ।
 तप्पनिइ विलासवई वि देवि । अज्जइ यावार गरिचवएवि ।
 तहू विहिय ह्यास वम्महेए । मिहू कहू वि न सक्किज्जइ मुहेण ।
 एहू वइयरु महु बच्चरिययाए । थक्किउ पुणु तीए वि निव सुयाए ।
 आसासिय सा मई सुवयरहेहि । कामिणि विसाउ मा मणि करेहि ।
 भेलेमि अरवत्तु वि वल्लहेण । घरइ य कुमुदणि सयलंछणेण ।
 एरिसु मणेवि चर-लोयणेहि । जीइउ घर-देउल-उववणेहि ।
 न य सो उवल्लउ जिहू मयरट्टवः थयणविचारि तो कलिय ।
 महु मणु वेयारिउ कज्जु न सारिउ एहू अणंगमुं दरि अलिय ॥१५॥

[१६]

निअमर-उकंठा-अरिय-चित्त । अहू विरह-हूयासि दिट्ट-पल्लित्त ।
 तयसोउ वि तल्लउं उक्किऊणें । सहियणहूं खंभु अरव लंविऊणें ।
 पासाय-सिहरि जाएवि समणु । अबलोइउ सो च्चिय रायमणु ।
 पुणु आसुपासु सयलु वि गविट्टु । मणु-वल्लहू तीए न जाव विट्टु ।
 तो उण्हउं दीहू नोससेवि । आणुपवाहि लोयण भरेवि ।

मरिण-बलय-भयानक-रव-सपाहु । विद्वान्निधि कर-पल्लवु ललिय-बाहु ।
 सिद्धिविधि तस्य धरिय सहोयणेण । सा महेऽमुबागय तक्कणेण ।
 इय जाय वत्त एत्तिय कहेइ । संभंतु कुमरु उट्टिवि भणेइ ।
 मण नयणार्णदणि कथ्य रोहि । अच्यइ कर्तं सा महु कहेहि ।
 तसु एत्तिय जीविय-संसएण । कि अच्य जि भित्त विलंविण ।
 वसुसुइ हसेविष्णु भग्गइ धरेविणु । वत्त एह तुहुं कहिय पहु ।
 एउ देव न सच्चउ संभमु मुक्कउ । वत्त-सेसु आयणिण महु ॥१६॥

[१७]

तो ईसि हसेवि विलक्क-चित्तु । उवविसिंवे सयणे निसुणइ पवत्तु ।
 वसुसुइ तासु पुणरवि कहेइ । एरिइ अणंगसुंवरि भणेइ ।
 तो सा महे निय-उच्चयि लेवि । वच्छवले चंथणु बहुलु देवि ।
 किउ कंठि मुणालिय-बलय-हार । परिकित्तु पवणु मेत्तिय-तुसार ।
 तो अत्तमुम्भिल्लिय-तोयणाए । कुहकह वि लद्ध वेयण अणाए ।
 तो सा महे पुच्चिय महु कहेहि । सामिण कि बाहइ तुउभ देहि ।
 तो उवकड-मयण-विचारयाए । अन्तु वि सहियण-लज्जानुयाए ।
 अपरिफुडु एरिसु जंपियं ति । पियसोइ तस्सेव अवंसणं ति ।
 तो तोए हियय-साहारणत्तु । महे जंपिअ एरिसु अत्तिय वत्तु ।
 सामिणि तुहुं होहि तचोर-चित्त । उवगोड सयल महे तासु वत्त ।
 तसु कारण सामिणि सत्तिय-गामिणि विग्गवेसु एककंसएण ।
 एरिसु निसणेविष्णु महु तूसेविणु । किउ पसाउ कडि मुत्तएण ॥१७॥

[१८]

एत्वंतरि आगय जणणि तासु । पभरिण विलासवइ साहिलामु ।
 उट्टेहि पुत्ति सारेहि वीण । महारणं पेत्तिय तुज्ज आण ।
 तइ तासु पुरउ बहुविह-पओउ । कायवइ अणु वीणा-विणोउ ।
 तो उट्टिअ वि गुरु-लज्जानुयाए । वणमेत्ति जणणि जंपिउ इसाए ।

पर मनइ कहू वि अनिदिण । पाकिजइ जइ केणइ नयण ।
 निमुणिवि अणममुंदरि भणेइ । ता सामिणि कोस न अचहरेइ ।
 अणुराय-सहाअहं सम-अणुठवहं अचहरणु वि कुल-कन्नयहं ।
 विहि एहू भणिजइ न य निदिजइ । पुरिसहं साहस-उन्नयहं ॥१६॥

[२०]

मइ बोल्लिउ सुंदरि अत्थि एउ । परःएरिसि कियइ न होइ सउ ।
 अइ-अल्लहू नर नाहहू कुमार । सवइत्थ अक्कल्लिउ तसु पयाइ ।
 उयणीउ तस्स बहु मरणएण । जीवणु महंतु न य गहिउ तेण ।
 जं कुमरु भणइ तं चिय करेइ । ता मणियउ सा वि कयावि बेइ ।
 ता अल्लमिण तुहं ताव जाहि । अइअत्थ अत्तेसु सामिणिहि साहि ।
 अणु वि मह कहहि उवाउ कोइ । जं दोणु वि दंतणु ताए होइ ।
 अहू भणिउ तीए एरिसु करेमि । पुणु सामिणि भवणुज्जाणि नेमि ।
 तुहं पुणु अणिज्जइ तहि कुमार । तीं दंतणु होसइ निश्चियार ।
 इय जंयि वि मय सामिणिहि पात्ति । इहं पुणु संपत्तउ तुह सयात्ति ।
 एहू अइयत्थ अक्कल्लउ मइ पहाणु । स्पंइ पुणु कुमरो चिय पयाणु ।
 एरिसु निमुणेवि सणकुमार । सववाउ वि सोक्खहं गयउ पार ।
 तं पीइहि पडियउ धीइहि चडियउ । नाइ महुसउ पावियउ ।
 वसुअइहि तु ठउ पुणु सुविसिद्धउ नइय-जुयलु तसु वावियउ ॥२०॥

[२१]

वसुअइ भणियउ तो सबहुमाणु । न कयावि करउ तइ अप्पमाणु ।
 अहू ते गय अणुज्जाणि दो वि । अइत्थ भवेवि तहि सवअो वि ।
 तत्थ वि अकाल-कय-दोहणेहि । कुम्भिय असेस तर-मंडलोहि ।
 उप्प वि उउ निअत्ताहि सवकालु । अणुज्जाणु मणोहक तं विसालु ।
 पदमं चिय तिलयासोय जं तु । किण-सिन्दुवार मंजरि वसंतु ।
 मइ वि मल्लिय-परिमल वहतु । पाउसु कयं-वासिय-दियंतु ।
 पुणु मय मय-गंध-सरिचउएहि । अरउ वि सहिउ सत्तच्छएहि ।

पिञ्जर-पियंगु-मंजरि-विसिट्टु । बह्नि रोद्ध-गंधु हेमंतु विट्टु ।
 उद्दाम-कुर्व-धवलिय-विसोह । सिगिरो विह्णु पोयय-जणिय-सोह् ।
 अग्ने वि नाणाविह-कुसुम-वेसु । कुमईण पलोइय तत्र असेसु ।
 नाणाविह-गंधहि कुसुम-समद्धिहि सखकाल-उज्जाणु धणु ।
 रमणीउ विहावह नंदणु नावद देवणा वि अचहरइ मणु ॥२१॥

[२२]

जा हिहर्हि तहि अञ्जरिय-जुत्त । तत्र य अशंगसुंदरि पवुत्त ।
 उवसिपियि नणइ कुमार एह । संश-लय-वेहु अलंकरेह ।
 अप्पणु आसराह परिगहेरण । वसुसुइ पञ्चोइउ तो इमेण ।
 अह सो कुमार-संभुह्ण भणेइ । कोउउ जं एसा आरावेह ।
 अह ते गय चंदरा-लय-हरम्मि । विट्टुया य मउभ विणिविट्टु तम्मि ।
 तारायण-परिवुठ मुक्क-मेह । विट्टुईय कंति जह चंदलेह ।
 परिधारिय निउण-वयंसियाहि । नं रायहंसि कलहंसियाहि ।
 नाणाविह-कुसुमोच्चयधरोहि । नं कामह गेहिसि उउसिरोहि ।
 कोमल-सुता-र-गिर-भासिरोहि । नं मंजरि वेदिय मट्टुयरोहि ।
 मुत्ताहल-कलिय-पओहरोहि । नं ऊलंहे थेल सुमणीहरोहि ।
 नं धणु कड्दंतउ सरु संथंतउ मयणु निएविणु बल-धियलु ।
 विहिणा मुपसदिधिय विहिय सहस्थि य न्णे सा भिवइ जगु सयलु ॥२२॥

[२३]

अह लहइयारस्त-बल-कमल-सोहेहि । धण-लग-प्रंगुलि-विनिगय-बलोहेहि ।
 अइ-विमल-नहयंद-पसरंत-किरणेहि । कुम्भुअएहि सराएहि चररोहि ।
 चरणाशुरुवाहि गय-रोम-संधाहि । कुम्भ-पिञ्जरिय-मुकुमार-बंधाहि ।
 वम्मह-महामल्ल-नुणोर-जुल्लेण । वायाम-ओरेण धण-ऊर-जुयलेण ।
 विट्ठिण-मणि-मेहलाहरण-किरणेण । सोणुइ नियेण नं मयण-भवणेण ।
 तेलोक्क लयण-जल वूय सरिसेण । सधमाब-गंभीर-नाहिप्पेण ।
 कसिणाए नं काम-कोवड-जेहाए । तणु-रोमराईए कय-मउभ सोहाए ।

नव-जोव्यणारुहण-सोवाण सूपण । नुचक्षेण मञ्ज्रेण तिवलो सणाहेण ।
 पइविबस-परिणःह-उडिमज्जमाणीं।।लायण-जल-भरिय-कलसेहिं सिहिणेहिं।
 मुकुमाल-वाहेहिं अप्पत्त-मुत्तेहिं । हत्थेहिं कंकेल्लि-पल्लव-समुत्तेहिं ।
 परिमंडलाए तिलेहाए गोचाए । श्रहृत्सल सोहाए जिय-बंधुजोवाए ।
 निग्गय-मऊहेहिं जिय-कुं व-कुसुमेहिं । बंतेहिं कंतेहिं घण-निज्ज-सुसमेहिं ।
 तु नेण मुट्ठेण नासाए वंसेण । ऋसि-विष-सारिच्छ-गंडप्पएसेण ।
 तिहूयण-जयत्थं व संनिहिय मयणेहिं । वियसंत-नव-कुवलपामेहिं नयणेहिं ।
 वंकेए किर काम-कोयड-कसिणेण । सोहइ गुरुथेए भुमयाए जुयत्तेण ।
 सोहइ निज्जलेए अलयालि-सहिंएण । नावइ मियंकेण दर-राहु-गहिंएण ।
 मणि-कुं इलाहरिय-मुइसत्थ-पुणोहिं । मयत्तस हिंदोत्तएहिं व कण्णेहिं ।
 मिउ-कसिण-ससाधेण केस-कलावेण विविह-कुसुम-परिवासिण ।
 चंपय-लय नावइ मुट्ठु विहावइ मर-कुलेण व संसिण ॥२३॥

[२४]

इय परम-रुव-सोहा वहुंति । सहिंयाहिं सहिउ किञ्चि वि कहंति ।
 मणि-बंधिय-रुणयासणि निविट्ठ । एरिस विलासवइ तेए विट्ठ ।
 सा पेच्छवि मोह-परस्वसेए । निर-चित्तिय विवप्पिउ एउ तेण ।
 विहिणा इह निरुवम-रुव-वेह । वृण-अक्खर-नाए विहिय एह ।
 जह एरिसु तसु विस्साणु होइ । ओ कोस न विरयइ अन्न लोइ ।
 इय सो चित्तंतउ निय-मणम्मि । णोए वि पत्तु इंतण-पहम्मि ।
 पुसइउ सिणेह विपपंतएहिं । कसिणारुण-धवल-चलंतएहिं ।
 तारेहिं असमतालोयणेहिं । ईसीमिं सलज्जहिं लोयणेहिं ।
 सा कुमह निएविणु तक्खणेए । गहस त्ति सभुद्धिय सग्गसेए ।

कुमरेण भणिय चालिय-करेण । सुंदिणि अलमलमदसंननेण ।
 जंपिउ सहीए एत्थेतरम्मि । बइसह विलासवइ आसणम्मि ।
 उवविट्ठु तस्य सहरिसु कुमार । अणुअथउ विहिउ महोबयार ।
 कलहोय-विमल-सलियाए तासु । संबोक्तु वि दिग्गउ पंचवामु ।
 ते जंपिउ आसणु उहिसेवि । उवजिउउ विलासवई वि देवि ।
 अह ता उवविट्ठिय अइसय तुट्ठिय जइ अणंतउ बोतियउ ।
 ता तस्य बहिल्लउ हीए महल्लउ क्खित्तुइ संपाविअउ ॥२४॥

[२५]

पणमिउ विणएण सणकुमार । तेण किं तो विहिउ किओबयार ।
 अह तो विलासवइ इय भणोइ । तरनाइ! कुमरिए आएवेइ ।
 बीणा-पओय बोतरिय जेए । तुह उवरि! कल्लि हउं खु तेण ।
 ता अणु लहुं चिय ते सरेहि । महु पुंरउ बीण-वायणु करेहि ।
 एरिसु निसुणेविणु सा भणोइ । जं किंनि ताउ आएसु वेइ ।
 पडिबज्जिवि तो कंचुइ-समेय । लयहरह विणिग्गय सिग्ग-वेय ।
 जोयंत सिणेह-वलंतएहि । नयरोहि! कसिणुज्जल-रत्तएहि ।
 मंयर-मइ सुतणिय-वलिय-हत्थ । मुहल्लि-मणिरसणा अलिय-वत्थ ।
 निय-भवणे किंपि कंयंत-गत । अयण-सर-आय-नीय ख्व पत्त ॥२४॥
 समुसुइ भणइ उट्ठेहि मित्त । निय-घरह जाह सुवित्तय-चित्त ।
 विट्ठी च्चिय पर मालवउ वेसु । मंडा वि न खडा इय विसेसु ।
 एदु तुग्गहं दंसणमेत्तु जाउ । तो पत्तु महल्लउ अंतराउ ।
 किर गोट्टि का वि होखइ विसिट्टु । तो पाहम-गासि मक्खिय पघिट्टु ।

एत्थ वि विलासवद्-वज्जिएण । ईक अज्ज वि मित्त विलंबिएण ।
 निग्गय उज्जाणह् वल्लिय भवणह् एत्तहे अत्थि अणंगवद् ।
 अंतैर-मारिय नरवद्-भारिय कुम्म देविल तौह चलिए मद् ॥२५॥

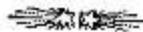
[२६]

जं विद्धु कुमारु मणोहरंशु । मं तीए परवसु ह्ययउ अंगु ।
 विवरीय-पाउ एह् मयणु होइ । सं कज्जाकज्जु न मुणइ कोइ ।
 मुज्जंति एत्थ तर पंडिया वि । पुणु पुणु वि पयट्टुहि खंडिया वि ।
 यत्तुरय खड्दे मुवणु जेव । पेज्जंति सव्वु अगुकूलु तव ।
 कुसु सीलु ठाउ नालोचयंति । खणमेत्त सुहत्थु परिच्चवन्ति ।
 सं कुमर-रुवु परिभावयंति । गय भवगुज्जाणि तरिउ पत्ति ।
 अह् ते थि पत्त निय-मंदिरम्मि । एत्थतरे वियलिये वासरम्मि ।
 पट्टविय विलासवर्देय लेवि । कल्लोय-विमल-तलियाहि करेवि ।
 विज्जाहर-बंधि-गुत्थयाइ । कुमुमाइ सिद्धुयारुभवाइ ।
 तंबोलु वि सरिसु विलेवणंण । इग्गय अणंगसुंदरि खणेरु ।
 पणियाउ करेविणु भणित तीए । सामिय विभन्नत्त सामिणीए ।
 एयाइ सहत्थे गुत्थयाइ । कुमुमाइ दइय-जण-जोगयाइ ।
 जइ किज्जइ अन्हह उवरि भेह् । अप्पणु अरस्स उवभोगु नेह् ।
 कक्कोल-एला-जाईकलेहि । कप्पूर-वेलिल-वत्तलह-दलेहि ।
 कप्पूर-वास-पोफ्फल-कसाउ । नग-खइर-सार-सहयार-साउ ।
 तंबोलु सवाणउ अज्जउत्तु । अम्भ्हं पसाउ कीरउ वहुत्तु ।
 सो इय जंपत्थिय कुमरे वुत्तिय देहं किचि जं आइसइ ।
 तं चेव थ किज्जइ न वियप्पिज्जइ मा अन्नह संभाविसइ ॥२६॥

[२६]

निय-फुल्ल-माल परिहरिवि तेण । सा कुसुम-माल धारिय सिरैण ।
 पिय-पेसियं ति बहुमाणएण । अंगं पि झालित्तु विलेखणेण ।
 तह निययावीलु परिष्वाएवि । तंबोलु स्वाणित पिउ करेवि ।
 विहसेविणु भणइ कुमार-इदुठु । सुंदरिः नई कुमरह विणउ विदुठु ।
 सा भणइ विणउ एयारितेसु । अउरिः न होइ न य सज्जणेसु ।
 इय का वि खेल कोसहि गमेवि । बहु सपरिहासु बक्कक करेवि ।
 परणमेविणु तो नरवइ-सुयसस । अहितयः प्रणंगसुं दरि घरसस ।
 तहे धिन्नउ कंठउ भुवण-सास । पडिचकि करेवि जंपइ कुमास ।
 सुंदरि घर सुठु अप्पणउं एउ । प्रागमणे करेवउ ता न खेउ ।
 जो सामि सुंहे आएसु देह । इय भणिसि पडुत्तिय नियय-नेठु ।
 पाहुउहिं मंहंतेहिं पेत्तज्जेतेहिं निबनर-पेम्म-परायणहं ।
 कइय विदिण बोत्तिय आस-पहेलिक विगिय हियय-साहरणहं ॥२७॥

[३३] विलासवई-कहाए पठ्मा संघी समत्ता ॥



विलासवई--कहा

साधारण-कवि किरचित

(१) बलाश्रो कंठ में धारण किया गया काव्यरूपी हार किसे घोषा नहीं देता, और लोगों के मनों को मुग्ध नहीं करता ? जो (कंठहार) बहुत रत्नों से मनोहर, निर्मल पदों को धारण करने वाला, गुण (डोरा और गुण) से सहित, और सुवर्ण (स्वर्ण अच्छे रत्न) से अधिष्ठित है ।

पहले कृष्ण स्वामी को प्रणाम कर, फिर भय को जीतने वाले अजितनाथ की स्तुति करता हूँ। संसार का नाश करने वाले, संभवनाथ का ध्यान कर, मुशों के निवास अभिनन्दन की वंदना करता हूँ। आदरणीय नाम वाले मुमतिनाथ वल स्मरण कर मैं पद्म जिनवर को प्रणाम करता हूँ। देवों के द्वारा प्रशंसित सुपाशर्व का ध्यान कर, बंधनों का त्याग करने वाले चन्द्रप्रभु, स्फुरित शान्ति वाले पुष्पदंत जित, पाप रूपी शत्रुओं के लिए महायम के समान शीतलनाथ, श्लेषसुखों की खान धेयांस, समस्त प्राणियों को अनुरंजित करने वाले वसुपूज्य का चिंतन कर, श्रीर भी विमल श्रीर अनंतनाथ जिनेन्द्र की याद कर, धर्म और शान्तिनाथ को स्तुति कर, कुंथ श्रीर अरहताथ स्वामी को नमन कर, मैं, मल्लिनाथ मुनिसुव्रत की धारण जाता हूँ। नैमि उसी प्रकार अरिष्टनेमि को नमस्कार कर, फिर पाशर्वनाथ महावीर को वंदना करता हूँ।

यत्ता—सुख से सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और मुनियों को प्रणाम कर जिन्होंने हाथ में पुस्तक धारण की है, और जो ज्ञान के महार्थ वाली हैं ऐसी श्रुत स्वामिनी (सरस्वती) का स्मरण कर। (१)

(२) लोगो ! एक क्षण के लिए धरने कान दो, मैं जो धर्माश्रर कहता हूँ उसे सुनो। जब तक दूसरा लोक दूषित नहीं होता, तब तक किया गया धर्म कथा-विनोद अच्छा। जब तक काल परितृप्तियों में नहीं बीतता, तब तक आलोचित कर्मजाल अच्छा। अपने मन से सोचो, दूसरों के दोषों के उद्घाटन में कौन सा गुण है ? चाहे मैं गुण विद्यमान हों या विद्यमान न हों, दूसरों के दोषों को प्रकाशित कर्म से क्या ? उसमें न तो यश मिलता है और न अशय, दूसरे, यही बैरी हो जाता है। जिससे दूसरों को पीड़ा उत्पन्न होती हो, ऐसा काम पंडित को नहीं करना चाहिए। जो काम हँस कर किया जाता है, फिर उसका निस्तार रो-रो कर भी नहीं होता। यदि थोड़ा भी प्रमाद किया जाता है, तो दूसरे जन्म में वह महाविपाक वाला हो जाता है। यहाँ प्रारम्भ में, मैं कथा कहता हूँ इसीलिए भव्यजनों से यह अभ्यर्थना की है; कर रहा हूँ।

प्राण प्यारे भर्ता (पति) के साथ खिलासवती भारी, प्रमाण फल का जिस प्रकार अनुभव करती है, कुतुहल उत्पन्न करने वाली संकड़ों गुराँों को देने वाली वैसी वह कथा सुनो । (२)

(३) इस भारतवर्ष में अत्यन्त सुन्दर सेयविय (श्वेत विस्र) नाम की श्रेष्ठ नगरी है । जिसके प्रासादों की शोभा, शरद् काल के मेघों के समान धवल है, जिसके देवकुलों की कतारें जनसमूह को संतुष्ट करती है, जो प्रसन्न पुष्पशाली जनों से सेवित है, जो अनेक हजार दिवसों में वर्णनीय है । जो पवन से हिलती भ्रज संक्रियाँ से ऐसी मालूम होती है, जैसे देव समूह को बुला रही हो । उसमें शत्रु रूपी कृदों की जड़ों को उखाड़ने वाला यशो वर्मा नाम का राजा है, जो तरुण सूर्य के समान प्रताप वाला है, जो अनेक राजाओं के मुकुटों पर अपना पर रगड़ने वाला है । उसकी भी समूचे अन्तःपुर में प्रमुख तथा अनेक गुराँों की निधान कीर्तिमती नाम की रानी है । उन दोनों के भुवन में श्रेष्ठ सन्तुष्टुमार नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । उसके जन्म दिवस पर, स्पष्ट भाषण करने वाले ज्योतिषियों ने यह कहा कि समस्त लक्ष्यों से युक्त यह बालक, विद्याधर राजाओं का राजा होगा । पिता का भ्रान्त प्यारा, त्याग का घर, प्रणयीजनों का कल्प वृक्ष, उदारता से गृहीत परिजनों के लिए द्रष्ट, और स्त्रीजनों के लिए कामदेव है । (३)

(४) इसके अनन्तर किसी दूसरे समय, नहीं दिखाई पड़ने वाले आरक्षकों ने कोई चोर पकड़े, उनके द्वारा चोरों को विचित्र विडंबनाएँ की गईं, और मारने के लिए उन्हें ले जाया जाने लगा । घोड़ों के खेलने के मैदान में गए हुए और लौटते हुए कुमार सन्तु ने उन्हें देखा । तब उन चोरों ने कहा — हे देव! दया करिए, हम तुम्हारी ही शरण में हैं, हे स्वामी! हमने एक बार यह छोटा काम किया है और आज भी हमने चोरी का फल नहीं भोगा । यह वचन सुनकर राजा के दयालु पुत्र ने सब चोर मुक्त करवा दिए । जब कुमार के द्वारा मुक्त कराए गए चोरों को नागरिकों ने देखा, तो सब के सब नाराज हो गए । यह सारा वृत्तान्त आरक्षकों ने राजा को बताया । उसने भी इस प्रकार का आदेश दिया जिससे विकाररहित सन्तु कुमार ने जान पाए, चोरों को पकड़ कर

नागरिकों को दिखाकर, इस प्रकार चोरों को डंड दी। तब धारक्षकों ने चोरों को पकड़कर भार डाला। कुमार ने यह वृत्तांत जान लिया। वह अपने पिता और राजा से क्रुद्ध होकर प्रपमानित होकर घर से निकल गया। ४

५ नौकर चाकरों के मना करने पर भी वह तत्क्षण नगरी से निकल गया। जो महापुरुष होते हैं, कि थोड़ा भी अपमान सहन नहीं करते। अपने मनचाहे कुछ अनुचरों के साथ, वह समुद्र के किनारे पहुंचा। जहां अपने वैभव से घरती को अर्लक्षित करनेवाली शीतामलिनिका नाम की श्रेष्ठ नगरी स्थित है। वहां, जिसका प्रगत वर्ग में कृपाभाव बढ़ा हुआ है, ऐसा ईशान चंद्र नाम का राजा है। उसने भी सन्त कुमार को जान लिया, और वह, सपरिवार उसके सम्मुख चला। कुमार ने भी विनय के साथ राजा को प्रणाम किया। उसने भी उसे बहुत माना और बहुत कृपा की। उसने कहा—हे वरुण! तुमने यह अच्छा किया कि जो पिता से रुष्ट होकर तुम यहां आए। यह भी तुम्हारा अपना राज्य है। इसलिए हे पुत्र! तुम अपना काम बताओ।

तब नगर में प्रवेश करते हुए कुमार को लोगों ने नेत्रों को आनंद देने वाले चन्द्रमा के समान देखा। उसे धन से परिपूर्ण आवास दिया गया। कुमार के दिन सुख से कोतने लगे। ५

६ कुछ दिन बीतने पर राजा ने कहा—हे कुमार! तुम मनवाह्य (स्वतंत्र) जीवन स्वीकार करो। किसी कारण, कुमार ने भी किसी भी प्रकार का जीवन स्वीकार नहीं किया। इसी बीच, जिसमें प्रचुर विलास का प्रसार हो रहा है, ऐसा सुंदर मधुमास भी पहुंचा। अश्विनीकी लोगों को आनंद देने वाला तथा विविध कामुक विकारों को प्रकट करने वाला मानगियां के मान का निर्दलन करने वाला महकता हुआ दक्षिण पवन चलने लगा। समस्त कानन वन विकसित हो उठते हैं, जैसे पथिकों के मन खिल गए हों, जहां घर घर भूलों में भूलने वाली स्त्रियां, कलाशुद्धि में श्रद्धा करती हैं। जहां विविध आसव लिए जाते हैं और नए नए प्रेमों का विकास होता है। जहां विचित्र चंचरी दी जाती है और युवतियां प्रव्रज होकर उन्हें खेलती हैं। श्रेष्ठ पंचम स्वर में गीतों की ध्वनि प्रवृत्त हुई, वे सब देवकुलों की यात्रा करती हैं। लता रूपी पृथ्वी से सुन्दर, विभक्तित पराग वाले पाटल पुष्पों से सुंदर मधुमास (वसंत) भी मद्माते वन में झेंझता है, विधवाओं में उद्वेग भरता हुआ। ६

७ जहां सरोवरों में बड़े बड़े पत्तों वाले कमलों से शोभित कमलिनो उल्लसित है। महकते हुए परागों से पीली आममंजरी जहां शोभित है।

जहाँ पुष्प वृक्षों से बड़े बड़े पुष्प भर रहे हैं, उनके खिले हुए डेर शोभित हैं, असीक और मौलवी शोभा से युक्त हैं। कोयलें सुंदर कान कल बाज कर रही हैं। लक्ष्मण कुमुदमार से लौक गए हैं, मधु से मतवाले अमर गुनगुना रहे हैं। लाल लाल फूलों से आच्छादित बदन वाले परराज नए दूधों के समान प्रतीत होते हैं। निगुंडी वृक्ष सु शोभित हैं, पाटल वृक्ष परराज से अभिभूत हैं। महकती हुई माधवी मउपिका कामदेव के द्वारा मुक्त कडिका की तरह मालूम होती है। नव वसंत को देखने में आरार रखने वाले दिन, धीरे धीरे बीत रहे हैं। पुष्प परराज का पटल इस तरह फैला हुआ है, माली कामदेव के द्वारा रचित विश्व भास हो।

इस प्रकार मदन महोत्सव में अपने की भूषित कर कामदेव का पुत्र सनत् कुमार, मित्रों के साथ नगरी के प्रमुख उद्यान में खला। ७

८ तब अनेक लीला किलारों से युक्त (कुमार) राजमार्ग से जाते लगा। इतने में, वहाँ राजा दैवान चंद्र की अत्यंत रूपवती और विविष्ट, विलासवती नाम की कन्या थी जो अपने घर के भरोसे में बंठी हुई राजमार्ग देखती है। उस समय उसे राजकुमार दिखाई पड़ा, मालो जैसे वही सदेह साक्षात् कामदेव ही। फिर कृत्रिम का अभ्यस्त (अनुभूत) अनुराग (प्रेम/लासिमा) उसमें उसी प्रकार फैल गया, जैसे सधैरे पूर्व दिशा में लासिमा फैल जाती है। उगने अपने हृदयों से गुंथी हुई मौलवी की प्रशस्त मुसंधित माला कुमार के ऊपर फेंकी। वातायन के समीप, नीचे जाते हुए कुमार के कंध में वह माला जा पड़ी। जब कुमार ने ऊपर देखा तो उसने राजकन्या का अर्थात् इष्ट मूख देखा। निरचय ही कुमार के उस अत्यंत प्रिय तथा सदैव पास रहने वाले एकचिंत मित्र वसुभूति ने भी उनके भाव को जान लिया कि कुमार को गहरा अनुराग हो गया है। फिर उस मित्र की खिली आँखों से देते जाते हुए कंध में उसने मौलवी की माला पहन ली। उसके हर्ष विषाद वाले इस प्रसाद से राजकन्या ने निःश्वस छोड़ा। ८

९ इसके बाद कुमार ने वह स्थान छोड़ दिया, शरीर में, मन से नहीं वह कामदेव के जन में पहुंचा और उसमें मर्माह्न कोड़ा प्रारंभ की। मित्र के अनुरोध पर वह खीए दिल से तरह-तरह की कोड़ा करता है। (विलासवती) उसके वातायन रूपी शरीर से निकले हुए उस स्वच्छ मुखरूपी कमल को, जो बिम्बाक्षर की कान्ति से चमक रहा है, ध्वेत दांतों की किरणों के परराज को धारण करता है, जिसके लोचन रूपी विशाल दल खिले हुए हैं, चितन करते हुए वह काफी श्रमक तक बंटा रहा। उचित

समय पर उमने नगरी में प्रवेश किया और दिन का समस्त विघाट कार्य पूरा किया। क्रम से जब दिन भी निकल गया और अंधकार से भरी हुई रात्रि झाँई तब यह कहकर कि निर बुद्ध रहा है, उसने सम्मान करके मित्र को भेज दिया। वह निवास स्थान पर गया और सहकते हुए सुंदर विचित्र विस्तार पर बैठ गया। रोज पर करवटें लेते हुए, विरह की ज्वाला से प्रदीप्त उसकी रात वर्ष के श्रमान बीती। तारागण विलीन हो गया, कमल खिल गए, आकाश में सूर्य का प्रकाश फैल गया। ६

(१०) इस बीच वे मित्र जा गए और प्रसन्न कर वे कुमार को प्रणाम करते हैं। उन्हें प्रशंसा पर लावा गया। सबको पान दिए गए। बाद में कुमार अपने मित्र के साथ भवन उद्यान में क्रीड़ा के लिए गया। अन्य पित से खेलते हुए उसे मित्र वसुभूति ने ताड़ लिया कि यदि आज कुमार भी देह कांतिविहीन है, तो यह निश्चय से काम का विकार है। क्रीड़ा का प्रसंग बीतने पर दोनों माधुर्यता के मध्य में गए। वसुभूति ने पूछा—पृथ्वी रूपी नारी के कर्णप्रतंस हे मित्र ! बताओ आज तुम्हारी देह कांतिविहीन क्यों है ? जैसे दिवस के मध्य अंधमा हो। फिर तुम एक क्षण में समस्त चेष्टाओं का निवारण कर, मुनि की तरह ध्यान में बैठे हुए हो। एक पल में तुम उस जुहारी की तरह हो, जिसे जुए में लाभ हुआ है। मन में उत्तम धारण करते हो। उसने भी अज्ञाते हुए और मुँह देखते हुए अपने प्राणप्रिय मित्र से कहा—मैं कुछ भी नहीं जान पा रहा हूँ जैसा कि तुम कहते हो कि काम के कारण मैं विपरीत आचरण वाला हूँ ११०

११ तब वसुभूति हंसकर सहता है कि श्रेष्ठ उद्योतिष देखकर मैंने सब जान लिया है। कुमार ने कहा—यह क्या है, हे मित्र ! तुमने जैसा देखा है, वैसा कहो। उसने कहा—राजा की कन्या ने बहाना बनाकर मोलधो की माला के जरिए तुम पर भारी चिन्ताभार आरोपित कर दिया, वही तुम्हारे शरीर में इस समय विकार के रूप में विद्यमान है। हे मित्र ! तुम उसके द्वारा दृष्टि के छल से कामदेवों के तीरों की वीछार से विद्ध कर दिए गए। चंचल मुग्ध और विमल मेघ कमल मालाओं से तुम झूठे हुए। नहीं तो इस असमय में क्या कारण है कि तुम्हारा अंधरा पीला दिखाई दे रहा है। और भी निद्रा मुख प्राप्त नहीं करते के कारण तुम्हारी स्वच्छ दाँतें लाल लाल हैं। वैसे ही तुम्हारी उच्छ्वास की लम्बी लम्बी पश्चिमां हृदय के अत्यंत दुःख को कह रहे हैं। तुम सारी क्रीड़ा सुने सुने कर रहे हो, वातचीत में सुनी ही भरते हो। इसलिए हे मित्र ! तुम

दुखी मत हुआ, वह भी तुम्हारे ऊपर अनुरक्त है। अत्यंत मान से जो उसने इती के समान, मौलथी की माता तुम्हारे ऊपर धंकी, उससे (स्पष्ट है) कि वह भी तुम्हारा विभुवनों में उत्तम संगम चाहती है। तुम जोक मत करो १११

१२ और भी—यह अवश्य होगा, समस्त प्रयोजनों में विधि अबाधित है। (बिना रोक टोकवाला है) वह अनागत कार्यों को सोचता है, और सामने धा रही दूर की प्रिय घटनाओं को गढ़ देता है। इसलिए है कुमार तुम विवाद छोड़ो, मैं ही कोई उपाय करता हूँ। कुमार ने प्रसन्न होकर यह बात स्वीकार कर ली। उसने वसुभूति को वहाँ भेजा। यहाँ भी, विलासवती की धाय की सुंदर कथा थी, अनंग सुन्दरी नाम की। वसुभूति उससे मिला। उसके पुरुषत्व गुण से वह उससे लग गई। इस तरह कई दिन बीत गए। समस्त कुमार आशा छोड़कर चिंता में पड़ जाता है। उसके, वसुभूति के द्वारा आज तक मेरा कुछ भी काम सिद्ध नहीं किया गया अथवा उसकी बुद्धि नहीं बली, इसी कारण वह मेरे पास नहीं आ रहा है। इस प्रकार विचार करता हुआ, वह कार्य की चिंता करता हुआ सेज पर गया। उस पर नहीं जान पड़ता था कि वह भूत है या सतप्त, मूक है या सूचित। नहीं जान पड़ता कि प्रसन्न है अथवा डरा हुआ, उसकी देह कांप रही है ११२

१३ जब थोड़ा समय हुआ तो संतुष्ट ईश्वर और प्रसन्नमुख वसुभूति वहाँ पहुंचा। भ्लान मुख और प्रवंचित कुमार ने उसे देखकर यह जान लिया कि जिस तरह विस्मित स्वभाव वाला है, उससे लगता है कि यह अवश्य ही काम सिद्ध करके आया है। वसुभूति ने कहा—'हे मित्र! जोक छोड़ो। तुम बहुत बड़ा प्रमोद बनाओ, विचार छोड़ो, पुरुषार्थ करो, बात सुनो और साहस धारण करो, तुम्हारी चढ़ती बात पूरी हो गई।' वह (सनतकुमार) कहता है—'हे मित्र! बताओ वह किस प्रकार? उसने कहा—'आज मैं अनंग सुंदरी के पास उसके घर गया था। वह मुझे भ्लान मुख और आँखों से थोड़े-थोड़े आँसू बहाते हुए दिखाई दी। मैंने उससे पूछा—'हे देवी! मुझे बताओ, तुम्हारे दुख का क्या कारण है? इसके बाद वह बोली, संघर्षपूर्ण मन वाले दुख को भूलने से क्या लाभ? निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह उसका दुःख नहीं उलता। मैंने कहा—'हे सुंदरी! यह सब ऐसा ही है। विरले लोग गुणों के भेद को जानते हैं, विरले लोग ललित काव्य को समझते हैं, सामान्य धन वाले विरले ही लोप होते हैं। विरले ही लोग दूसरों का काम करते हैं। दूसरों के दुख

में दुखी होने वाले लोग बहुत थोड़े होते हैं। तो भी हे मृगनयनी ! तुम्हारे प्रयोजन को संपादित करने की वजह मेरे मन में है। तब उसने बिना किसी विकल्प के कहा—कि यदि ऐसा है तो कहती हूँ सुनिए।

१४ 'राजा की कन्या, विलासवती नाम की, मुझसे अभिन्न है। वह मेरी बहन, सखी और श्रेष्ठ स्वामी है। असमय में वह अंतिम अवस्था (मरणावस्था) में पहुँच गई है। मैंने पूछा—किस कारण से? वह कहती है—कामदेव की बहू की पीड़ा से? मैंने कहा—हे सुंदरी ! जिसने सुरासुर को जीत लिया है, ऐसे कामदेव (उत्तिनाथ) की आभा का खंडन विगलित राग जिम्वर के समान, कौन कर सकती है? परंतु मेरे मन में इस बात का संताप है कि जो कोई पुरुष उसके मन में स्थित है, वह भी यहाँ कहीं भी नहीं जाना जा सका। मैंने पूछा—वह कैसे? वह बोली—उस काम मधु महोत्सव के होने पर नगरी में चर्चरी की टोलियाँ निकलीं।

मैं अनुमान से जानती हूँ कि बर्बरिका दासी के साथ उसने अत्यंत परम रूप वाला, मूर्तिमान् कामदेव के समान कोई युवक देखा। अन्यथा महायश वाली यह कन्या, असमान्य वर का वरण कैसे कर सकती है? कमलश्री के सौंदर्य से मोहित मडुकर क्या जलकु भी के वन में रति करता है? १४

१५ उसने मधुकरों से गुंजित, अपने हाथ से गुंधी हुई उत्तम मालाश्री की माला फेंकी, जो उसके कंठ प्रदेश में सुंदर अमरों के साथ जा पड़ी। तब उसने ऊपर देखा, और हृष के साथ उसे कंठ में धारण कर लिया। उसे अस्थविक भानंद हुआ कि यह मेरे प्रति अनुरागी है। इसके लोक में आ पड़ने के कारण डरा हुआ वह सुधीर उसके हृदय का अपहरण कर चला गया। तब से विलासवती देवी भी सब काम छोड़कर स्थित है। कामदेव ने उसे हस्ताश कर दिया है, वह मुख से कुछ भी नहीं कह सकती।' यह वृत्तांत बर्बरिका ने मुझ से कहा। और उस राजकन्या ने भी। मैंने उसे सुंदर शब्दों में आश्वासन दिया है कि 'हे स्वामिनी ! तुम अपने मन में विषाद मत करो। जैसे कुमुदिनी का चन्द्रमा से मिलन होता है, वैसे ही मैं, प्रिय से तुम्हारा मिलन अवश्य कराऊंगी।' इस प्रकार कहकर मैंने दूतों की आँखों से धरी, शंखकुशों और उपवनों को छनवा मारा। लेकिन वह उसी तरह नहीं मिला, जैसे शरीर नाथ से सहित कामदेव। मेरा मन आहत है, कि मैं काम नहीं कर सकी। यह अनंग सुंदरी झूठी है। १५

१६ 'पूरा उत्कंठा से जिसका चित्त भरा हुआ है, और जो विरह को खाला से अच्छी तरह जल रही है, ऐसी वह गर्म विस्तर को छोड़कर सखीजनों के कंधों का सहारा लेकर, प्रासाद के शिखर पर जाकर उसने जुद समूचा राजमार्ग देखा । फिर उलने आसपास सब कहीं खोजा लेकिन जब उसे मन का मोत नहीं दिखा, तो गर्म और दीर्घ उच्छ्वास लेकर भांगुश्यों के प्रवाह में आसों भरकर, मश्रू व लयों की भन भन ध्वनियों के सहित, सुंदर बाहु और हथेलियां झूती हुई, देह डीली कर तखाल सूचित हो गई, सखी जनों ने उसे पकड़ा ।' जब तक वह यह वृत्तान्त कहता है, तब तक मनतकुमार होश में आकर उठकर कहता है—हे वयस्य ! मन और नेत्रों को आनंद देने धागे घर में यह कहाँ हैं, मुझे बताओ ? उसने जीवित रहने में सदेह होने पर, हे मित्र आज विलय करने से नया ? तब वसुभूति हँसकर कहता है—हे स्वामी ! यह बात मैंने तुमसे गड़कर कही है, हे देव ! यह सच नहीं है, सभ्रम छोड़ो, धाकी वृत्तान्त मुझे से सुनो । १६

१७ तब कुछ मुस्करा कर व्याकुल चित्त वह विस्तर पर बैठकर, प्रयत्न से सुनता है । वसुभूति उसने फिर बताया है, कि अनन-सुंदरी ऐसा कहती है कि मैंने उसे जोड़ में लेकर, वक्ष-स्थल पर बहुत सा चंदन लगाकर, गले में मृणाल वलय का शार पहना दिया, हिमकरों से मिश्रित पवन उस पर किया । तब आलस्य से प्रांखें खोलते हुए उसने किसी प्रकार चेतना प्राप्त की । तब मैंने उससे पूछा कि मुझे बताओ कि हे स्वामिनी तुम्हारी देह में नया बाधा है ? तब उत्कट कामदेव से विदारित और भी, सखीजनों से लगाने वाली, उसने भ्रमररूप से यह कहा—हे सखी, उमी का अर्चन । उल । तब उसके हृदय को सहारा देने के लिए, मैंने यह भूँठ बात कही—हे स्वामिनी ! आप जित्त में छेद धारण करें, मैंने उसका सारा वृत्तान्त पा लिया है । हे सुंदर नग्न करने वाली हे स्वामिनी, उसका कारण, मैं एकांत में निवेदन करूँगी । १७

१८ इस बीच में उसकी माँ आ गई, वह अधिलाया पूर्वक चित्तमवली से बोली, हे बेटी ! उठो और बीरगा ठाक करो । महाराजा ने तुम्हें आज्ञा भेजी है । तुम्हें उनके सामने आज बहूविध प्रयोग वाला बीरगा धिनोर करना है । तब भारी राजजावली इतने उठकर और माँ को प्रणाम कर कहा—'बीरगा बजाने वाली देवी को बुलाओ' इस प्रकार कहकर, वह दीर्घ अर्धा से चल दो । मैं भी लुट्टी भाकर घर आ गई । मन में तरह तरह के उपाय सोचती हुई । तब से विशेष रूप से निरूपित उसकी कोई खबर नहीं मिली । अब मैं राजकुमारी से क्या कहूँगी ? जो चिंता रूपी

विशामिनी से यात्री खा ली गईं? मुझे यह बातें दुःख है, जो मैंने समस्त रूप में तुमसे कह दिया।' तब मैंने कह—तुम चिन्ता छोड़ो। हे सुंदरी! तुम उस प्रकार विषाद मत करो। तुम्हारी स्वागिनी का प्रिय दुर्लभ नहीं होगा। उस युवा को मैं जानता हूँ। उसने भी तुम्हारी सखी राजपुत्री को गाने का दुःख भोगा था किवा जाने वाला निश्चय किया है। १९

१९ अर्धग सुंदरी पूछती है—'कहिए वह कौन युवा है, और तुम उसे कैसे जानते हो।' मैंने कहा—'वह मेरा अभिन्न हृदय है, स्वामी-वपस्व भाई और मित्र है। हे सुंदरी! वह देवविषय के राजा नराश्रिय दणोवनी का बेटा है। समस्त कलाओं का धर, सुवन में श्रेष्ठ वह, सनतकुमार नाम से प्रसिद्ध है। कीड़ा के लिए कब जाने हुए, वह मोलश्रीमाला उगने ऊपर फेंकी गई। उसने भी उने जादरपूर्वक कहून मरना यह मुनकर उसने कहा कि इतना पर्याप्त है। जो भ्रातृगिनी के हृदयभाव को जानकर भी उद्यमविहीन और ठगुवा बंटा हो।' मैंने कहा—'वह उद्यमविहीन नहीं है, वह भी विविध उपाय सोच रहा है। परंतु वह विचार करता है कि किनो अनियन्तीय डंग से यदि वह पा को जाए तो अच्छा।' यह मुनकर अर्धग सुंदरी कहती है कि वह स्वामिनी का अपहरण क्यों नहीं करता। अनुराग स्वभाव वालो समान और अनुसूत कुल कन्याओं को अपहरण, यही विधि कही जाती है, साहस से उन्नत पुरुषों को निंदा नहीं की जाती। १९

२० मैंने कहा 'सुंदरी ऐसा है, परंतु ऐसा करने पर श्रेय नहीं होगा। राजा के लिए कुमार बहुत प्रिय है। उसका प्रेम सबके प्रति अस्वलित है। राजा के बहुत मान के कारण वह समर्पित है। उसने महान् अभियन को भी स्वीकार नहीं किया। कुमार जो कहेगा, राजा वही करेगा। गाने पर कदाचित् वह उमड़े देगा।' इसलिए, इतना काफी है तुम यात्री गृह नारा वृत्तान्त अपनी स्वामिनी से कहो। और मुझ भी कोई उपाय बताओ कि जिससे उन दोषों का साक्षात्कार हो जाए। तब उसने कहा मैं ऐसा करूंगी, फिर तो स्वामिनी को भयनोद्यान में ले छाँडूंगी। तुम भी फिर कुमार को यहाँ ले आओ। तो निविकार भाव से दर्शन हो जाएंगे। यह कहकर वह स्वामिनी के पास गई, और मैं तुम्हारे पास आ पहुँचा। मैंने यह मुख्य वृत्तान्त कहा इस समय स्रज कुमार प्रमाण हैं।' ऐसा कृतकर सनतकुमार सखी मुखों की अंतिम सोमा पर पहुँच गया। तो प्रीति में पड़े हुए और बुद्धि में बढ़े हुए उसने जैसे बंसतोत्साव प्रा लिया। वह; वसुभूति से विशेष रूप से संतुष्ट हुआ, उसने उसे कटक युगल दिए। २०

२१ बहुमानपूर्वक वसुतिभूने कहा— मैं उसका कदापि अपमान नह करूंगा। इसके बाद वे दोनों भवनोच्चान गए। वहां उन्होंने सब कुछ घूमना शुरू किया। जिन्होंने असमय में दौहले किए हैं ऐसे खिले हुए समस्त तरुमंडलों से वह उद्यान विशाल और सुन्दर है। जिसमें यहाँ ऋतुएं हमेशा रहती हैं। सर्वप्रथम उषमें तिलक और शशोक, तथा कुत और सिंधुवार वृक्षों की मंजरियों के भूक्त वसंत है। मल्लिका के परिमल को बढ़ाने वाला शोभ है। कदंब वृक्षों से दिग्गंत को सुवासित करने वाला पावस है। फिर गजमद के समान गंध वाले सप्तच्छदों से सहित शन्द भी है। पीली प्रियंगु की मंजरी में निशिष्ट, और शोभयुक्तों की प्रचुर गंधवाला हेमंत भी उन्हें दिखाई दिया। उत्कट कुंड पुष्पों से विशा समूह को घवलित करने वाला और पीली शोभा करने वाला शिशिर भी है, कुमार ने वहां और भी तरह-तरह के कुसुम वेश को धारण करने वाले अयोध वृक्ष देखे। तरह-तरह की गंध वाली कुसुम समृद्धियों से वह उद्यान बस सर्वकाल, मंदन वन के समान सुन्दर लगता है, तथा देवों के मन का अपहरण करता है। २१

२२ जब वे दोनों घूम रहे थे, हतभ में अम्बरा के साथ अन्वय-सुन्दरी वहां पहुंची। पास आकर कहती है, इस चन्दन लतावर को अलंकृत कीजिएगा। शूद्र आसन को स्वीकार कर इसने (सतकुमार ने) वसुभूति की ओर देखा, उसके बाद वह कुमार से सामने बोला—वह करो जो वह आज्ञा दे। इसके बाद वे चन्दनलतावर में गए, वहां उन्होंने मध्य में बंठी हुई (विलासवती) को देखा। जैसे वह, ताराओं से घिरी, भेषों में मुक्त और चमकदार कांति वाली अलंकिता हो। निपुण सहेलियों से वह उसी प्रकार घिरी हुई थी, जैसे कलहौंधियों से घिरी हुई राजहंसो हो। मानों ताना प्रकार के कुसुम समूह को धारण करने वाली, ऋतुलक्षियों के साथ काम की गृहियों रति हो, मानों कोमल स्वच्छ भाषा में बोलने वाली मधुकरियों से घिरी हुई मंजरी हो, सुमनीहर और मुक्ताओं से रंजित पयोधरों से मानों वह समुद्र की धेला हो। मानों धनुष खींचते छोरे शर का संधान करते हुए, बल से विक्ल कामदेव को देखकर विधाता ने अपने हाथ से अत्यन्त प्रसन्ननीय उसको (विलासवती की) रचना की, इसी कारण वह सारे जगत का भेदन करती है। २२

२३ छोटे-छोटे लाल लाल गुलाब कि फूलों की तरह शोभित, मजबूत लगी हुई अगुलियों से विनिर्गत वल समूहों, अत्यंत निमल आकाश-लक्ष

में प्रसरित किरणों के समान कूर्म की तरह उन्नत और भारक किरणों, किरणों के ही अनुरूप, गत रोम समूहशाली केशर से पीली कोमल जंघाओं, कामदेव रूपी महामल्ल के तरकस के तुल्य, व्यायाम से स्थूल सपन उग्र युगल, फीनी हुई मणिमेखला के आभरण की किरण वाले नितम्ब से वह ऐसी शोभित है, जैसे कामदेव के भयलङ्घे समान शोभित है। तीनों लोकों के सौंदर्यरूपी जल के कुए के समान सद्भाव वाले गंभीर नाभि प्रदेश जिसके मध्य में शोभा की गई है, ऐसी कामदेव की क्याम प्रत्यंघा के समान शरीर की रोमराजि तथा नवयौवन के बढ़ने के लिए सोपानभूत त्रिबलि से युक्त, क्षीरा मध्यभाग, प्रति दिवस के विस्तार से उभरते हुए सौंदर्यरूपी जल से भरे हुए कलशों के समान स्तनों, जिन्होंने मूल्य प्राप्त नहीं किया है, ऐसी सुकुमार बांहों, अशोक पल्लवों के समान हृथेजियों, तीन रेखाघों वाली गोल श्रोत्रा, दुपहरिया के फूलों की जीतने वाली, अक्षरों की शोभा, जिनसे किरणें निकल रही हैं, ऐसे कुंठ पुष्पों को जीतने वाले, सघन, लूब चिकने और सम दांतों, नाक के सुन्दर और अनेक बांस, अन्द्रजिम्ब के समान गंड प्रदेश, तीनों लोकों को जीतने के लिए जिन्होंने कामदेव को अपने भीतर छिपा लिया है, ऐसे खिलते हुए, नए कमल के विस्तार वाले नेत्रों, वक्र काम कोदंड के समान कानों और सुन्दर भौंहों को जोड़ से वह शोभित है। अलकायलि से सहित ललाट के शरण वह, राट्ट से अलप्रस्त अन्द्रमा के समान शोभित है। मणि कुंडलों के द्वारा श्रुति और धारकों से जिन्होंने पुष्य को खींचा है, तथा कामदेव के मूलों के समान कानों से वह शोभित है। कोमल काले स्वभाव-वाले, विविध-कुसुमों से परिवासित (सब तरफ से सुगंधित) केश कलाप से वह जैसे ही शोभित है, जैसे संशय में पड़े हुए अमरकल से चंपक लता से शोभित होती है। २३

२४ इस प्रकार अष्ट रूप सौंदर्य को धारण करने वाली, वह सखियों के साथ कुछ तो भी बात करती है। मणियों से मंडित सोने के आसन पर बैठी हुई ऐसी विलासवती को उसने देखा। मोह के बशीभूत उसने, उसे देखकर अपने मन में यह विचार किया कि विधाता ने यह अनुपम रूपदेह दुनाक्षर स्याथ से निमित्त की है। यदि उसका ऐसा रचना कौशल (विज्ञान) होता, तो वह श्लोक में बैसी दूसरी रचना क्यों नहीं करता। इस प्रकार अपने मन में विचार करता हुआ वह उसके (विलासवती के) दर्शनपथ पर आ पड़ता हुआ पुलकित हो उठा। स्नेह से खिलते हुए, काने लाल और घबल चंचल जिनका देखना समाप्त नहीं हुआ है ऐसे तारों वाले कुछ कुछ लजाते हुए नेत्रों से वह उस कुमांग को देखकर भयभीत होकर शीघ्र

उठी। हाथ बटाते हुए कुमार ने कहा—सुन्दरी मति रांभ्रम (बुद्धि की बबराहट) व्यर्थ है। इसी बीच, सचिवों ने कहा—विलासवती के आसन पर बैठिए। कुमार हर्षपूर्वक उस पर बैठ गया, जैसे उसने अनुरूप महान उपकार किया। उसके लिए स्वर्ण के बिमल पात्र में पांच द्रव्यों से सुवासित पान दिया गया। उसने आसन की ओर संकेत करते हुए कहा—देखीं विलासवती भी बैठे। जब वह बैठी तो अत्यंत संतुष्ट हुई। जैसे ही क्षणांतर बीता की उसका बड़ा भारी मित्र वसुभूति शीघ्र आ पहुँचा। २४

२५ उसने विनय से सातकुमारों को प्रणाम किया। उमने भी, वह किया गया उपकार (नमस्कार) किया। इसके बाद वसुभूति विलासवती से यह कहता है कि कुमारी को तरंगण की आज्ञा दी जाए। जिस कारण से तुम बीणा प्रयोग भूल गए, उससे मैं कल तुम्हारे ऊपर रूठ गया था। आज शीघ्र बीणा को ठीक करी और मेरे सामने भीणा वादन करी। यह सुनकर वह कहती है—जैसा कुछ तात आदेश दिं। यह स्वीकार कर, वह कंचुकी के साथ शीघ्र लता घर से निकल गई। स्नेह से बल लाते हुए, काले आरक्त और धवल तैनों के द्वारा देखते हुए धीमी गति वाली, सुन्दर और चंचल हाथों वाली, जिसकी मणिमेखला मुखरित है, यस्य खिताक रहा है, ऐसी वह कापती हुई, कामदेव के सर के आघात से डरी हुई, अपने भवन में पहुँची। तब वसुभूति कहता है—हे मित्र उठो, मुचिश्चि चित्त होकर अपने घर जाओ। तुमने मालवदेश देख लिया, परन्तु यहां के विशेष भाड़े नहीं खाए। शायद तुम्हें उसका दर्शन मात्र हुआ है, और इतना बड़ा अंतराय या गया। खर कभी दूसरी विशेष गोष्ठी होगी, अभी तो पहले कोर में मक्खी आ पड़ी। हे मित्र यहां पर विलासवती के विना, देर करने से क्या? उद्यान से निकलकर भवन की बलिए, यहां अनेगवती है। अंतःपुर में श्रेष्ठ, राजा के लिए नुरु उसे देखकर कुमार की मति वहीं चंचल हो गई। २५

२६ जब सुन्दर अंगों वाला कुमात्र दिखाई दिया, तो उसका भी पूरा शरीर परबश हो गया। यह कामदेव उल्टे पंरों वाला होता है, कोई कार्य-अकार्य का विचार नहीं करता। इसमें पंडित लोग भी मूर्खित होते हैं। खचित होकर भी, बार-बार उसमें पड़ती हैं, धनुरा खा लेने पर, स्वर्ण की तरह सबको अपने अनुकूल देखते हैं। नुल शील और स्थान का विचार नहीं करते। अणमान में शुभ अर्थ का परिश्राम कर देते हैं। कुमार के रूप का विचार करती हुई, नरेन्द्र की पत्नी भलनुद्यान में गई। ये लोग भी अपने घरों की गए। इस बीच में, दिन ढलने पर विलासवती के द्वारा प्रेषित,

स्वर्ण के निर्मल पात्र में विद्याधरःबंध से गुंथे गए, सिद्धवार वृक्ष से उत्पन्न फूल और पान रखकर, विलेप के प्राथम्य अर्नगसुन्दरी से तस्क्षण वहाँ आई । उसने प्रणाम करके कहा हे स्वामी, स्वामिनी ने यह तिथिचन किया है कि ये फूल मैंने अपने हाथ से गुंथे हैं जो प्रियजनों के योग्य हैं । यदि हमारे ऊपर अपना स्नेह किया जाता है, तो इनका उपभोग अवश्य करें । शीतल चीनी, इलायची, जातिफल, कपूरखला के प्रिय दलों के साथ कपूरवास सुपारी में रस विशेष वाला, भए शर के सार के सहकार से स्वाद बना तांबूल है—धार्य पुत्र हम लोगों पर ब्रह्म प्रसाद करेंगे । इस प्रकार कहती हुई उससे कुमार ने कहा—देवी जी कुछ आदेश देती हैं, वही किया जाएगा दूसरा विकल्प न किया जाए, और किसी दूसरे प्रकार की संभावना न करें । २६

२७ अपनी पुष्पमाला सनत्कुमार ने उतार दी और वह पुष्पमाला सिर पर धारण कर ली । त्रिया के द्वारा प्रेषित है, इस बहुमान के कारण उसने विलेपन से शरीर को चर्चित कर लिया । उसी प्रकार अपना बीड़ा छोड़कर, यह प्रिया का है, यह मानकपान खा लिया । हँसकर कुमार ने यह हृष्ट कथन किया कि हे सुन्दरी तुम्हारी कुमारी की विनय मैंने देख ली । वह कहती है कि इस प्रकार की विनयों में सज्जनों को आदर्य नहीं होता । इस प्रकार किसी समय तक कीड़ाएँ कर भव्यविक परिहास वाली बातचीत कर, राजपुत्र को नमस्कार कर अर्नग सुन्दरी घर के लिए चली । उसे भुवन-श्रेष्ठ कंठहार दिया । प्रतीति के लिए कुमार उससे कहता है—हे सुन्दरी यह घर तुम्हारा अपना घर है, अतः आने में सकोच नहीं करता । हे स्वामी आप जो आदेश दें । यह कह कर वह अपने घर पहुँची । भेजे गए बड़े-बड़े उपहारों के द्वारा परिश्रुता प्रेम में तत्पर, हृदय को सहारा देने वाले उनके, आशा से महान् कई दिन बीत गए । २७

हरिभद्र सूरि (नेमिनाह चरित)

राजमती प्रसंग

राजा उग्रसेन की कन्या राजमती, बारात की पूर्व संध्या पर मन में नेमिकुमार को देखने के लिये उत्कंठा से भर उठती है ।

तयस्यु कइयहं दइउ पेकलेसु ।

नेण्हिरुतइ सउभुकउ कइय कइय हउं नाह भ्राणिमु ।

मणि वरिहइ कइय मइ, हउं वि कइय तानु हियउ थसिसु

अहव सुतारिसु वररयस्यु कइकइ हउं निभंभ ।

इय चित्तिर राइमइ थिय चिंताजलहि निमग्ग ॥१॥

इय समुज्जिभय-निय नियसेस ।

वावाहहं सयलहं वि तिण्णराय-विट्ठरिग-सरीर हं ।

पुर-तरुणिहि विविहमण-वयण-काय यम किरिय-पसरहं ।

पेक्कंतउ परिचिट्ठयइ विभिय-मण-वावाह ।

उग्रसेण-निव-गिह-सविहि पत्तउ नेमिकुमाह ॥२॥

तयस्यु सारहि विहिय-कर-कोसु ।

पहु-समिहिहिं विन्नबइ नाह तुग्ग विनाह-अवसरि ।

सस-सूपर हरिण हुउ महिस पमुह संपत्त अउसरि ।

जीयकलाउउ कउण रउ-पसरि मरिय-जगु एहु ।

ननु हगियकउ जायवहं भोयण-कज्जि गहेउ ॥३॥

अह मुयाविवि जीव-संधाउ ।

वालाविवि रहु कुमरु भणइ पुरउ निय मणणि-जणयहं ।

गमियव्वु मइ सिवपुरिहि दाउ सलिल-अज्जलिउ-विसयहं ।

ता नीलंवर-मह-महण पमुह सु जायव-वागु ।

भणइ कुरसु तुहं नर रयण-सुपुरिस-सेविउ मग्गु ॥४॥

एत्य-श्रंतरि सहिवग्नेय ।
 ईसीसि विहसिबि भणित कि करेसि सहि नेमिकुभरिण ।
 अत्रियदिदरण गय-रसिण परिविमुक्क पुरसाहिमाणिण ।
 जो पडिवज्जिबि निय मुहिसु अगंतु; वि इह एम्ब ।
 रह वासा विवि धाबिउण बलिउ पत्तंगमु जेम्ब ॥५॥
 कहइ को इह तेम्ब महमहण,
 भुयदंडहबलु निहलइ को व निवइ वन्न अजुय साहइ ।
 स सुरासुर-पहंहुं पट्ट को व कोव-मय माणु वाहइ ।
 मेत्तिलवि समुदविजय निवहनंदणु तिहुवण-साह ।
 ता मह परजम्मि वि सरणु सोचिचय; नेमिकुमाह ॥६॥
 बलिर-भंवि सरिसु संसार ।
 निर-वददव मुक्कपुरु जुहय थिसय सुइ हेउ सिवपट्ट ।
 तणु चंचलु धम्म थिर सुत्त सुपुव उल्लपणु इहाअट्ट ।
 अपुवि अनियंतिउ पिमुणु सु नियंतिउ सुजि मित्तु ।
 ता अइयअउं भविय यणिण रायव्जीस-वइत्तु ॥७॥
 इय सुहारस पेसलालाव ।
 प हुदेअण णिसुणित्ताईहपोह-भग्गण; पविदिठय ।
 सुमेइ असेस-णिय जाइ रायमइ मर्णण लुदिठय ।
 उच्चिबि धणुक्कणु-वरियणु वि तोइबि मोहइ पास ।
 अरणु पवज्जइ पट्ट पुरउ सिव संगम कय-आस ॥८॥

१. तदनंतर राजमती सोचती है कब मैं दयित (प्रिय) को देखूंगी ? कब वह मेरा पाणिग्रहण करेगा, कब कब मैं स्वामी को मानूंगी ? वह कब मैं मन में धारण करूंगी ? और मैं भी कब उसके हृदय में वास करूंगी ? अथवा वह नवरत्न कब मुझ भ्रामिण का उद्धार करेगा ? इस प्रकार सोचने वाली राजकुल चित्ता समुद्र में तिमग्ना शोकर रह गई ।

२. इस प्रकार तीव्रराग से क्लिप्त शरीर वाले सभी पुरुषों और नगरयुवतियों के समस्त व्यापारों विहिंध मन, वचन और शरीर से संबंधित श्रिया-प्रसारों को देखते हुए नेमिहुंगार उभसेन राजा के घर के समीप पहुंचे ।

३. तदनंतर -- करकमल जोड़कर सारथि प्रभु नेमि के निकट निवेदन करता है—हे स्वामी आपके विवाह के अवसर पर खरगोश, सुघर, हरिरण, मैदा और महिष पशु निश्चित रूप से मारे जाएंगे-यादवों के भोजन के लिए । कल्याण शब्द के प्रसार से विन्ध्य को भर देने वाला यह पशुओं का भवाड़ा है ।

४. तब जीव समूह को छुड़वाकर और रथ मोड़कर कुमार नेमि मां बाप से कहते हैं—विषयों को जलाजलि देकर मैं शिवपुरी जाऊंगा । तब बलराम और कृष्ण प्रमुख यादव समूह से कहता है तुम उत्तम पुरुषों से सेवित मार्ग पर जाओगे ?

५. इस बीच कुछ हंसते हुए सब्बी समूह ने कहा—हे सब्बी तुम उस नेमिकुमार का क्या करोगी, जो अविद्वध और रसविहीन है ? वह पुरुष के स्वाभिमान से रहित है । यहां इस प्रकार आने के लिए स्वीकार करके भी, जो रथ मोड़कर जबर की तरह दौड़कर चला गया ।

६. वह (राजुल) कहती है—'वैसा यहाँ कौन है जो कृष्ण के बाहुबंध को दलित करता है? कौन १० अयुत राजाओं को साधता है? सुर असुर सहित राजाओं का राजा कौन है? कौन क्रोध, मान और मद का हनन करता है ? समुद्र - विजय के तीनों लोकों में श्रेष्ठ पुत्र का छोड़कर, वही नेमिकुमार मुझे दूसरे लोक में शरण स्वरूप है ।

७. नेमि कहते हैं—'यह संसार जलते हुए घर के समान है, मोक्ष नगर उपद्रव विहीन है, विषय दुर्भंग हैं, विषय पय मुख का कारण है, शरीर चंचल है, धर्म स्थिर है, सत् गुरु सुंदर हैं; खलजन दुख देने वाले हैं, अनियंत्रित आत्मा दुष्ट है और अच्छी तरह नियंत्रित आत्मा मित्र । इसलिए भव्यजन को प्रवृत्त करना चाहिए और शमयक छोड़ना चाहिए ।

८. इस प्रकार सुधारस और कोमल आलाप से मुक्त प्रभु के उपदेश को सुनकर राजुल विचार के मार्ग पर शमसर हुई वह अपने सगस्त पूर्वजन्मों की याद करती है, मन में संतुष्ट होती है, धनकण और परिजनों को छोड़कर तथा मोह के पाप को तोड़कर, शिवसंगम की प्राप्ति करने वाली यह प्रभु के आगे दीक्षा ग्रहण करती है ।

स्वयंभू [पउमचरिउ]

सीता निर्वासन और प्रतिक्रिया : (सन्धि ८१.१, ३)

बणु सेविउ सायह लंघिपउ विहउ वसायणु रत्तएण ।
अवसाण काले पुणु तेण घल्लिय सीय विरत्तएण ॥
लोयहं छन्देण तेण तेण चित्तं, राघव चंदेण तेण तेण चित्तं ।
पाण-पिपल्लिया तेण तेण चित्तं जिह वणो घल्लिया तेण तेण चित्तं ॥
ताय त्रिणीयहे फंदह सीयहे दुग्गु कूकोयणु दाह्णिण-लोयणु ।
फुरेवि आसि पइं परदुगेज्जभहे त्तिण्णि मि णीसारियइं अउज्जभहे ।
यियइ देस विदेसो भर्भतइं, दुस्सह-दुक्ख-परंपर-पराइं ।
रणरक्खसेण मिलेवि उग्गलियइं कहवि कहवि णिय गोत्तहो मिलियइं
एवहि एहं ण जाणहं इयलणु काइं करेसइं फुरेवि अलक्खणु ।
तो एत्थंतरे साहूट्टारें आयइ ण्य असेस कूवारें ।
दुद्धम-वणुअ-वेह-मय-मद्धण त्तदुअण-अण-सण-णयणाणंदण ।
जइ अवराहू णाहि धरधारा णो पट्टणु विण्णवइ भञ्जण ।

घत्ता-- पर पुरुस रसेवि दुग्गहिलउ वेंतु पट्टत्तर पइयणहो ।
कि रामु ण भुंजइ जणअ-सुय वरिसु वसेवि धरे रामणहो ॥

हरि बुज्झाविउ केम वि रामेण हलुवि ण भावइ सीय हे णामेण ।
एत्थु वच्छ करेवो जणय-त्तएण वणो कहिमि धवेवि ।
जोवउ मरउ काइं किर तत्ताए किं विणमणि सहुं णिवसइ रत्ताए ॥
मं रत्तुकुले कलांकु उप्पज्जउ, त्तदुअणो अयस पडहु मं वज्जउ ।
देवि अट्ठाविय णिय परिएसहो, पेक्खंतहो पुरवरहो असेसहो ।

घाहावि३ कोसलए सुमिरए सुपहए सोया उर चित्ताए ।
 नायरियायणेण उक्कण्ठे केव विघोइय बइवे दुट्ठे ।
 घर विणद्धु खल-पिसुणहं छवें घि-घि अजुत्तु किउ राहवच्चवे ।
 घत्ता—कि माणुस-जम्मे लद्धएण इट्ठवियोग-परंपरेण ।
 वरि जाय नारि वणे वेल्लिथि जा नवि मुसइ तरुवरेण ॥

निर्वासन और सीता का आत्ममंघर्ष :

अलु धत्तु वणु तिणु भुवणु विचिराउ ।
 अं जि विहालमि तंजि पल्लिराउ ॥

भणु मणु भाणु भूभावणु जइ मइं माणेण समिच्छिउ रावणु ।
 वणलइ तुहु मि ताव तंहि होंतो जइभट्ठं णिय निसिमरेण खवंती ।
 णहयलु तुहु मि होन्तु तंहि अवसरे जइयट्ठं जिउ जडाउ संगरवरे ॥
 अल्लिउ वरुणु पवणु सिहि भक्खरु केण वि बोल्लिउ ण वि धम्मक्खरु ।
 लोयट्ठं कारणे कुप्परिणामे हउं णिकठारणे घल्लिय रामे ।
 जइ मुय कह वि सइत्ताणधारी तो तुःह्हं तिय-हच्च सत्तारी ।
 घत्ता—तं वयणु सुणेवि सोयहे तणः। वेवलोउ चित्तावियउ ।
 णं सइ-साबंतर मीपएण वज्जजंघु मेलावियउ ॥

रामसीता सम्वाद (अग्नि परीक्षा के सन्दर्भ : सन्धि ८३.८१)

कंतहे तणिय कंति पेक्खेप्पिणु पभणइ पोमणाहु विहसेप्पिणु ।
 जइवि कुलुगयाउ गिरवज्जउ महिलउ होंति सुट्ठु विलज्जउ ।
 दरदाविय-कइक्ख-विक्खेसउ कुडिल म्हाउ वड्हिय-अवलेवउ ।
 बाहिर धिट्ठु गुण परिहीणउ रिह समय इण्ड ण जंति णिहीणउ ।
 णउ नणंति णिय कुलु सइजंतउ, तिहुवाणे अग्रस-पडहु वज्जंतउ ।

श्रंगु समोद्धे वि विद्धिकार हो त्रयणु णि एंति केम भशार हो ।
 सोय ण भोय सइत्तण-गव्वे वल्लेवि पवोत्थिय मच्छर-गव्वे ।
 पुरिस णिहोण होंति गुणवत्त । वि तियहे ण पत्तिज्जंति मरंत वि ॥

घत्ता—खडु लक्कडु सत्तिलु ग्रहंतियहे पउ राणिय हे कुलुगगये ।
 रणायक खारइं वेंत्तः तो कि ण थक्कइ णम्मयहे ॥

साणु ण केण वि जणोण गणिव्वइ गंगा-फइहि तं जि प्हाइव्वइ ।
 ससि सक्कं कु त्तिहि त्रि प्हा-णिम्मल कालउ मेहु त्तिहो जो त्तिह उज्जल
 उवन्नु अणुज ण केणवि घिप्पइ त्तिहि जि पडिम चंदणेण वित्तिप्पइ ।
 बीवउ होइ सहावे कालउ वहुं तिहए मंडिक्कइ आलउ ।
 णरणारिहि एवइइ अंतक मरुणे वि वेत्ति ण मेत्तइ त्तरुव ॥
 एह पईं कवण बोत्त पारंभियः सइ-पहाय मईं अणु समुत्तिभय ।
 तुहं पेवत्तु अत्थु बोसत्थउ इत्तु जलणु जइ इहेवि समत्थउ ।

घत्ता—कि किज्जइ अणो विव्वे अं रावि सुक्कइ महु मरा हो ।
 जिह कणपडोर डहत्तर अत्थमि मक्के हुमासए हो ॥

जालउ विप्पुरंति त्तिहि अवसरे ण विज्जुलउ जलयजालंतरे ।
 सोय सइत्तणेण वउ कंपिय वुक्कु तिहि, एम पजं पिय ।
 एहु वेहु गुणगहण-णिवासणु इहे इहे जइ सत्तउ जे हुआसणु ।
 इहे इहे जइ जिण-सासणु छत्तिउ इहे इहे जइ णिय गोत्तु ण मंडिउ ।
 इहे इहे सयल-भुवण संतावणु जइ मईं मणोण वि इत्थिउ रावणु ।

घत्ता—त्तिहि अवसरे मणो पत्तिउत्तु कइइ पुरंबक सुरयणहो ।
 तिहि संकइ इहेवि ण सक्कइ पेक्खु पहाउ सइत्तणहो ॥

तो बोत्तिज्जइ राघवचंवे-णिककारणे खल-पिसुहण छवे ।
 जं अवियप्पे मईं अन्नमाणियः अणु वि वुहु एवइइ पराणिय ।

तं परमेसरि महू मरु सेज्जहि एकलवार अवरानु लमेज्जहि ।
आउ जाहं घरवासु णिहालहि सयज्जु वि णिय परिणु परिपालहि ।

घरता—मणो करहि एउ महू वुत्ताउ मरुद्धर सयलु वि परिहरहि ।
सइ जिह सुरवद्द-संसिग्गिग्गु णीसावणु रज्ज करहि ॥

तं णिसुणोवि परिचत्त-सणोहिए एण्व पजं पिउ पुणु वडवेहिए ।
अहो राघव मा जाहि विसायहो णंवि तउ दोमु ण जण-संघायहो ।
भव अउ सएहि विणासियधम्महो सव्वु दोमु एउ दुक्कियकम्महो ॥
वल मइं वट्टविह-देस विहरित्त तुळभु-पसाएं वसुमइ भुत्तो ।
एवाहि तिह करेमि पुणु रघुवड जेग ए होमि पडिवारी तियमइ ।

घरता—महू विसय-सुहेहि पज्जत्तउ छिवमि जाइ-जरा मरणु ।
णिन्विणी अवसंसार हो लेमि अज्जु धुउ तव घरणु ॥



स्वयंभू [पद्मचरित]

जब राम अनुरक्त थे तो उन्होंने वनवास किया, समुद्र लांका और रावण को मारा, अन्तिम समय उन्हीं राम ने विरक्त होकर सीता का परित्याग कर दिया । उसी क्षिप्त से, श्ला के बहाने, विरक्त चित्त राघव ने, उसी विरक्त चित्त से प्राणप्यारी सीता को जिस प्रकार वन में छोड़ा । व्रतने में विनीत सीता को दुःख की घण्टकण्डा जगाने वाली वार्ड अलि फड़की । [वह सोचती है] हे अलि ! तूने पहले भी फड़की थी और हम तीनों को शत्रु के द्वारा अश्राह्य अयोध्या से निकाल दिया गया था । देश विदेश में भटकते हुए हम अश्रु दुःख परम्परा को प्राप्त हुए थे, युद्ध के राक्षस से उगले हुए हम लोग किसी तरह अपने कुल से आ मिले । मैं नहीं जानती कि यह अलक्षर अलि इस समय क्या करेगी ? इसी बीच

हाथों में शाल्वाएँ उठाए हुए खिलाप के साथ सारी जनता आई और बोली—बुद्धम दानवों की देहों भ्रम मद चूरते वाले, त्रिभुवन के जन मन और नेत्रों को आनन्द देने वाले, शरा स्वामी, हे आदरणीय ! यदि अपराध क्षमा हो तो नगर निवेशन करता है ।

पर पुरुष रमण कर खोड़ी महिलाएँ पतिजन को प्रत्युत्तर देती हैं—'क्या राम उस सीता का उच्छोग नहीं करते जो एक वर्ष तक रावण के घर रही ? राम ने किसी प्रकार लक्ष्मण को समझाया कि मुझे सीता का नाम थोड़ा भी प्रच्छन्न नहीं लगता, हे वरस ! तुम्हें इतना करना चाहिए, सीता की वन में कहीं स्थापित कर आओ । इसकी चिन्ता से क्या कि वह भरती है या जीवित रहती है । क्या सूर्य रात्रि के साथ रह सकता है ? रघुकुल में कलङ्कु न लगे, त्रिभुवन में अपयश का डंका न बजे । देवी सीता रथ पर चढ़ाकर अशोक पुरजम के देखते-देखते परदेश ले जाई गईं । कौशल्या, सुमित्रा और नूप्रभा शोक से व्याकुल चित्त होकर खूब रोईं । उदकच्छित्त नागरिक जनों ने [कहा] कि दुष्ट दैव ने किस प्रकार विद्युत् कर दिया । दुष्ट और जगलशोरों के कण्ठ से बर नष्ट हो गया, विक्र-विक्र राम ने अग्रुक्त किया ।

घत्ता—मनुष्य जन्म ग्रहण करने से क्या-क्या कि जिसमें इष्ट-वियोग की परम्परा है । यह ग्रन्था है कि नारी वन में लता हो कि जो तरुन्द के द्वारा कभी भी परित्यक्त नहीं होती ।

[सीता सोच रही है] जग, थल, वन और तृण यह संसार त्रिचित्र है । जो जो देखती हूँ वह वह जलता हुआ दिखाई देता है, धरती को अच्छे लगने वाले हे भानु, हे भानु ! तुम कहो, तुम कहो, यदि मैंने मन से रावण को चाहा हो, हे वनपति ! तुम भी, उस समय वहाँ थी कि जब राक्षस के द्वारा रोती हुई, मैं ले जाई जा रही थी ।

हे आकाशतल ! उस अंधार पर तुम भी उपस्थित थे जब जटायु जीता गया । हे वरुण, पवन, अग्नि, सूर्य तुम भी थे वहाँ ; परन्तु किसी ने भी धर्म का एक अक्षर नहीं कहा ? लोक के कारण, छोटे परिणाम वाले राम ने अकारण मुझे परित्यक्त किया है ? यदि शीलव्रत को धरणा करने वाली, मैं किसी प्रकार सर गई तो स्त्री हत्या का पाप तुम्हारे ऊपर होगा ।

घत्ता—सीता के वचन को सुनकर देव लोक चिन्ता से व्याकुल हो उठा और मानो सीता के शाप के भय से बज्रजंघ को भेज दिया ।

रामसीता सम्वाद :

अपनी कान्ता (सीता) की कांति देखकर पद्मनाभ (राम) ने हंस कर कहा—यद्यपि महिलाएँ कुलों और निर्दोष होते हुए भी अत्यन्त निर्लज्ज होती हैं। थोड़ा कटाक्ष विक्रम करने वाली, कुटिल मति और बड़े हुए झूठकार वाली, बाहर से दौढःपीर गुणों से रहित। निहीन इनके सौ दुकड़े क्यों नहीं हो जाते? अपने कुल की मर्यादा करते हुए इन्हें कुछ नहीं लगता, अयुवन में भयश का अंकावजाती हैं, भङ्ग उठाकर घिनकारते हुए पति को ये अपना मुँह किस प्रकार दिखाती हैं? परन्तु सीता सतीत्व के गर्व से डरी नहीं। मुड़ कर गर्व ग्रीभः ईर्ष्या से बोली—अनूप्य गुणवान् होकर भी नोच होते हैं, वे मरते दम तक स्त्री का विपवास नहीं करते।

यत्ना - पौराणिक पवित्र और कुलीन नर्मदा रेत लवकड़ और पानी लेकर समुद्र से मिलती है; परन्तु वह उसे खारा जल देते हुए बाज नहीं आता।

इवान किसी के भी द्वारा नहीं गिना जाता यद्यपि उसे भी गङ्गा नदी में नहाया जाता है। चन्द्रमा में कशपि कलङ्क है; परन्तु उसकी भी प्रभा निर्मल होती है, मेघ काला है; परन्तु वह दिजली से उज्ज्वल होता है; पत्थर अपूज्य है; परन्तु उसको प्रशिभा चन्दन से लोपी जाती है।

दीपक स्वभाव से काला होता है; लेकिन उसकी बत्ती की लौ से घर शोभित होता है, नर और नारी में इतना बड़ा अन्तर है कि मरते दम तक लता वृक्ष को नहीं छोड़ती। तुमने ये क्या बोलने शुरू किए, आज मैंने सतीत्व की पताका उठा रखी है? तुम विवश होकर देखा आग यदि जलाने में समर्थ है तो मुझे जलाए।

यत्ना - और दूसरी दिव्य बात 'म्या कछ', जब तक मन शुद्ध नहीं होता तो कमक डोर की तरह, जलमि के बाद तक, आग के बीच बैठती है।

उस अवसर पर उवालाएँ भङ्क उठती हैं, मानो मेघजाल में बिजलियाँ हों, सीता सतीत्व के कारण नहीं डरी, और इस प्रकार बोली— 'यह शरीर गुणगण का निवास है, यद्यपि तू सख्सी आग है तो जला, यदि जिन पासन मैंने छोड़ा हो, तो तू जला, यदि मैंने अपने कुल की वांछा न बढ़ाई हो तो तू जला, समस्त युवन को जलाने वाली तू मुझ जला दे, यदि मैंने मन से रावण को वाञ्छा हो।

धत्ता—उस अवसर पर मन में सगुण्ट होकर इन्द्र देवों से कहता है कि सतीत्व का प्रभाव देखो कि प्राण भी नहीं जला सकती ।

तब राघवचन्द्र ने कहा—भैने दुष्ट और चुगलखोरों के बहुकाये में आकर बिना किसी विचार के अपकारण जो तुम्हारा अपमान किया और इतना बड़ा कष्ट पहुँचाया, हे देवी ! तुम उसे क्षमा करो, एक बार मेरा अपराध क्षमा करो । प्रायों चले, घर बार देखो, अपने समस्त परिजनों का परिपालन करो ।

धत्ता—मेरा कहा यह मन में धारण करो, समस्त र्द्वेषों को छोड़ो, इन्द्र से सहित सती की तरह असामान्य राज्य करो ।'

यह सुनकर, जिसने स्नेह छोड़ दिया है, ऐसी सीता देवी इस प्रकार बोली—हे राम ! आप विवाद न करें, इसमें तुम्हारा या जनसमूह को दोष नहीं है । संकड़ों भव-भवांतरों में धर्म को नष्ट करने वाले पाप कर्म का यह सब दोष है । हे राम ! अनेक प्रकार के देशों से विभक्त इस धरती का, मैंने घापकी कृपा से भोग किया । हे रघुपति ! इस समय मैं वेंसा कहूँगी जिससे फिर स्त्री न बने ।

धत्ता—विषय सुख बहुत ही चूके, मैं अब बुढ़ापे और मृशु को काटूँगी । जन्म प्रीति संसार से किरक होकर मैं प्राज्ञ निश्चित रूप से तपश्चरण कहूँगी ।

रिद्धनेमिवरिउ-अरिष्टनेमिचरित

कीचक वध :

राजा विराट के घर जब पांडव अज्ञातवास कर रहे थे, राजा का साला कीचक द्रौपदी से अभद्र व्यवहार करता है, वह किसी तरह उसके चंगुल से छूट कर भीम को पूरी घटना सुनाती है। भीम बाल चलाकर कीचक वध कर देता है।

णिय कीलइं मच्छुद्रु कहि मि गय हजं तेण विसुरिमि दड्ड ह्य ।
जइ पंचहं इक्कु वि होंति पुरि तो कृपइ रणभर धरण-धुरि ॥
एसहु जाम जंपइ वयणु गउ ताम द्वियायह अत्यवणु ।
पणिवण रथणि विस्थारिउ तमु कउहं तर-कसणी-करणलमु ।
किम्मोर-वोर-जमगोयर हो गय बोवः पास विओयरहो ।
णं गंग महाणइ सायरहो णं ससहर-पडिम दिआयरहो ।
णं करिणी करिहो करहुअरहो णं वल्लर-वल्लरि तरवरहो ।
बिणाएण विउजभाविउ संमुह णं सोहः किसोयरि पञ्चमुहु ।
रोवइ दुययसुअ दरिभन्ति किणंकिय हत्था ।
पइं जोवंत एण महु एही भइअ (हुइअ) अवत्था ॥
तो भणइ विओयह अरिदमएण कहि काई माए किउ आगमएणु ।
परिभविअ केण कहो तणउ दुहु पक्खालहि लोयणु लुहंहि मुहु ।
तं णिसुणवि दुभयराय दुहिय पभणइ क्षणसुइव-होर मुहिय ।
महु कवएणु मुह अच्छइ कवण दिहि जाहि तुम्हं वि वट्टइ एह विहि ॥
जो सामि-सालु महि मण्डलहो थिउ हरेवि लच्छि आहंइलहो ।
सो विहिपरिणामे सञ्चरइ धरिमच्छहो णिअ सेव करइ ।

महिमण्डलि सयलि गविट्टाहं केम वि रवल दहवे विट्टाहं ।
 देस-देसंतर भासियाहं धणि वारहं वरसहं गामियाहं ।
 अहियहं मासाहं एहारहं अवरहं वासरहं पणारहं ।
 तो वि दुक्ख-किलेसहो छेउ णवि वरि मरणु न जीविए सुहल कवि ।
 तो भणइ भीमु अपमेयबलु थोरंसु-जलोलिय-भुहकमलु ।
 काहं वचहि माइ लुहि लोयणहं गय दुक्ख-किलेसहो भायणहं ।
 संसारधम्मु ण गिरिबिखअउ सुहु केत्तिउ दुक्खियउ ।
 वेइ दुविवि फलहं पञ्चालि पुराणय वक्खु ।
 जहि गिय रावणिण कि सोपहु थोउउ दुक्खु ॥
 अइकंत-दिवसि अविणोयएण परिभाविअ माइ जं कोयएण ।
 तं तहि जि कालि किर णिट्टवमि पाहुणउ कयंतहो पट्टवमि ।
 तुहं तेण समउ संकेउ करि पइसाहहि णच्चण-साल धरि ।
 जहि तुंगिहे कोवि ण सञ्चरइ तहि कल्लइ कीयउ महु मरइ ।
 पडिअणइ वासरे विअणपय पञ्चाले कुमारहो पासु गय ।
 वोल्लाविय तेण भरालगइ कुलजाग पइव्वय विमलमइ ।
 कहि काहं ण इच्छहि सुयणु मइ, कि णत्थि हत्थि-हय साहणहं ।
 अक्खमि केत्तइउ, लइ, सत्तु देविं जं मग्गहि ।
 कोमल-वाहएहि छुडु एक्कसि सइः प्रालिगहि ॥
 पडिअणु सव्वु तं दोवइए दुक्खारुत्तार मारण सइए
 आबज्जहि णच्चणसाल तुहं तं माणहु विणिवि सुरयसुहु ।
 सेणावइ लेवि पसाहणउ संकेय रुवणु गउ अप्पणउ
 जहि भोमसेणु थिउ पइसरिवि जाहि सोहु कुरंगहो कमु करिवि
 तहि धंघु विसत्थु पइट्टु विडु णउ जाणइ मंडिउ मरण पिडु ।
 रावाणुएण चिहुरेहि धरियउ णं काले पढम कवल भरिउ ।

घत्ता—चित्तिउ कीयएण लइ ह्रुं गंधर्वे मारिउ ।
णउ सदलंघि-कव एहु काले हत्यु पसारिउ ॥

सेणावइ पेक्खेवि अतुलवल्लु ओहल्लउ मोमहो मुह कमसु ।
किय होसइ महु जस हाणि रणि, वज्जेसइ अजस पडहु भुवणि ।
किह होसइ जणवए जंपणउ कह कहवि धोरिवि अप्पणउं ।
आयासु करिवि णिय नुम जुयलं हउ मुट्ठि पहारें वच्छमलि ।
धाएण कीयउ कुम्मागारु किउ पइसारिय हृत्य पाय उयरि ।
धाइय पवर-भट्ट मरु मारिउ ङीयउ केण ।
पञ्च-जणाहिएण घरु वेदिउ भाय सएण ॥
उज्जोउ करिवि विज्जाइयउ शङ्खउ गंधर्वेहिं वाइयउ ।
अण्णोत्तहे बीसइ बुमयसुय बाह्णया लिंगिय सिह्जुय ।
णं काल रत्ति-वुद्धंसणीय णं असणि, सहावे भोसणीय ।
णं परम कुहिणी जम सासणहे। आसंके जाय सव्व जणहो ।
भयरद्धय बाणेण विट्ठाविउ लइ आयहे कारण विट्ठाविउ ।
लइं एवहिं काइं विहाणएण पोरपुच्छिएण कि राणएण ।

घत्ता—दोषइ सवेण सहं धाविउप्परि चलिउ मइया जाणहो ।
कीयउ-भाइ-सउ सवांसुहु चलिउ कसाराहो ॥



रिद्धणेमिचरिउ—अरिष्टनेमिचरिउ

[त्रोपदो कहती है] अपनी ओढ़ा से शायद वे (पांडव) कहीं गए हैं। इसीलिए दग्ध और ब्राह्मण मैं यह दुःख पा रही हूँ। यदि पांडव में से एक भी नगर में होता तो युद्ध में भारत को धारण करने वाली धुरी में

जुत जाता। जब तक वह यह कष्टी है तब तक सूरज डूब गया। रात हो गई और अन्धकार फैल गया, जो विशाघों को काला बनाने में समर्थ था। वह किम्बोर वीर को यम का दर्शन कराने वाले वृकोदर (भीम) के पास गई, मानो गङ्गा नदी समुद्र के पास गई हो, मानो चन्द्र की प्रतिमा सूर्य के पास गई हो, मानो शृषिनी सूँड से मद्य भरने वाले हाथी के पास गई हो, मानो वल्तर की लता तरुवर के पास गई हो। उसने वितयपूर्वक परामर्श किया,—मानो सिंहनी और सिंह हों। घाब से बिह्वित हाथ दिखाती हुई द्रौपदी रोती है, कि आपके रहते हुए मेरी यह अवस्था हुई।

तब शत्रुओं का नाश करने वाला भीम कहता है—हे भादरणीया, बताओ तुम किसलिए आई, किससे तुम्हारा अपमान किया? तुम्हें किसका दुःख है? आँखें धरे लो और मुख पीछे लो। वह मुनकर चन्द्रमा के समान मुख वाली, द्रुपद राजा को पुत्री कहती है—'मुझे कौन सा मुख है और मेरा कौन सा भाग्य? जि जहाँ तुम्हारी यह स्थिति है? जो धरती मण्डल का स्वामी है और इन्द्र की लक्ष्मी का अपहरण करने वाला है, वह भाग्य के परिणाम से चल रहा है और मत्स्यराज के घर सेवा कर रहा है समूचे धरती मण्डल में मैंने खोज कर ली, दृष्ट देव ने किसी प्रकार यह सब दिखाया। देश देशांतर घूमे और वन में बारह वर्ष बिताए, ग्यारह माह अशुभ और भी पन्द्रह दिन। तब भी दुःख और कष्ट का अन्त नहीं है। मर जाना अच्छा, जीवन का कोई सुफल नहीं। तब अर्धमय-बल तथा जिसका मुख कमल आँसुओं से थोड़ा थोड़ा आर्द्र है ऐसे भीम ने कहा 'भादरणीय, क्यों रोती हो, सब दुःखों की भाजन अपनी आँखों को पीछे लो। क्या तुमने संसार धर्म का निरीक्षण नहीं किया। मुख कितना और दुःख कितना? पूर्वजन्म का वर्मरूपी वृक्ष दोनों प्रकार के फल देता है कि जहाँ रावण ने सीता को काम दुःख दिया? दिन डूब जाने पर अविनीत कीचक ने जो तुम्हारा अपमान किया, उसे मैं वहीं उसी समय नष्ट करूँगा। तुम उसके साथ संवत् करके, नृपशासक-घर में प्रवेश कराओ। जहाँ राति में कोई भी गन्चार नहीं करता, वहाँ कल रात कीचक मुझसे भरेगा। सवेरा होने पर, बिकट परों वाली कुमार कीचक के पास गई। हंस के समान गति वाली उससे कीचक ने कहा—हे कुलीन और पवित्र बुद्धि वाली पतिव्रते, बताओ तुम मुझ सज्जन को क्यों नहीं चाहती। क्या मेरे पास गज और अन्न के साधन नहीं है, कितना डूक?

सच, तुम जो मांगती हो, वह मैं दूँगा। शीघ्र तुम अपने कोमलबाहुओं से मुझ एक बार आलिङ्गन दो।

दुर्वार विट को मारने की बुद्धि रखने वाली द्रौपदी ने वह सब स्वीकार कर लिया। तुम नृत्यशास्त्र में आधी वह दोनों रति सुख मानेंगे। सेनापति कीचक प्रसाधन कर वहाँ सकेत भवन में पहुँचा कि जहाँ भीमसेन प्रवेश कर हरिन का रूप धारण करने वाले सिंह के समान स्थित था। वह घोंघा विट विश्वस्त होकर घुसा वह नहीं जानता कि भृशु-पट बिछा हुआ है। राजा के धनुज भीमसेन ने उसे बालों में पकड़ा मानो यम ने पहला कौर (मुँह में) भरा हो।

घत्ता—कीचक ने सोचा मैं मंथर्य के द्वारा मारा गया। यह संरक्षी (दासी) का हाथ नहीं, यह तो काक ने हाथ फँलाया है।

सेनापति (कीचक) का अज्ञ बल देखकर भीम का मुखकमल नीचा हो गया क्या युद्ध में मेरे यश की हानि होगी, दुनिया में अपयश का डंका बजेगा। क्या जनपद में निश होगी, किसी प्रकार उसने अपने में धीरज रखा। अपनी दोनों बांहों में आयास करके, उसने मुट्टी के प्रहार से वक्षस्थल पर प्रहार किया—आज्ञात से कीचक को कञ्जुए के आकार का बना दिया और हाथ पैर उसके पेट में घुसेड़ दिए।

महान् योद्धा दौड़े, लो कीचक को किसने मारा। पांच अधिक सी आश्रयों ने घेर घेर लिया। प्रकाश करके देखा कि सचमुच गंधर्वों ने उसे मार डाला है। दूसरी ओर द्रुपद पृथ्वी दिखाई दी, जिसके दोनों स्तन बाहु रूपी लताओं से आच्छादित थे, मानो दुर्दरशनीय कालरात्रि हो, मानो स्वभाव से भयङ्कर वज्र हो। मार्ग्य शम शासन की गली हो। सब लोगों को आशङ्का हुई कि कामदेव के शेरों से विज्ञ यह इसके कारण मारा गया। लो इस समय इसको शोभने से क्या? और राजा से पूछने से क्या?

घत्ता—शव के साथ द्रौपदी को मृतकयान (शर्षी) पर स्थापित कर कीचक के सी भाई मरघट की ओर चले।

परिशिष्ट (१):

(१) आचार्य हेमचन्द्र

अहमदाबाद के निकट धंधुका कस्बे में, १०८१ ई० में जन्मे आचार्य हेमचन्द्र के माता-पिता का नाम बाहिनो घोर भाषकेन्द्र था और स्वयं का बचपन का नाम चंगदेव । बचपन में ही आचार्य देवचन्द्र सूरि से टीका प्रहण करने वाले आचार्य हेमचन्द्र २१ वर्ष की आयु में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए । मालव विजय के बाद, चौलुक्यवंशी राजा सिद्धराज अयसिंह जब अणहिलवाड़ा पहुँचा तो वहाँ के बुद्धि-जीवियों ने उसे खेर लिया और बधाई देने वालों का खता लग गया, जैसे कि इस देश के बुद्धिजीवियों की आपस नहीं है । राजा पर इसका असर था या नहीं ? यह कौन बताए, परन्तु, वह अपनी राजनीतिक विजय से उपादा प्रसन्न नहीं था । उसके मन में जब भी कि वह मुजरात को साहित्यिक गतिविधियों में इतना दक्ष बनाएगा कि मालवा घोर उसकी सज्जीयनी को माल दे सके । इसी विचार से वह आचार्य हेमचन्द्र से एक बड़िया ब्याकरण लिखने का अनुरोध कर बैठता है । आचार्य अनुरोध मान लेते हैं और इसका फल है 'सिद्धहेम शब्दानुशासन ।' तब से आचार्य श्री को साहित्य साधना अजिराम जर्नी और करीब-करीब १२-१३वीं सदियों में यही मुजरात भारत की साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया । अवसिंह ने वहाँ ब्याकरण की प्रतियाँ दूरदराज भित्तवाड़ी, कंकले काश्मीर केन्द्र को बीस प्रतियाँ भेजी थीं ।

उनकी दूसरी प्रति लिख रचनाएँ हैं--समिधान (पन्तामणि कोण, त्रिधष्टिकला का पुनव-चरित्र, इयाध्रय महाकाव्य (संस्कृत/प्राकृत), योगसास्त्र, प्रमाण मोमांसा, काव्य मोमांसा, सन्दीपानुशासन, देशी नाममाता और निर्घट्टेध । हेमचन्द्राचार्य के सतुपदेश के राजा कुमारपाल (जो जयसिंह का उत्तराधिकारी था) का उत्तरकाशीन जीवन समय, वैदिक शास्त्रण और ज्ञान कल्याणकारी कार्यों में बीता । आचार्य हेमचन्द्र ने अपने इयाध्रय काव्य के प्राज्ञ-उदाहरणों के माध्यम से कुमारपाल का चरित्र वसित कर दिया जिसमें उन्हें अद्वैतवात् आवक बताया गया है । हेमचन्द्राचार्य के शिष्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने मिलकर 'नाटय दर्पण' की रचना की जिसमें संस्कृत के लुप्तप्राय नाटकों के सम्बन्धों की अवधारणा है ।

आचार्य हेमचन्द्र का महत्त्व यहाँ है कि उन्होंने साहित्य की प्रत्येक विधा को उसके ऐतिहासिक उद्गम से लेकर समकालीन सम्बन्धों में जोड़ा । उनका समकालीन

प्रवृत्तियों का विशेषतया संक्षिप्त और संवेत्तात्मक है; परन्तु हे मौलिक और महत्त्व-पूर्ण, इसमें उनका उद्देश्य समकक्षीय प्रवृत्तियों को दर्श कराना है, ताकि प्राये बानी पीढ़ियों के लिए वे आह्वयम स्वरूप बन सकें। अपभ्रंश का व्याकरण में सुबो के उदाहरणों के रूप में उन्होंने बोधे दिए हैं, इससे बहुत सा अपभ्रंश बोधा साहित्य बिलुप्त होने से बच गया। जो परवर्ती बोधा काव्य और भाषिक प्रवृत्तियों के अध्ययन की महत्त्वपूर्णा कड़ी है। सर्वप्रथम समय में अपभ्रंश भाषा थीर उसके साहित्य का पता सिद्ध हेम शब्द व्याकरण से ही चला। यदि हेमचन्द्र का साध्य न होता तो, पश्चित यह मानते ही नहीं कि अपभ्रंश एक सहज कौचित भाषा थी, जो अपना उत्तरदायित्व परवर्ती भाषाओं को सौंपकर, अस्मिन्व्यक्ति के मञ्च से हट गई।

अपने काव्यानुशासन में उन्होंने अपभ्रंश काव्य की विभिन्न विधाओं का उल्लेख किया है। वे पहले काल समीक्षक हैं जिन्होंने अपभ्रंश काव्य की प्रवृत्तियों को साहित्य शास्त्र में सम्मिलित किया। अख्यानुशासन का (तुक) जो अपभ्रंश काव्य की विशेषता है, पहले संस्कृत साहित्य शास्त्र में उल्लेख नहीं था। हेमचन्द्र के श्लोडानुशासन में इसका उल्लेख है। उसके बाद महापात्र विश्वनाथ ने (१२वीं सदी) अपने काव्य दर्पण में अख्यानुशासन का उल्लेख किया है, बाद में त्री तुक पर आश्रयित गीत पद लिखने की प्रवृत्ति संस्कृत कवियों में भी लोकप्रिय हो उठी। ११० कीय ने लिखा है—

“अतः जिस बहुलता के साथ इसका (तुक का) प्रयोग जयदेव के काल में निरत है उसका कारण कुछ अर्थों में अपभ्रंश का प्रभाव ही सकता है।”

संस्कृत साहित्य का इतिहास : पृ० २३९

(२) रिचर्ड पिशेल

‘अपभ्रंश के व्यवस्थित अध्ययन की शुरुआत का श्रेय जर्मन विद्वान् रिचर्ड पिशेल को है। अपभ्रंश का पता उन्हें अन्तर्गत हेमचन्द्र के ‘सिद्धहेम शब्दानुशासन’ के सम्पादन के तालखिले में चला। उनका यह ग्रन्थ १८७७ में जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। उनका, ‘प्राकृत भाषाओं का व्याकरण’ १९०० में जर्मनी के ‘स्ट्रासबर्ग’ नगर से प्रकाशित हुआ। यह उनके २५-२० वर्षों के सतत अध्ययन का फल है। पुस्तक का जर्मन नाम है—‘ग्रामेटिक डेर प्राकृत स्पाचन’ जिसका हिन्दी अनुवाद ‘प्राकृत भाषाओं का व्याकरण’ के नाम से स्व० डॉ० हेमचन्द्र जोशी ने किया और जो बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना से प्रकाशित है। डॉ० पिशेल द्वारा सम्पादित ‘देशीनाममाला’ १८८० में जर्मनी से प्रकाशित हुई। पिशेल ने स्वीकार किया है कि अपभ्रंश वास्तव में जनता द्वारा बोली जाती रही होगी। उनका कहना तो यह तक है कि बहुत प्राचीन समय से ही अपभ्रंश कौतियों में नाटक

लिखे जाते रहे होंगे, तभी उनके विद्यालय भारत मुनि के नाट्यशास्त्र में है। उनका कथन है कि जिन्हें बंगाल में जाया और उत्तर भारत में एक छात्र कहा जाता है, वास्तव में वे वही नाटक हैं, जो फनमोड और नेपाल में भी आमोद-प्रमोद के लिए लिखे जाते हैं। भारतमुनि के शीरसेन समाख्येय भाषा काव्योपु माटके का उन्होंने अर्थ किया है कि अपभ्रंश कोलियों में नाटक लिखे जाते रहे होंगे। भरत मुनि के समय अपभ्रंश में नाटक लिखे जाते थे या नहीं, यह विद्यावास्पद है; परन्तु यह तथ्य है कि प्राकृतों के साथ कोलियों का प्रयोग नाटकों में होता था, जो विभिन्न पात्रों की सामाजिक स्थिति को देखते हुए जरूरी और उचित था। विज्ञान का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष है कि प्राकृतों का मूल संस्कृत ही नहीं है, जैसा कि कई विद्वान् समझते हैं, (अपभ्रंश होकर, वास्तव, अपभ्रंश और फिर जेकोबी) उस समय के आधार पर कुछ; विद्वान् विज्ञान को प्राकृतों का पाणिनी मानते हैं। निम्नोद्देश्य विशेष का अध्ययन्य सराहनीय और अध्ययन महत्वपूर्ण है; परन्तु उन्हें प्राकृत का पाणिनी कल्पना उचित नहीं। इससे विज्ञान की प्रतिष्ठा में फर्क नहीं पड़ता, चाहे उन्हें पाणिनी कहा जाए या न कहा जाए। इसका कारण यह है पाणिनी ने अपने समय की लोकभाषा को ध्याकृत किया था। उनमें भाषा तत्त्वों को गहराई से देखने की दृष्टि भी और वह भाषा उनके सामने प्रयोग में थी। इसके विपरीत विज्ञान ने ऐसी प्राकृतों का अध्ययन प्रस्तुत किया जो उनके देश में बहुत दूर भारत में प्रयुक्त होती थी, वे भी सुदूर अतीत में। उनका अध्ययन प्राकृतों के उपलब्ध परम्परागत व्याकरणों पर आधारित है। अध्ययन की गहराई और निष्पक्ष विश्लेषण की प्रतिष्ठा उनमें अत्यन्त की थी, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। १९०२ में बर्लिन से प्रकाशित 'माटेरिअलिअन् एन्ड डेम् अपभ्रंश' पुस्तक में अपभ्रंश का स्वतन्त्र विचार है। विज्ञान कोल और बर्लिन विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर रहे हैं। 'विज्ञान' के समय बहुत कम अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध था। वह सिद्धेय शब्दानुशासन में उदाहृत अपभ्रंश अवतरणों तक सीमित था।

(३) हर्मन जेकोबी

हर्मन जेकोबी हमारे जर्मन विद्वान् हैं, जो यद्यपि विज्ञान के पूर्व जैन साहित्य पर काम कर चुके थे, फिर भी उनके प्रह्वत भाषाओं के व्याकरण से प्रभावित होकर जेकोबी ने अपभ्रंश साहित्य की रचनाओं की खोज की अपनी जीवन का लक्ष्य बना लिया। इसके लिए उन्होंने संसार भ्रमण किया। १९१३-१४ में कई जैन ग्रंथों की खोज के बाद, वे जब गुरुवाबाद पहुँचे तो उन्होंने एक जैन साधु के पास रहती एक पोथी देखी। वे एकदम उत्पन्न पड़े, जब उन्हें मालूम हुआ कि यह अपभ्रंश कवि छगपाल की रचना 'धोदिसयत कथा' है। जब साधु पांडुलिपि देने के लिए तैयार न हुआ तो उन्होंने उसकी प्रतिलिपि कर ली। इसी प्रकार उन्हें

राजकोट के एक साधु के पास हरिभद्र सूरि के तैमिनाहचारित्त की प्रति मिली थी। १९१८ में मूनिष रायल अकादमी जर्मनी से 'शिवस्मरण कथा' का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ। १९२१ में 'संनत कुम्भार चरित', जो तैमिनाह चरित का एक अंश है, संपादित होकर प्रकाशित हुआ।

(४) स्व० पण्डित चन्द्र शर्मा गुलेरी

स्व. पण्डित चन्द्रशर शर्मा गुलेरी (ज. ७-७-१८८५, मृ. १२-१०-१९२२) कुल एक वर्ष कम छाधी सदी लिए। शारदिक शिक्षा घर घर हुई, अपने पिता प० जिनराय जी से, जो जयपुर राजघराने के पंडित और संस्कृत मंत्रालय के जाने माने चिटानु, महासहोपाध्याय, व्याकरणशास्त्र और शास्त्री के तथा जयपुर संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य। गुलेरी जी ने प्रयाग विश्वविद्यालय और कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम्.एस. परीक्षा १८९९ में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। १९०३ में प्रयाग से बी० ए०। एम० ए० (दशम शास्त्र) की परीक्षा देते देते रह गए। १९०२ में जयपुर के उद्योग-संशालय के उद्धार में कर्नल सर सिंगटन जेकर और कप्तान गेरेट की सहायता की। १८ वर्ष की उम्र में भी गेरेट के सहयोग से 'जयपुर श्रावणवेटीर एण्ड प्रिन्टिंग विन्टर्स' मुद्रणालय खोली। १९२० में पं. मदन मोहन मालवीय ने बुलाकर मनीषचन्द्र शर्मा, प्रोफेसर एवं प्राचार्य, कनिष्ठ ऑफ़ प्रोविन्सियल लिनियर एण्ड विद्योलाजी के रूप में इन्हें नियुक्त की। श्री गुलेरी ने 'नाबरी प्रचारिणी पत्रिका' और 'समालोचक' का संपादन किया। शास्त्रीय और सामान्य विषयों पर इनके मन्थिर और भगोरेंजक दोनों प्रकार के लेखों की लंबी शृंखला है। उनके धारणा के कहानीकार और ललित निबंधकार भी थे। पुरानी परिपाटी के होते हुए भी उनका दृष्टिकोण आधुनिक था। गुलेरी जी हिन्दी शोध के पहले मनीषी वैज्ञानिक हिन्दी के उद्भव और विकास का सम्बन्ध स्पष्ट शब्दों में जोड़ा। इसके पहले विद्वान् संपन्न का अस्तित्व नहीं मानते थे, जो मानते थे, उनका कहना था कि संपन्न का हिन्दी से कोई नाता नहीं। डॉ० सुनीलकुमार चाटुर्पाई जैसे भाषाविद् हिन्दी को ऐसी भाषा मानते थे जिसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं। संस्कृत ही हिन्दी का विकास मानते वालों के विरुद्ध श्री गुलेरी ने प्रतिपादित किया कि 'संस्कृत संस्कृत से नहीं निकली, संस्कृत इतिम-भाषा है, वह छंदम् भन्ना पर नमाई गये; कलम है। यद्यपि उसने प्राकृत संपन्न का को समुद्र बनाया, लेकिन वह खुद बौमरही।' उनका कहना था कि 'गित 'कृत' को संस्कृत बनाया गया, वह मूलभाषा हुना चाहिए न कि संस्कृत।' वैदिक भाषा और प्राकृतों के कई भाषांतर्य मिलते जुते हैं। वैदिक प्रयोग बहुलता, प्राकृतों में और बढ़ती है। जिसे रोक कर संस्कृत का बांध बनाया गया, जिसमें छोटी बड़ी कई वधियों का पाना है। परन्तु लोग बांध को नहीं मान बैठे, तथा धारा की

भूल गए। लेकिन बाँस का पानी रिसता है वह पुराने भागों पर बहने लगता है, इससे प्राकृतों का विकास होता है। धारा फिर बहने की धोर बहती है, यह उदाहरण, अपभ्रंश के नाम से जाना गया। गुलेरी पुरानी हिन्दी (पचहट्ट) और अपभ्रंश को एक मानने के पक्ष में हैं, और कभी भिन्न भिन्न मानने के पक्ष में। भारतीय आर्यभाषा को एक अविच्छिन्न धारा मानते हुए उनका कथन है, 'वैदिक भाषा, सच्ची संस्कृत, सच्ची प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी—वे एक ही एक ही भाषा है। पंडितों की संस्कृत व्याकरणों या वादकों की प्राकृत, महाराष्ट्री या ऐसे ही नामों की अपभ्रंश (पश्चिमी राजस्थानी या पुरानी गुजराती आदि) सब इसकी सन्तानें हैं, गट की ग्यारी ग्यारी भूमिकाएँ हैं।'

थो गुलेरी पाणिनि से इतना नफ़ान हैं क्योंकि उन्होंने भाषा (व्यवहार की संस्कृत) को प्रकृत मानकर वैदिक संस्कृत को उसकी विकाश माना है। लेकिन वे यह भी कहते हैं कि यह निश्चित करना कठिन है कि छद्म भाषा और व्यवहार भाषा में 'कृत' कौन है जिससे संस्कृत बनी। गुलेरी के उक्त विचारों को उस भाष्यता के आकाशक-विरोध के परिपेक्ष्य में देखना चाहिए, जो संस्कृत को एकमात्र धन्यभा भाषा मानती है। वस्तुतः वैदिक भाषा और संस्कृत में आधारभूत फर्क नहीं है। एक आवश्यक है, दूसरी जन प्रयोग के प्रकृत में बहती। जिन तरह प्राकृत और वैदिक भाषा के भाविक तत्त्वों में समानता है, उसी प्रकार वैदिक भाषा और संस्कृत की भाषा तत्त्वों में समानता है। दोनों का आधार कोई आधारभूत बोलती रही होगी? लेकिन यह निश्चित रूप से परवर्ती प्राकृत नहीं रही होगी, उसे हम मूल वैदिक आर्यभाषा कह सकते हैं, हेतुचन्द्राचार्य उसे धन्यावि प्राकृत मानने के पक्ष में हैं। यह क्या था, यह जानने का कोई साधन नहीं। लेकिन निश्चित रूप से संस्कृत गढ़ी गई भाषा नहीं।

(५) सन्दर्भ और अर्थ

भाषा, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और इनो शब्दों का विभिन्न-विभिन्न समर्थों में विभिन्न विद्वानों ने उल्लेख किया है। सर्वथ की देखकर इन शब्दों की संगति बँडाने में भाषा वैज्ञानिकों में बड़ी खींचतान है। उदाहरण के लिए पोस्त्रामी तुलसीदास ने भाषा के अर्थ में 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग नहीं किया। 'जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषा जिहू हरिचरित बध्दाने' (रामचरित मानस १.१४.५) में प्राकृत कवि का सामान्य, आर्त्तितर कवि है। तुलसी का अर्थप्रत्यय यह है कि प्राकृत (संसारी) लोगों की प्रशंसा करने वाले संस्कृत कवियों से तो वे सामान्य कवि परम विद्वान् हैं, जो भाषा में राम के चरित का व्याख्यान करते हैं। 'कीन्हें प्राकृत-जन-पुण्यमान, सिरपुनि गिरा खानि पक्षिखाना' (१.११.८) से 'प्राकृत' के उक्त अर्थ की पुष्टि होती है। प्राकृत जन भाषी सामान्य लोक पृथक्

(राजा इत्यादि) का सुसंगत करने की प्रतिक्रिया, सरस्वती पर वह होती है कि वह अपना मामा पीटकर पश्चात्ताप करने लगती है कि मैंने ऐसे व्यक्तियों को भाषा क्यों दी ? तुलसीदास ने सबसे भी जगह अपनी भाषा को भाषा कहा है : 'भाषावद्द करव में सोई ।' इसके फलावा उन्होंने उसे भाषाभ्रान्ति या भ्रान्ति भी कहा है । भ्रान्ति भ्रान्ति का तद्भवना है, जिसका अर्थ है कथन या भाषा । मानस की भाषा को सबसे भी नाम बाद में दिया गया । अन्वया भाषा की भाषा, भाषा है । यह कहना सही नहीं है कि तुलसी के समय प्राकृत अव्यंज भाषा या भाषा समझी जाती थी या यह कि प्राकृत ही तुलसी का अभिप्राय प्रादेशिक भाषा से था । संस्कृत की तुलना में अपनी भाषा की तुलसी ने भाषा कहा है । जब संस्कृत को तरह प्राकृत और अव्यंज शब्द साक्षात् हो चुकी थीं तब उन्हें वे भाषा नहीं, सही नामों से पुकारते; परन्तु उन्हें पुकारने की जरूरत नहीं पड़ी ।

'प्रकृति संस्कृतं, तत्र तत्र प्राकृतमुच्यते (मार्कण्डेय प्राकृत सर्वत्र), प्रकृतेः संस्कृतानां स्तु विकृतिः प्रवर्धते मता (प्राकृतिक शब्द प्रदीपिका, लक्ष्मीधर चम्पूभाषा चन्द्रिका) प्रकृतस्थ तु सर्वे संस्कृतां योनिः ।' [वासुदेव, कर्पूरमञ्जरी की टीका] ।

एक समयतरुणों में ऐतिहासिक तथ्य की स्वीकृति है, प्राकृत की हीन कहने की भावना नहीं । उसकी स्वीकारण जिन साहित्य शब्द प्राकृतों का उल्लेख करते हैं, स्पष्ट ही उन पर संस्कृत की छाया है । उनकी यह स्वीकृति केवल शब्द को लेकर ही नहीं; अपितु शब्द रूप या समूची भाषा प्रक्रिया को लेकर भी है । विकृत कहने में कृपा नकली ही तो प्राकृत को विकार की जगह संस्कृत का विकास कह लीजिए । शब्द के अर्थों की विकार में अन्तर है । अर्थ का अर्थ या अर्थ विकास है; परन्तु हय, मोठक आदि अर्थों में शब्द की प्रकृति अर्थों में नहीं होती । अर्थ के दो भेद हैं—संज्ञा और धातु । धातु और विकृत विभक्तियों बुझने पर वे संज्ञापद और क्रियापद बनते हैं । अर्थः संस्कृतः तत्र यह कहना गलत है कि 'एवं प्रकृतिः अव्यंजः ।' संस्कृत में पुरुष, स्त्री, वन, लता आदि शब्द हैं । इनकी प्रकृति, अर्थों से पहचानी जाती है । विकृतों की पहचान प्रथमा विभक्ति से होती है, पुरुषः स्त्री वन लता । अथवा विभक्ति के और भी काम हैं । अर्थों की प्रकृति की पहचान का सबसे लक्ष्य शब्दों में उन्नता है जैसे पुरुषः का पुंसो, पुंसु, पुंसु शब्द का घोड़ो, घोड़ा, घोड़व, घोड़ । इत्यादि क्रिया प्रधान भाषाओं में प्रकृति का महत्त्व इसलिए बढ़ गया क्योंकि वह भाषा की संस्कृत की संस्कृत देती है ।

नई पीढ़ी के एक अर्थों का, जो कभी भेदे गिण्य रहे हैं, कहना है कि 'प्राकृत का अर्थ संस्कृत से नहीं हुआ वर्तमान भाषा विज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार, किसी भी भाषा के अर्थ पर कोई स्वतन्त्र भाषा अर्थ नहीं लेती । जो भाषाएँ आज विद्यमान हैं उनका मूल रूप किसी न किसी बोली में प्रचलित है । इसलिए एक भाषा की महत्त्व अवस्था में से किसी भाषा का अर्थ मान लेना उचित नहीं, वस्तुतः उचित

यह है कि बोली प्रौर भाषा एक साथ जन्म लेती हैं और विकसित होती हैं। यद्यपि व्यवहार में उन दोनों के समय में बहुत अन्तर होता है; किन्तु सहस्राब्दियों के इतिहास में वह नगण्य ही होता है। हममें से जो भाषा सभी प्रकार से नियमबद्ध हो जाती है उसका विकास रुक जाता है, वह मृतप्राय हो जाती है; किन्तु जो बोली भँवर गति से भाषा को पकड़ति पर चलती लक्षती है और जिसमें साहित्य की रचना होने लक्षती है वह साहित्यिक भाषा क्त भावी है। वैदिक बोलियाँ इसी प्रकार विकसित होकर विविध नाम रूपों में शक्तिष्ठत हुईं। यद्यपि पाणिनि ने भाषा की प्रचाम गति को रोकने का महान् प्रयत्न किया प्रौर उसमें बहुत कुछ सफल भी हुए; किन्तु भाषा के विकास को वे पूर्ण तरह रोक नहीं पाए। अन्ततः उन्हें पुष्यतीदरादि वरुण कहकर लोक भाषा ति समझीता करवा पका था। जिस तरह प्राकृत का अर्थ स्वाभाविक है उसी तरह प्रथम भाषा का अर्थ हैं जन बोली।

आहए, मर जरा सिलसिलेवांग दन तक की का विश्लेषण करें। यह कीर्ण नहीं कहना कि संस्कृत से प्राकृत का जन्म हुआ ? क्योंकि एक तो प्राकृत कई है, संस्कृत से किस प्राकृत का जन्म माना जाए ? यह अगड़े की बात होगी या यह माना जाए कि संस्कृत से तीन प्राकृत रुपी वेष्टियों का जन्म हुआ। किसी भाषा के जन्म को प्रकिया नहीं नहीं होती कि जो भी के वेष्ट से अन्वेषों के जन्म की होती है। लेकिन यह भी प्रश्न है कि प्राकृत का जन्म संस्कृत से नहीं हुआ तो किससे हुआ ? यह ठीक है कि किसी भी भाषा के चल पर कोई स्वतन्त्र भाषा जन्म नहीं लेती। प्रश्न है कि क्या परतन्त्र भाषा जन्म से सकती है ? स्वतन्त्र और परतन्त्र भाषा के बदा अन्विप्राय लिया जाए ? प्राकृतें स्वतन्त्र हैं या परतन्त्र ? संस्कृत के बारे में यही प्रश्न उठता है। यह भी विचारणीय है कि संस्कृत का जन्म किससे हुआ ? जो भाषाएँ (हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि) आज विद्यमान हैं, उनका मूल रूप जिन बोधियों से उद्भूतछिन्न है, वह एक है या अनेक, वे टेड से अलग-अलग हैं या उनका कोई सामान्य आधार है ? यदि अलग-अलग हैं तो उन्हें एक शायं का कौंसे माना जा सकता है ? किसी पूर्वकालिक भाषा से सम्बन्ध रखने वाले बोलियों के धृते-निसे तर्क क्या यह सिद्ध नहीं करते कि उनके विकास का एक समान स्रोत है ? क्या वैदिक बोलियाँ विकसित होकर विविध नाम रूपों में प्रतिष्ठित हुईं ? क्या यह मानना भाषा विज्ञान के मान्य सिद्धान्त के विपरीत नहीं है ? क्या इसे तर्कशुद्ध माना जा सकता है ? क्या यह मानना उचित होगा कि एक वैदिक बोली संस्कृत बनी, बहु मर गई, दूसरी संघर गति से विकसित होकर प्राकृत बनी, यह मर गई, कि तीसरी बोली उठी प्रौर प्राकृत बनी, यह भी मर गई ? यह भी प्रश्न है कि अस्त वैदिक बोलियाँ सर्वथा भिन्न थीं या स्थानीय बोड़े बहुत भेदों के साथ एक सामान्य भाषा थी ? भाषा के मरने का क्या अर्थ ? भाषा से भाषा वंदा नहीं होती प्रौर न वह मरती है। जैसे यह रोज मरती है, फिर भी जिनदा बनी रहती है। मुँह से हथ ओ कुछ बोलती हैं वह भाषा

का अरूप रूप है; लेकिन जब उसे लिपिबद्ध करते हैं तो अरूप से अक्षर यानी प्रमित बन जाते हैं। मिटकर भी प्रमित है, खूब्य होकर भी प्रमित है। प्रक्षर, बोलने में प्रक्षर हुआ फिर प्राक्षर, अक्षर मरा, भरकर भी 'अक्षर' में पर्याय बदल कर मौजूद है तथा अक्षर, 'प्राक्षर' में। हिन्दी में अक्षर भी चलता है और प्राक्षर भी। अक्षर, बोलचाल में अक्षर भी हो जाता है। यतः पाणिनी ने क्या गुण कह किया यदि उन्होंने कह दिया कि संयुक्त 'स' संस्कृत में एक ध्वन्यात्मक इकाई है? अक्षर न होता तो अक्षर, प्राक्षर, अक्षर, अर (जो प्राकृतिक उच्चारण है) कहीं से आते? पाणिनी ने मानक भाषा का मापदण्ड स्थापित कर दिया, आप तब प्राचाई विकास को उससे मापते रहिए।

पाणिनी ने भाषा के विकास को रोका नहीं; बल्कि उसके मानक रूप को स्थापित किया। परिवर्तनशीलता और अपरिवर्तनशीलता के बीच भाषा में जो रसाकली चलती रहती है उसमें संतुलन कायम रखना जरूरी है। पाणिनी अपने द्वारा स्थापित भाषा की जिन प्रवृत्तियों का खुलासा नहीं कर पाए, उन्हें आकृतिमय, वृत्तबद्धादिगण, वैकल्पिक व्यवस्था कह कर उन्होंने स्वीकार किया, वह इस तथ्य का प्रमाण है कि पाणिनी ने भाषा को संस्कारित नहीं किया। किसी भाषा को संस्कार देते हैं उसके भोजने वाले, बैसाकरण उन संस्कारों को अनुयायित करता है ताकि उनके भाषा की पहचान बनी रहे। मान लीजिए त्वाकथित वैदिक वीलियों में से कोई एक शोर्ना मध-मन्त्र चल कर अर्द्धमागधी बनो। तोर्मच्छर महावीर ने उसमें प्रवचन दिए, उनमें से कुछ सुरक्षित हैं, और कुछ मल्ट हो गए। उनका जो लिखित रूप प्राप्त है, उसे आप जीवित कहेंगे या मृत? आप जो भी कहें में प्रगुत भावता हैं। भाषा मरती नहीं है, लुप्त हो सकती है, दूसरा रूप ग्रहण कर सकती है, प्रप रूप ही चलती है। प्रच आप उक्त अर्द्धमागधी से संस्कृत तद्भव शब्द और रूप निकाल दीजिए, बचेगा क्या? जो बचेगा क्या वह महारौर के विचारों को संक्षेपित कर पाएगा? यह कहना हस्तधत्पव है कि प्राकृत का अर्थ स्वाभाविक है और अर्थभंड का जन कोनी। एक स्तर पर प्रत्येक भाषा जन भाषा होती है। प्राकृत का अर्थ स्वाभाविक जरूर है; किन्तु भाषा के अर्थ में प्राकृत उस भाषा को कहते हैं जो साहित्य रूढ़ को। संस्कृत की तरह प्राकृत स्वतन्त्र भाषा न होकर प्रादेशिकता से जुड़ी भाषा है। भगधी, अर्द्धमागधी, औरतेनी और महारथुी नाम किसी न किसी रूप में प्रादेशिकता को सूचित करते हैं। पाणिनी के पहले संस्कृत को अध्याकरण सिखने वाले काश्यप, गार्ग्य, शाकल्य, शाकटायन आदि लक्ष्मण इस अर्थार्थ हो चुके थे। पाणिनी ने इन्द्रति भाषा (नेद भाषा) के तन्मांतर त्वाकामीक प्रचलित लोक भाषा का व्याकरण किया है, तथा दोनों में अन्तर बताया है। इसी तरह अर्थभंड साहित्य-भाषा का नाम है, उसे जनप्रच भाषा कहना ठीक नहीं, इसके भी कोई प्रादेशिक रूप है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत और प्राकृत, साहित्यिक मानक भाषाओं

के नाम हैं। भाषा की उत्पत्ति और विकास का सम्बन्ध मानव समूह से है, सम्प्रदाय से नहीं। सम्प्रदाय भाषा के किसी रूप को कारण विशेष से सुरक्षित रखता है। जैसे वैदिक भाषा और संस्कृत को सुरक्षित रखने का श्रेय ब्राह्मणों को है, वालि और प्राकृतों को सुरक्षित रखने का श्रेय बौद्धों और अमलों को है। लेकिन दोनों-तीनों भाषाएँ जनता द्वारा प्रयुक्त थीं। जैसे भी देखा जाए तो संस्कृत और प्राकृत में दोनों भाषाएँ ऊँच हैं। एक संस्कार की गई और दूसरी प्राकृत मानि सहज ऊँच, दोनों को एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह धृष्य नहीं किया जा सकता। प्रश्न है कि संस्कृत कितने पितर पितर पिउ पिइय प्रादि का विकास हुआ या पितर प्रादि ने कितनी रचना की। याति से जाइ बना या जाइ से याति। अति विकास को प्रयुक्तियाँ जिस विद्या में काम करती हैं, अस्तुतः भारतीय भाषा भाषा का विकास उसी विद्या में होता है। विकास का यही क्रम है।

परिशिष्ट (२) :

अपभ्रंश की अनुसन्धान कथा

अपभ्रंश का अनुसन्धान, भारतीय प्रांच्य विद्या की उस खोज यात्रा का एक पड़ाव है कि जो प्रथम विश्व युद्ध और औपनिवेशिक प्रक्रिया के विस्तार के कारण बंदत राजनीतिक सम्पर्क के बहाव के फलस्वरूप मुक्त हुई थी। इस खोज में दोनों ही प्रवृत्तियाँ संश्लिष्ट थीं, (१) उपनिवेशवाद की जड़ें जमाना, (२) मानवी सम्बन्धों की पहचान और उनको संस्कृति की रचना करने वाले तत्वों का अनुशीलन।

भारतीय पुराविद्या में दिलचस्पी रखने वाले यूरोप के विद्वान् यह देख कर हैरान थे कि क्या सहस्राब्दि से मुलामी में जकड़ा दरिद्र, निरक्षर और अधिकार चेतना से गून्थ भारत जैसा देश, अंतोरा में उत्पत्ति के सरम शिखर पर था। यदि वा तो यह शिखर टूट गया या बड़ फिसल गया। अनेकता में एकता के सिद्धान्त का अर्थ ही ने खूब सोचाया किया। अनेकता में एकता के सिद्धान्त का राजनीतिक और स्वावहारिक अर्थ यह है कि भारत विचारों क्षेत्रों संस्कृतियों, जातियों, भाषाओं और उपासनाओं की दृष्टि से विभाजित है। भिन्नता और अनेकता ठोस है पभिन्नता और एकता कल्पित। अर्थों ने एकता में अनेकता के बीज बोने का जो राजनीतिक तितसिधा शुरू किया, यह उनके जाने के बाद न केवल कायम है, बल्कि बीज ने वृक्ष का रूप ग्रहण कर लिया है। राष्ट्रीय उद्यान के वृक्ष होने के वजाय, 'हर वृक्ष' अपने स्वतन्त्र विकास के लिए खंचाई कर रहा है। इससे न केवा इसके कुत्तों को क्षति पहुँच रही है, बल्कि उसका पुट का विकास अवस्य है। वृक्षों को सोचना चाहिए कि विकास के लिए जमीन से जुड़े रहना, धूप और खूली हवा का भ्रमनते रहना कितना जरूरी है? लोग इस बात का है कि भाषाओं के बाद, देश की सत्ता की शरणदोर चामरि वालों ने भी हस्ता में बने रहने के लिए, उसी नीति का अनुसरण किया। प्राच्य विद्या के अनुसन्धान के निष्कर्षों का राष्ट्र के वर्तमान जीवन से कोई सम्बन्ध है या नहीं बोध करने वाले और इसे सञ्चालित करने वाले दोनों, इस तथ्य से बेखबर हैं। मेरे इलाक से नैतिक युग से लेकर प्राधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य के अस्तित्व में आने के पूर्व तक पारि, प्रकृत और अर्थ में जो साहित्य लिखा गया है और जो प्राधुनिक रूप से सुरक्षित है, उसका वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण और विमलेक्षण जरूरी है, ताकि हम

जान सके कि हमारी शौकिक दुर्गति हीरे एक राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान न बना पाने के क्या कारण हैं ? आध्यात्मिक मुक्ति के लिए राजपाट और वैभव को छोड़ कर फकीरी का जीवन बिताने वालों की खंबी परम्परा के भावपूर्ण देश में भौतिक मूल्यों के प्रति लगाव क्यों है ? महिला और शांति को मजबूत देने वाले इस देश में राजनीतिक हिंसा, सामाजिक प्रभुत्व का भाव लगातार क्यों बंध रहा है । इन प्रश्नों का उत्तर, प्रायोगिक साहित्य में है या नहीं ? यह जानना तभी सम्भव है जब हमारे अध्ययन का दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो और हम सही परिप्रेक्ष्य में चीजों को टटोलना सीखें । अथर्वशा भाषा और साहित्य के क्षेत्र में अभी तक जो अनुसंधान और मूल्यंकन हुआ है । यह परिष्कारत्मक है, सभी सचन और मस्तुपरक अध्ययन होना शक्य है । नीचे, अथर्वशा पर हुए कुछ प्रमुख कार्यों की अनुक्रमणिका दी जा रही है । इस कार्य का प्रारम्भ १७२६ में सर विलियम जोन्स द्वारा स्थापित 'राजस एशियाटिक सोसाइटी' से हुआ ।

- १ १८२८ 'एसे सुर भाषि', बर्नोसक एवं सास्सन ।
- २ १८३३-३६—दी एटिथोलोजिकल स्टडी,
'इंडो यूरोपियन सेन्सेजेज' गैट ।
- ३ १८६१ कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ इंडो यूरोपियन लैंग्वेजेज्
ब्लाइशर ।
- ४ १८६६—संस्कृत प्राकृत छंद साधन
हेनरी टामस कोलब्रुक ।
- ५ १८७२ कंपेरेटिव ग्रामर ऑफ दी इण्डोनेस् लैंग्वेजेज—बी.इस
- ६ १८७४—'मान प्राकृत भाषासरी इनटाइटल पाठ्य ग्रन्थों'
इंडियन एंथ्रोपेट्री ज़िन्स ३, पृ. १६६-६८ ।
दो देशीशब्द संग्रह ऑब् हेमकार, ज़िन्स ३, पृ. १७-२१ बही
डॉ. जे. एच. कुलर ।
- ७ १८७४ ग्रामेटिक्स प्राकृतिकस वॉलन
१८७४, डॉ. रिचर्ड पिगेल ।
- ८ १८७७-८० हेमचन्द्रा ग्रामेथीक ग्रेट प्राकृत ब्राह्मण
[हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण] दो जिल्स : इंग्लैंड ।
- ९ १८८० दी प्राकृत लक्षणात् सुषुट चंदाज ग्रामर ऑफ दी एंथ्रोपेट्री (प्राचीं) प्राकृत ।
डॉ. कथोलक हॉर्नले ।
- १० १८८० ग्रामर ऑफ हिन्दी कम्पेरेटिव विज़ द अदर इंडियन लैंग्वेजेज
डॉ. कथोलक हॉर्नले ।
- ११ १८८० देशीनाममात्रा, रिचर्ड पिगेल (तरमन)
- १२ १९००—ग्रामेटिक देयर प्राकृत ब्राह्मण ग्टात वर्ग ।
रिचर्ड पिगेल

- १३ १९१३—अपभ्रंश एकाङ्किय टु मरुडिय एष्य इतकी प्राकृत,
 १४ जनरल खाद् श्री रायल एशियाटिक सोसाइटी ।
 १५ १९१४—पाटनमा बंदारी घने खात करीनो तेमा रदेलु अपभ्रंश तथा प्राचीन
 नुजराती साहित्य ।

लाइब्रेरी मिसेलेनो

विमल लाल डॉ. ह्युभाई शवाल ।

अपभ्रंश स्टडियन लिपबिग १९३७

लुडविय गाल्सडोर्फ

'वी ओरिजन ऑफ् दी न्यू इंडो इमार्न स्पीचिज' १९३६

लुडविय गाल्सडोर्फ ।

अपभ्रंश प्रकाश १९५१

डॉ. वेवेन्द्र कुमार जैन

अपभ्रंश मेटेरेलियन फूट कोडोस ट्रेस १९३३

लुडविय गाल्सडोर्फ ।

१६ १९२१—पुरानी हिन्दी,

नागरी प्रचारिणी सभा काशी

पं. जन्मदर शर्मा मुलेगे

१७ १९२५—अपभ्रंश भाषा वा. प्र. पत्रिका, भाग ९ अं. १-४

बाबू सत्य जीवन शर्मा

१८ १९२६—आमजबर्गस आन हेमजम्दाव् देसीनाममाला

एल्लस ऑफ् बर्माडाएन्स, एन. रिसर्च ड. पूजा

अर्सेल १९२६ पी. एच. वैश

१९ १९२८ हेमचन्द्र प्राकृत स्थाकरण पुता

पी. एल. वैश

२० १९२८ 'वाहम सद् महापण्यो'

पं. हरगोविन्द दास ।

२१ १९३०—डॉ० फीज डॉम अपभ्रंश

केसव प्रसाद मिश्र

इण्डियन एंटीक्वेटी भाग १९, १.५

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५६, अख्याय १, पृ० ३८७-३८८

२२ १९३०—बेसी भाषा

रायबहादुर हीरालाल

ना० प्र० पत्रिका भाग ११, अंक ४, पृ० ४३९-४४३

१९६९—अपभ्रंश कथा काव्यों का हिंदी प्रसारण काव्य के शिल्प पर प्रभाव
 प्रमथन जैन

- २३ अणभ्रंश और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ
डॉ० देवेश कुमार शास्त्री
भारतीय प्रज्ञापीठ १९७५
- २४ हिन्दी के विकास में अणभ्रंश का योगदान
डॉ० नामवरसिंह
- २५ अणभ्रंश के जैन प्रामाण्यनाक काव्य (१०००-१२००)
डॉ० पारसमल जैन

अणभ्रंश : शोध प्रबन्ध

- १९४४ अणभ्रंश स्टडी :
डॉ० हीरानाथ जैन
- १९४८ हिस्टोरिकल नामर डॉक अणभ्रंश
डॉ० गजानन वासुदेव तगरारे
- १९५३ प्राकृत और अणभ्रंश साहित्य
डॉ० रामसिंह तीमर
- १९५३ सिद्ध साहित्य
डॉ० धर्मवीर भारती
- १९५५ कौतिलता और अणभ्रंश
डॉ० विद्यप्रसाद सिंह
- १९५८ अणभ्रंश भाषा और साहित्य
डॉ० देवेश कुमार जैन
- १९५९ पुरुषदत्त : एक अध्ययन
डॉ० राजकुमार जैन
- १९६२ 'पुरानी हिन्दी और साहित्य के विषय में प्राकृत पैगल का योग'
डॉ० भोजार्थकर श्याम
- १९६२ अणभ्रंश कथा काव्य श्री) बविसमल कहा
डॉ० देवेश कुमार शास्त्री
- १९६१ प्राचीन हिन्दी साहित्य पर जैन साहित्य का प्रभाव
डॉ० धार्यकुमार जैन
- १९६२ 'प्राकृत और अणभ्रंश और उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव'
डॉ० गोवर्धन शर्मा
- १९६२ स्वर्णभू कृत पञ्चमरिच तथा तुलसी कृत रामचरितमानस : एक
तुलनात्मक अध्ययन
डॉ० शोधप्रकाश दीक्षित

- १९६५ अणुश्रवण भाषा का अध्ययन
डॉ० वीरेन्द्र शोभासतव
- १९६३ शब्द चरित्र श्रीर रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन
डॉ० देवेन्द्र नारायण शर्मा
- १९६६ आदिकालीन साहित्य १०००—१४००
डॉ० अशुनाथ पाण्डे
- १९६७ महाकवि पुरुषदत्त एत अणुश्रवण चौएट ऑफ टेंथ सेण्टुरी
डॉ० राजनारायण पाण्डे
- १९६७ अणुश्रवण काव्य में शब्द योजना
डॉ० एन० डी० शर्मा
- १९७१ रघु का साहित्य : आलोचनात्मक अध्ययन
डॉ० राजाराम जैन
- १९६८ एंक्रिटिकल स्टडी ऑफ़ दी लाइफ ऑफ जम्बूसामि ऑन दी बेसिस
ऑफ जम्बूसामिचरित्र ऑफ वीर ।
डॉ० विमल प्रकाश
- १९६८ अणुश्रवण के प्राकृतिक काल्य और उनका हिन्दी के शाब्दात्मक काव्यों
पर प्रभाव (१७वीं तक)
डॉ० मित्रनाथ पाण्डे
- १९६९ हिन्दी में प्रकृत देशी शब्दों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन
डॉ० चन्द्रप्रकाश त्रिपाठी
- १९७० अणुश्रवण के विकास क्रम में पश्चिमी राजस्थानी
डॉ० जगदीश प्रसाद चौबिन्दा
- १९७१ महाकवि स्वयंभू
डॉ० संकटप्रसाद उपाध्याय

प्रकाशित रचनाएँ

‘अविमल कथा’ (डॉ० हरमन जेकोबी १९१२=)

धनपाल

सुनिख रायल प्रकाशनी

सतगुरुमार चरित्र (१९२१) हरिगुरुपुरि

डॉ० हरमन जेकोबी

अविमल कथा—धनपाल

डॉ० सी० डी० दलाल (१९६७)

- १ 'बीदयान और मोहा' (१९१६) १०० पं० हरिप्रसाद शारदा
यंगीय साहित्य परिषद्
- २ कुमारपाल प्रतिबोध, मुनि जिनविजय १९२०
गयाकबाद प्रोविण्टल सिरीज बर्हिदा
- ३ महापुराण (पुष्पदन्त) डॉ० पी० एल० वैद्य
हिन्दी अनुवाद डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन
भारतीय ज्ञानपीठ, बी, ४५१४७-गर्नाट प्लेस, नई दिल्ली ११०००१
- ४ 'पञ्चमचरित्र' (स्वयंभू)
सम्पादन डॉ० ह० च० साठगरी
हिन्दी अनुवाद डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन
भारतीय ज्ञानपीठ
- ५ 'अपभ्रंश काव्यश्री' १९२७ 'जिन्दलसुरि'
पं० जालबन्धु बसवानदासभाभी
- ६ 'ओजिलता' (निष्ठावति) १९२९ डॉ० बभ्रूदाम मणसेना
- ७ यमोदरचरित्र (पुष्पदन्त) १९३१
डॉ० पी० एल० वैद्य
- ८ साधयधम्म बोधा (१९३२) देवदेग
डॉ० हीरालाल जैन
- ९ गणकुमार चरित्र (१९३३)
डॉ० हीरालाल जैन
- १० पाहृष्ट बोधा (१९३३) मुनि रामनिह
डॉ० हीरालाल जैन
- ११ परमात्म प्रकाश एवं योगसाध : 'मोडु' १९३७
डॉ० ए० एन० उपाध्याय
- १२ हिन्दी काव्यधारा (राहुल सांकृत्यायन) (३७-४१)
- १३ प्रबन्ध चिन्तामणि मुनि जिनविजय
- १४ 'सन्देश रागक' मुनि जिनविजय
- १५ 'सद्वृत्तान्त' डॉ० साठगरी
- १६ 'कटफेजचरित्र' (कलकामर) १९७४
डॉ० हीरालाल जैन
- १७ मयण पराजयचरित्र, १९६२
डॉ० हीरालाल जैन
- १८ अम्बुनामि चरित्र 'बीर' १९६५
डॉ० विमल प्रकाश जैन

- १९ खड्गग्रन्थावलि (१९७०)
सं० डॉ० राजाराम जैन
- २० सिरिधाल चरित (तरसेन)
सं० डॉ० वेवेन्द्र कुमार जैन
- २१ 'बद्धनाणुचरित' विपुल श्रीधर
डॉ० राजाराम जैन
- २२ श्रीर जिण्णिदचरित' (पुण्यवन्त)
डॉ० हीरालाल जैन
- २३ 'स्वयंभूच्छन्द' (स्वयंभू)
डॉ० वेलेणकर
- २४ नेमिचरित I II III हरिमद्रसूरि
सं० डॉ० ह० च० भावाण्णी
प्रो० एम० सी० सोधी
- २५ सुमन्ध वसन्ती कथा उदयचन्द्र
सं०.....
- २६ 'विद्यासवईसहा' कवि साधारण
सं०..... (मुनि सिद्धसेनसूरि)
- २७ पद्यमतिचरित 'घाहिल'
सं०.....
- २८ सु'देसणचरित (नमनदी)
डॉ० हीरालाल जैन

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- | | | |
|--------------------------|--|---|
| १ हेम प्रकृत व्याकरण | डॉ० पी. एच. वैद्य | पुना |
| २ अपभ्रंश प्रकाश | डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन | वर्णी ग्रन्थमाला, वरिया
लड्ढा, वारणसी ५ |
| ३ प्राकृत भाषा | डॉ० प्रबोधःपिपित | श्रीनारायणनाथ ढोड संस्थान
घाई, घाई, टी. रोड,
वाराणसी ५ |
| ४ भारत का भाषा सर्वेक्षण | सर जाले गजब्राह्म प्रियसंग
हिन्दी अनुलाप, भाग १ | हिन्दो समिति ग्रन्थमाला
हिन्दी समिति, सूचना
विभाग उ० प्र० |

५ सामान्य भाषा विज्ञान	डॉ० बाबूराम सक्सेना	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
६ हिन्दी के विकास में धर्मशास्त्र का योग	डॉ० नामवाङ्मिह	लोक भारती प्रकाशन दुलाहाबाद
७ पुरानी हिन्दी	पं. चन्द्रधर शर्मा शुक्लेरी	नाभरी प्रचारिणी सभा काशी
८ भाषा विज्ञान पर भाषण	एफ. बैंक्समूलर के. एम. धनुषाद डॉ. ईमचन्द्र जोशी	हिन्दी मन्त्रि सूचना विभाग, लखनऊ
९ हिन्दी साहित्य का इतिहास	प्रा. रामचन्द्र गुप्त	ना. प्र. सभा काशी
१० हिन्दी शब्दानुशासन	किन्नोरीवासः राजपेयी	ना. प्र. सभा, काशी
११ हिन्दी भाषा का विकास	प्रा. देवेन्द्रनाथ शर्मा डॉ. रामदेवी त्रिपाठी	राधाकृष्ण प्रकाशन
१२ हिन्दी शब्दों की विकास कथा	डॉ. देवेन्द्र कुंभार जैन	नीलम प्रकाशन दुलाहाबाद
१३ धर्मशास्त्र भाषा और साहित्य की शोध-श्रुतियाँ	डॉ. देवेन्द्र कुंभार प्याक्त्री	भारतीय जागपीठ
१४ हिन्दी साहित्य का आदिकाल	डॉ. दुजारीनाथ द्विवेदी	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना
१५ पाश्चिमी सद् मूल्यांश	पं. हरमोविहरास त्रिविक्रम सेठ कानकता	

शुद्धि-पत्र

पढ़ने से पहले, पाठक मुद्रण की श्रद्धियां ठीक कर लें।

पृ०	पंक्ति	मद्युद्ध	शुद्ध
१	२	मन्त्र क	मन्त्र के
९	१२	ए (ह्रस्व)	एँ (ह्रस्व)
		घो (ह्रस्व)	घोँ (ह्रस्व)
१०	१३	कञ्ज	कञ्ज
१०	१८	वापार	वावार
१४	६	अन्वयित्वा	अन्वयित्वं
१५	२७	मुद्रहं	मुद्रहं
१७	८	संबंध वाचक प्रत्यय	संबंध वाचक मात्र
१७	१४	भरहुत केरज	भरहुत केरज
१७	३१	द्वंपनद्वयं	द्वं पनद्वयं
१८	६	दा दे दे	दा दे दी।
१९	२३	वीपडा	वीसडा
१९	२४	वडि	वडी
१९	२५	अपणु >	अपणु
२१	२	आपई >	आपई
२१	५	काई >	काई
२२	९	मठारह	मठारह
२३	२०	अड	अड
२४	१५	अटा >	अटा
२५	९	संप्रत्यय >	संप्रत्यय
२६	१६	एउं एउं	एउ।
२७	२५	अपुत	अपुत
२७	२६	मुव	मुव
३१	१४	पदश्रियाबंध	पदश्रियाबंध के
३२	७	धी	धी
३२	३२	दसमें	दसमें

१३	३	बीरसेन		बीरसेन
३९	२४	अब तक		अब तक
४१	६	जसहूर		जसहूर
४१	१९	श्रीचक		श्रीचक
४७	१२	निरदिब		निरदिब
४२	९	आम्बिक		आम्बिक
६०	१२	दुष्कारित	=	दुष्कारित
६४	५	गदसन्ते		गदसन्ते
६४	६	बसन्ते		बसन्ते
६७	१७	घाता	५	घाता
६८	२०	कल्प	५	कल्प
७०	१४	तुह		तुह
७०	१५	मपु		मपु
७१	२	राष	५	राष
७१	७	बिह्वरा	५	बिह्वरा
७५	२८	पेस ब	५	पेस बहै
७८	१८	बलडलज		बलडलज ।
८७	८	देव		देव
८८	८	कडिया		कडियां
८८	२२	पई		पई
९९	३	मई		मई
९९	७	सेवना		सेवना
१०३	१०	का कथन	=	का यद् अथन
१०५	२४	के खंड	=	के एक खंड
१०६	६	धमे		उन्हें
१०६	११	कलना		स्थापना
१०७	३१	लमुका ने		लडकों ने
१२२	१	प्रवृत्ति से	=	प्रवृत्ति से
१२२	२०	दूसरे के	=	दूसरे की ।
१२२	४	शासन से	=	शासन और सेठों से ।
१२२	२२	है		है
१२७	१९	लघुवृत्ति	५	लघुवृत्ति

काठय सङ्कलन :

सरहपात्र

१२९		बाहि उवाले	=	बाहिउ वालें
१२९	६	बगुधर	=	भगु धर
१३०	६	बोव'द; जोजि	=	बोजि
१३०	१०	बिपदी	=	बितइ
१३१	३	तुसद	=	तुसद
१३२	५	चडावड	=	चडावड
१३६	९	सहि-चवेड	=	सीह चवेड

पुष्पसप्त

१३८	७	गारद		गारउ
१३८	८	गोककलित	=	गोककलित ।
१३८	८	दोनूजइ	=	दोनू-जइ ।
१३९	१	बंडवायुवेगं		बंडवाउवेगं ।
१३९	२१	पीवला-शायर	=	पीवलाशायर
१४०	१	रावउ	=	राणउ
१४०	५	ठउ		ठिउ
१४१	२	उडचालुनु	=	उडधारणु
१४१	७	मेहलेहे		मेहल हे ।
१४१	११	मुयंत		मुयंत
१४२	१	कोरध	=	कोण
१४३	३१	महाबल	=	महाबल

धनपात्र

१४४	३	धएवइ		धएवइ
१४४	६	परिधाराविय		परि धोतिव ।
१४४	१३	कलकु		कलकु ।
१४५	१	धूप	=	धूप
१४५	२	इ'दरद	=	इ'वर'द
१४५	९	सरद विगदुद	=	सरदद विगदुद
१४५	२०	बाधार		बाधार
१४६	२६	राउ		राउ

१४७	३	घण्ट	=	घण्ट
१४७	५	कायरह	=	कायरह
१४७	७	सुनोयपरि कृत्यं	=	सुनोयपरिभूयहं ।
१४८	८	राजिय	=	राजिय
१४८	२२	भंड	=	भंड
१४९	१२	एककुस रीक	=	एक-सरीक
१४९	१७	शरखुट्ट	=	शरखुट्ट ।
१५०	१	वट्टव	=	वट्टव
१५२	२५	घनवट	=	घनवट ।
१५६	११	खभे	=	खभे
१५६	१३	नीराजना की	=	स्तवकों से नीराजना की
१६५	२९	अचरो	=	धोर जनो
१६५	४	प्रधान राजा	=	प्रधान
१६५	१७	केजाट	=	केजा टट
१६५	२१	बाश्रमों की बाद कर	=	बाश्रमों की रोक कर
१६५	२३	आराधकों तें मुखों	=	भक्तियों के मुखों
१६५	२८	जलधरो	=	जलधरो
१६६	२०	मुंदर	>	भोम्बर
१६७	१२	निरधय	=	निरधय ही ।

सुगन्धदसकों कथा

१६८	३	मुण्डिद	=	मुण्डिद
१६८	१३	सेणिवरारि	=	सेणिव गुरिद ।
१६८	२०	महलिजजव	=	महलिजजव
१६९	५	धवहोलद	=	धवहोलद
१७०	१७	पहिसकट्ट	=	पहिसु
१७१	१९	बोर	=	बीक
१७१	२२	सेट्टि	=	सेट्टि ।
१७२	२२	मेड	=	पद
१७५	१२	की भी निधान धो जैसे मानो कोमक धरोर आरण करके चन्द्रकला ही उत्पन्न हुई ही ।	=	की भी निधान धो और इस देह के कारण चन्द्रकला के समान धी ।

२४८]

१७५	२०	प्यारी		Delete
१७९	=	अमरति	=	"
विनासवर्द्ध कहा				
१८४	१	शाएवि	=	शाएवि
१८४	१३	इत्थहे		इत्थहे
१८४	२९	बरबई	=	खरबड़
१८५	३०	दुर	=	कटु ।
१९०	२०	भरबड़हि	=	खरबड़हि
१००	१	प्रमाए		प्रमाद
२००	१६	असन्त		अत्यन्त
२०१	२९	मे - लता से..... भरती हुआ,		मधुमास (वसंत) मृगपति (सिंह की तरह) गधपतियों (गजराजों/गजबन्धुओं की) की उद्देग उत्पन्न करता हुआ दीकृता है, लता रूपी पूछ में सुन्दर, पाटल के फूलों से सुन्दर विकसित केशर (अयमल) वाला ।
२०२	१५	देखती थी		देख रही थी
२०८	२९	प्रशंसनी		प्रशंसनीय
२१२	१	भारत		भारत
२१२	६	निवमग		निवमग
२१४	=	समुह से		समुह
२१४	१३	बदर		बंदर

